सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : पाँच

लोकायतन



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु० ५०.००

प्रथम संस्करण : १६७६

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२

मुद्रक : शान प्रिन्टर्स,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

SUMITRANANDAN PANT GRANTHAVALI
Collected works of Shri Sumitranandan Pant

Price Rs 50.00

लोकायतन

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६५]

द्वार सोपान

ज्ञातव्य

'लोकायतन' का श्रीगणेश मैंने ८ अक्तूबर, सन् '५६ को किया था। संयोगवश, यह ८ अक्तूबर, सन् '६३ को ही समाप्त भी हो गया। ग्रामधरा के अंचल में, जन भावना के छन्द में बँधी, युग जीवन की इस भागवत कथा को काव्य प्रेमी पाठकों को भेंट करने में मुझे प्रसन्नता है। युग जीवन के सम्बन्ध में लिखना कठिन होता है, क्योंकि उसके स्तर वर्तमान पीढ़ियों की चेतना के भीतर होते हैं। इसीलिए मैंने कथावस्तु के चयन एवं संयोजन में अत्यन्त संयम से काम लेकर केवल अनिवार्य तत्वों एवं घटनाओं ही का समावेश किया है। गांधीजी के अतिरिक्त इसके शेष पात्र कल्पित होने पर भी उनके द्वारा मेरे कवि जीवन की अनुभूति एवं सत्य को वाणी मिली है। इसके चरित्र केवल मानव चेतना के पालकी वाहक भर हैं। यदि मेरा कवि प्रयास इस संक्रान्ति काल की युग गाथा के भीतर से विकासकामी मानवता के जीवन सत्य की झाँकी प्रस्तुत कर सका तो मैं अपने सृजन श्रम को सफल समझूँगा। शुभमस्तु।

सुमित्रानंदन पंत

द्वितीय संस्करण

लोकायतन का दूसरा संस्करण पाठकों के सामने आ रहा है, इससे मुझे प्रसन्नता है। प्रथम संस्करण के बाद जो आँधी-तूफान या धूल-धुन्ध साहित्य जगत में छाया उसे मैं स्वाभाविक मानता हूँ। क्योंकि लोकायतन की बहिरन्तर संयोजित राग चेतना का रस स्पर्श पाठकों को नहीं प्राप्त है। इस विश्वमुखी राग चेतना का स्पर्श पाना रस की नयी भूमि पर अवतरित होना है, एक नये विश्व का निर्माण करना तथा नये मनुष्य को अपने भीतर जन्म देना है। लोकायतन के लिए शब्द-अर्थ, भाव-बोध, कला-शिल्प आदि की सृष्टि इस जागरण की शती के प्रारम्भ से ही होने लगी थी, वंशी ने उन्हें अपनी अन्तः-रस चेतना का स्पर्श दे जीवन-मूर्त कर दिया।

हिन्दी के विद्वानों तथा आलोचकों ने उसे जिन पिछली मान्यताओं की दृष्टि से समझने की चेष्टा की वे मानदण्ड उसे ग्रहण करने में बिलकुल ही अक्षम तथा असफल रहे। लोकायतन का संघर्ष पिछली अस्मिता और नयी आस्था का संघर्ष है, जो इस युग में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संघर्ष का रूप ग्रहण कर रहा है, और आगे की दृष्टि न होने से हमें पीछे की ओर देखने को; बाध्य करता है। उसे विश्व मानस से विश्व जीवन तथा व्यक्ति मन में अभिव्यक्ति पाने में अनेक जटिलताओं का सामना करना पड़ रहा है।

लोकायतन की रस संस्कृति का धरा-स्वर्ग न वैष्णवों की राग भावना का विकास है जिसके लिए अप्रत्यक्ष सत्ता का आधार आवश्यक है, न कम्यूनिस्ट कम्यून का ही प्रतिरूप है, जो केवल इन्द्रिय-भ्रान्त जीवन का प्रतीक है। न वह सहजिया या पुष्टि मार्गी साधना है, जो आत्मविकास

की वैयक्तिक सम्भावनाओं का पथ है,—ये निष्कर्ष आज के बुद्धि की गलियों में भटके युग के हृदय-दारिद्र्य के प्रमाण हैं। लोकायतन की चेतना अपने ही में पूर्णता की प्रतिनिधि, स्वयं ही साध्य और साधन है, जैसा कि मध्यबिन्दु में कहा भी है, 'प्रभु सृष्टि न रचते, स्वयं सृष्टि बन जाते। निज से ही निज में अभिव्यक्ति वे पाते।' बहिरन्तर अधः-ऊर्ध्व संयोजित होने के कारण वह अपने मे ही विकसित होने की क्षमता रखती है। उसके दर्पण में हमें परात्पर, विश्व तथा व्यक्ति का मुख साथ ही देखने को मिलता है। वह न श्री अरविन्द का अतिमानस तत्व है, न डी० एच० लॉरेंस की प्राणिक मुक्ति का प्रमाद। उसमें ठण्डापन नहीं, अन्तःसाधना की शील सौम्यता है, जो गांधी युग की सविनय अवज्ञा में भी रही।

पूर्व स्मृति में सीता पाताल प्रवेश करने के बाद निश्चेतन स्तर से मनुष्यत्व का निर्माण करने में संलग्न दिखायी गयी है। द्वन्द्व में वंशी अविद्याजनित अभिचार द्वारा उसी निश्चेतन का स्पर्श पाकर विश्व को वस्तु-दृष्टि से समझने की चेष्टा कर, तथा विज्ञान सर्ग में विश्व की साम्प्रत वस्तुस्थिति का व्यापक अध्ययन कर 'उत्क्रान्ति' द्वारा उसका उन्नयन करने का प्रयत्न करता है। स्वयं वंशी को अपनी साधना में बोध-दृष्टि 'मधु-स्पर्श' सर्ग में प्राप्त होती है। 'मध्य बिन्दु' में उसके मन का अन्तश्चैतन्यीकरण (साइकिसाइजेशन) होता है, एवं उसके भीतर नया मानवहृदय जन्म लेता है,—जिसके प्रकाश में वह कलाद्वार में संस्थान द्वारा उस राग चेतना को धरती के जीवन में परिणत करने का प्रयत्न करता है। 'उत्तर स्वप्न' में हमें धरती पर उन्नीत राग चेतना के मानवीकरण का समग्र एवं प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है, जिसमें उच्च आध्यात्मिक उड़ानों तथा व्यापक वैज्ञानिक अनुसन्धानो की गहन सार्थकता निहित है।

मुझे लोकायतन की सामग्री (कथावस्तु तथा अन्तश्चेतना) कैसे प्राप्त हुई, उसमें कौन व्यक्ति, कौन परिस्थितियाँ ऋण-धन रूप में सहायक हुईं, ये दूसरी ही, सम्भवतः अनावश्यक या गौण, बातें हैं। मैं लोकायतन में मानव के योग्य मनुष्यत्व को कहाँ तक जीवन-मूर्त कर सका या धरा-स्वर्ग में जीवन-ईश्वर को प्रतिष्ठित कर सका—यही इस भावी लोककाव्य के अध्ययन का विषय एवं प्रतिपाद्य है। वैसे पाठक अपनी पिछली अपूर्ण मान्यताओ सम्बन्धी पूर्वाग्रह को तथा वर्तमान जीवन की कुण्ठाओं को छोड़कर यदि लोकायतन का अध्ययन करना चाहें तो उन्हें निश्चित रूप से उसके अमृत कनक घट में संचित राग चेतना का अनघ रस-स्पर्श मिल सकेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। क्योंकि वह सत्य ही नहीं, वास्तविकता भी है।

मैंने संक्षेप में ही तत्व विवेचन करना उचित समझा क्योंकि यदि मैं सौ पृष्ठों की भूमिका लिखकर भी इस नवीन जीवन संचरण का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता तो वह व्यर्थ ही होता—लोकायतन का रस तत्व बुद्धि-ग्राह्य न होकर हृदय ग्राह्य है। शुभमस्तु—

१५-११-७६ सुमित्रानंदन पंत

प्रथम खण्ड
बाह्य परिवेश

तुम्हें सौंपती, लो, यह कनक अमृत घट,
नर नारी के रस मंगल से पूरित,
प्रकृति पुरुष की शुभ्र प्रीति का पावक
सावधान, बन जाये न विष जन भू हित !

पूर्व स्मृति : आस्था

वागर्थादि, अमर कवि गिरे, प्रणाम,
जयति, पार्वती - परमेश्वर - प्रिय राम !

वाणी, शुभ्र नितम्बमयी वीणा पर
बरसाओ चित्पावक कण स्वर्णिम स्वर,
मुक्त कल्पना हंस लोक मानस में
खोले शोभा - पंख - दिगन्त अगोचर !

प्राण सलिल में हृदय कमल पर शोभित
स्वयं प्रमे, सित भाव रूप, अन्तःस्थित
ध्यान मौन तन्मयता में तुम करती
अर्थोन्मुख अव्यक्त सत्य स्वर - व्यंजित !

जिसकी भूमा - वीणा के ककुभों - से
प्रणव-युगल नित प्रकृति - पुरुष से योजित,
स्थूल सूक्ष्म, जड़ चेतन झंकारों से
जन - भू पथ रखते नव जीवन कूजित !

परब्रह्म से नाद ब्रह्ममयि, शतमुख
ध्वनि रस की स्वर गरिमाओं में गुंजित,
रचो मंगलायतन, लोक कल्याणी,
निज समग्रता मे असीम से प्रेरित !

जिस गति मे बँध बने सूर्य तेजोज्ज्वल
रजत चन्द्र घट हुए अमृत रस पूरित,
उस लय मे बांधो कवि उर तन्त्री को
परम शक्ति जिस गति-लय मे आत्मस्थित !

नव्य कल्प का आदि काव्य यह अनगढ
वन्य कला - मृदु फूल शूल सँग गुम्फित,
सिंह - नाद, कोकिल स्वर - पावक व्यंजक
सर्व भू-मानव चरणो पर रस अर्पित !

शब्द रत्न वह कौन ? वर्णमाला का
ज्योति - तरल, उर में श्रद्धा - गुण दोलित,
नाम - नींव ध्रुव, रूप-हर्म्य जिस पर स्थित
नव कल्पों मे नवल गुणों में विकसित !
मानव उर, युग सागर का मन्थन कर
नव रत्नों से करो ज्ञान पथ दीपित,
दूर, पूर्व पश्चिम के दिग् छोरों पर
इन्द्रधनुष स्मित प्रीति सेतु कर विरचित !
भारत चेतस् को कर लोक समन्वित
भू - जीवन की ओर करो रत, अ - विरत,
वह विरक्त, जीवन निषेध विष मूर्छित,
जाति पाँति, मृत रूढ़ि रीति से थी - हत !
पर - भाषा, पर - संस्कृति ओढ़े युग से,
अन्तर - गौरव - शून्य, सिद्ध शुक पण्डित,
मनोयन्त्र निष्क्रिय, पर - धी संचय प्रिय,
बहिरन्तर के दैन्यों में शत खण्डित !
स्वर्ण सूत्र में, कविते, गूँथो जन मन
युग वाणी में नव मानस कर निर्मित,
हो कृतार्थ जन जीवन मन का अनुभव
निज भाषा में भाव - कोष पा अतुलित !
जग जीवन के तत्त्वो को चुन धुन कर
प्रमुख वृत्तियो की पूनी कर निर्मित,
कथा सूत्र बँट, बुनो लोक जीवन पट,
मानव उर कर नव भू गरिमा मण्डित !
छन्द ग्रथित कर खण्ड धरा मानस को
जीवन रचना करो, तन्त्र में नूतन,
शतियों के मृत संस्कारों से मर्दित
पृष्ठ वंश हो मानव का नव चेतन !
जिसको बेधा ऊर्ध्व - प्राण - शर हर ने,
स्मर ने सहज नवाया मधु सायक धर,
जिसे राम ने उभय छोर अतिक्रम कर
किया प्रीति - नत धरा चेतना को वर !
मनुज मेरु को परिवादिनी बनाकर
सप्त तार कर सप्त लोक के झंकृत,
अभिनव स्वर लिपि रचो विश्व जीवन की
प्राण, अनाहत पर रह स्वतः प्रतिष्ठित !
रश्मि करों से छू उर के तारों को
पद्म पद्म पर कर तन्द्रिल अलि मुखरित,
अन्तः सुख स्पर्शों से अमृत स्फुरण भर
लोक चक्र में करो स्वर्ग मधु संचित !
कैसे कह दूँ इड़ा लुब्ध युग मनु से
श्रद्धा संग वह करे मेरु - नग रोहण

आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन भू-पथ पर करना सक्रिय विचरण !
आज, सर्प-मुख से मणि छीन,—अधोमुख
अवचेतन पथ करो, चेतने, ज्योतित,
चित्रकूट से नीचे धरा कुहर में
उतर, अचेतन तिमिर जहाँ चिर निद्रित !
उटज गुहा में कौन वहाँ अन्तः स्मित
स्वर्ग शिखा-सी भेद रही पर्वत तम,
यह निश्चेतन भुवन धरा मानस का
अगणित सर्पों-सा गुम्फित भव गति क्रम !
यहाँ शेष शय्या पर धरती सोई,
कालिय कुण्डल से वेष्टित इन्द्रासन,—
स्वर्ग शुनी, लो, मूक ऊर्ध्वमुख, युग के
कवि का करती पूँछ हिला अभिवादन !
कौन मौन वह ? अपलक, पूर्व स्मृति-सी,
सृष्टि स्वप्न-सी निशि पलकों पर अंकित,
अमा निर्वतित प्रतिपत् शशि लेखा-सी
सत्य-मूल नव आस्था अंकुर सी-सित !
लोक प्रीति में मूर्तित तन्मयता-सी,
आदि शक्ति-सी, नित नव, स्वयं प्रकाशित,
सुरधनु पट में लिपटी शुभ्र किरण-सी
कौन ज्योति शाश्वत निशीथ मे जागृत !
भू घट की चेतना सुधा धारा-सी
तन मन प्राणों के भुवनों मे वितरित,
नील शून्य में पद रज हरित धरा को
सप्त सिन्धु जल से रखती जो सिंचित !
अप्रकेत तम ! ज्योति शिरा-सी पैठी
अन्ध गहनताओं को करने दीपित,
जड़ से जीवन में, जीवन से मन में
विकसित करने निज चैतन्य अपरिमित !
अन्धकार के निविड मंच पर जैसे
चन्द्रकला रह सकती नही तिरस्कृत,
शत ऊषाओं, शत सुरधनु वृत्तों से
आवृत-सी वह, करती दृष्टि चमत्कृत !

ध्यान मग्न, अनिमेष, मौन, नत चितवन,
नील कमल दल मुँदते जाते प्रतिपल,
युग सन्ध्या के घने सुनहले तम-से
कन्धों पर लहरायें कोमल कुन्तल !
पूर्ण चन्द्र मुख, गत भू जीवन लाछन
भाल मुकुर पर शोभित बन स्मृति कज्जल,

युग प्रभात - सी, अर्द्ध खुले क्षितिजों पर
ज्योति - रेख मानस की स्मिति मुक्तोज्ज्वल !
शुभ्र पयोधर, प्रीति सिन्धु शिखरों - से
स्वर्ग मर्त्य के मधु उभार - से स्पन्दित,
जीवन मूल्यों की अमूल्य मणियों से
वक्ष हार अक्षय प्रकाश से मण्डित !
रागोज्ज्वल कंचुक चम्पक देही में
शरद उषा लिपटी हो हिम शिखरों पर,
पीत क्षौम का मसृण भार अंसों से
झरता स्वर्णिम ज्योत्स्ना का - सा निर्झर !
बाहु लताओं मे वह सहज समेटे
भू जीवन की करुणा ममता निःस्वर,
प्रेम गौर हो डोर, छोर युग हों भुज
राग सूत्र मृदु कर - मुख, स्पर्श मनोहर !
मोड़ सुघर घुटने, बैठी वह निश्चल,
शुभ्र श्रोणि जघनों से धन्य कुशासन,
कनक कौश पट बाँधे कृश कटि तट पर
धरे, चिबुक करतल पर, स्थिर नत आनन !
स्वर्ण हरित मखमली शस्य से आवृत
अधोभाग,—भू के प्राणों का जीवन,
धरती की हो हरी ज्वाल में लिपटा
गन्ध मरन्द सना अनन्त मधु यौवन !
मर्त्य शूल पदतल छू, फूलों में हँस,
लोट रहे चरणों पर बन कल पायल,
धरा स्वर्ग की उपमा - सी वह जीवित,
भावी मधु - शरदों से सुरभित आँचल !

चिन्तनपर मुख, वाष्प-द्रवित शशि मण्डल,—
सुलग उठे हों स्मृति मे पावक के क्षण,
घूम रहा स्थिर नयनों में सरयू तट
गूँज रहा श्रवणो में दारुण रथ स्वन !
वह सुमन्त्र क्या ? एँ, रोते क्यो देवर ?
परित्याग ? परिहास मत करो जड़ मन !
वन क्रन्दन सुन रुका शिखी का नर्तन,
भूल गये तृण चरना स्तम्भित मृगगण !
मूर्तिमती पृथ्वी की करुणा - सी वह
गिरी विमूर्छित, व्यथा मथित, वज्राहत,
आत्म बोध जब जगा, दैव द्रष्टा मुनि
करते थे बाल्मीकि स्नेह से स्वागत !
अनघे, तुम निर्दोष, ज्ञात रघुवर को,
पूतयोनि, रटते तरु मृग, खग गिरि वन,

अन्ध, अविकसित, संशय - रत जन - भू मन,
अविश्वास ही धरा - नरक का कारण!

जनरव भय से राघव ने पत्नी को,
छोड़ा था क्या? कथा पुरातन रे यह,
आयी थी वह अग्नि परीक्षा देने,
जन - भू का दुस्स भार झेलने दुःसह!

यह इतिहास न हो तथ्यों पर कल्पित,
भारत भू मानस का सत्य सनातन,
देश काल पुलिनों को रहा डुबाता,
यहाँ चेतना के जीवन का प्लावन!

राम राज्य की रानी थी जन सेवा,
राजा भी करता जन - मत का पालन,
क्रौंच शोक के पुण्य - श्लोक कवि ऋषि के
तमसा तट आश्रम में अब वह पावन!

सहसा स्फुरित हुआ स्मृति पट पर,—कैसे
धरा गर्भ में वह सन्तप्त समायी,—
लोक कार्य करना था उसको गोपन
अवचेतन में रही तमिस्रा छायी!

मर्त्य दैन्य पीठिका स्वर्ग जीवन की,
रह न सकेगी ज्योति तिमिर में गुण्ठित,
संशयशील स्वभाव धरा की रज का
श्री स्वर्णिम आस्था में होगा कुसुमित!

स्पर्श चेतना - कर का पा करुणोज्ज्वल
चिर विकास पथ में जन धरणी का तम,
राग द्वेष, हिंसा स्पर्द्धा, संघर्षण
भू जीवन अरुणोदय के लघु उपक्रम!

उसे स्मरण था, कैसे निर्वासन सुन
विहँसा आत्म प्रबुद्ध गुह्य उसका मन,
जल - जलार्द्रता से जो नित्य अखण्डित
उन्हें विलग कर सकते कब भंगुर क्षण?

उदय हृदय में हुए राम पुरुषोत्तम,
दीप्त नीलमणि पर्वत - से दृग् मोहन,
बोले, विचलित - सी लगती तुम, सीते,
भूलो बीती को, गत वृत्त समापन!

मृत संस्कारों का उपचेतन भू - मन,
चिर अनादि - जड़ चेतन का संघर्षण,
नव प्रकाश में गढ़ना तुम्हें धरा - मुख,
भावी मानव के सम्मुख भीषण रण!

चेतन ही जड़, जड़ ही चेतन, जीवन, -
बूझ न पाती सूक्ष्म तत्त्व तार्किक मति,
मन ही बाहर स्थिति, स्थिति ही भीतर मन,
ह्रास विकासमयी गुण की गति, परिणति!

राज्य तन्त्र का सूर्य क्षितिज में ओझल,
राम राज्य था कृषि - मन का युग दर्पण,
गत युग के जीवन मन के संचय को
जगद्धात्रि, लो, करता तुम्हें समर्पण !
देखोगी तुम लोकतन्त्र स्वर्णोदय,
मानव जीवन मूल्यों का नव वितरण,
नये कल्प की प्रसव व्यथा पृथ्वी की,
छिड़ा निखिल जग में बाहर भीतर रण !
रहा मनोमय - पुरुष रूप वह मेरा
कृषि युग की मर्यादा से निर्धारित,
खेत इकाई था, कुटुम्ब का जीवन
जिसकी जड़ सीमा पर था आधारित !
धर्म नीति, संस्कृति विचार, विधि दर्शन,
विविध शास्त्र, बहु यज्ञ, नियम व्रत साधन,
शासन पद्धति, चतुर्वर्ण चतुराश्रम
अर्पित तुमको गत गुण कर्म विभाजन !
हँसी जानकी,—राम, तत्त्व ज्ञाता तुम,
स्वीकृत मुझको यह सर्वस्व समर्पण,
नाम रूप गुण से अतीत स्थित मुझमें
बनो पुनः, प्रिय, नये कल्प के दर्पण !
अवचनीय अयुगलता, प्रेम, हमारी
नहीं समझता भेद बुद्धि रत जन मन,
वही जानता, जिसे जनाते, प्रिय, तुम
गुह्य रहस्य परम वह, कहते धी - जन !
प्रभु सोये थे जगे, कौन कह सकता ?
जगे परम यदि, मुझमें जगे असंशय,
देखी मुझमें ही निज महिमा गरिमा,—
भाव रूप लीला भर शेष,—न विस्मय !
पुरुषोत्तम सौवर्ण राम, नव रवि - से
विश्व क्षितिज पर पुनः परम श्री शोभित,
चित् सलिलों में फुल्ल सूक्ष्म मधुरस मय
स्वर्णिम भू हृत् - कमल मौन दिक् प्रहसित !
तुम अनन्त चैतन्यों के मणि पर्वत
शत शत सुरधनु आभाओं से मण्डित,
भगवत् करुणा के कोमल मरकत घन,
जन - भू दुख से उर मुक्ता - जल विगलित !
सौम्य, चाप - शर हीन, खड़े दृग सम्मुख,
आँखों को नव विश्व रूप देता सुख,
जन समूह में श्रम - प्रिय साधारण - से
देख रही तुम में, नव मानव का मुख !
राजा थे तब, सर्व एक मे पूजित,
लोक तन्त्र अब, सब में सहज प्रजाजन,

बँधा चेतना मुकुल एक मुख था जो
आज खिल उठा वह, सहस्र दल बहु बन !
विश्व रूप भगवत् सागर तुम जन प्रिय,
वृत्त छोर भर जिसके व्यक्ति परात्पर
अभिव्यक्ति पाता तुम में जग जीवन
भाव लहरियों में उच्छ्वसित निरन्तर !

सच कहती तुम बोध - स्वरूपे, सीते,
विश्व रूप ही में होता मैं विकसित
लोक कर्म में रत अजस्र जो मानस
वे जीवन - शिल्पी मेरे प्रिय जन नित !
मध्य युगों से विरत, शून्य में खोये
मनुज खोजते मुक्ति कर्म बन्धन से,
सर्व मुक्ति ही व्यक्ति मुक्ति, मेरा मत,
प्राप्त सतत जो विश्व - यज्ञ साधन से !
भव विभीत जन, जन्म मरण से पीडित,
मूढ, मुण्ड - मत, व्यक्ति - परक, जीवन - मृत,
विमुख वृहत् सामाजिक जीवन के प्रति
कर्म भूमि मे रह सकते कब जीवित !
परम तत्व अद्वैत हमारा अविगत
जहाँ दृष्टि मति वृत्ति न वाणी जाती,
अपने को मैं, प्रिये, देखता तुममे
तुम अपने को मुझमें केन्द्रित पाती !
अविज्ञेय का बोध न मन से सम्भव
नेति बुद्धि की खोज, अनिर्वच अद्वय,
पूर्ण समर्पण कर जीवन मन तुमको
जन - भू रचना करें लोक गण निर्भय !
तुम्हें करें नित व्यक्त विश्व जीवन में
प्रति युग मे भू स्वर्ग बने सुन्दरतर,
देवि, तुम्हारे ही शत कर - पद सुर - नर
सृजन कर्म जन तुम पर करें निछावर !
अमिट अभीप्सा तुम श्रम - रत भू - मन की
जिसकी स्वर्णिम पूर्ति लोक रूपान्तर,
मैं निमित्त - भर, तुम्हीं अविद्या विद्या,
जिसमें सोते जगते निखिल चराचर !
दिये नये साधन तुमने भू जन को
विश्व क्षितिज पर हँसता स्वर्ण युगान्तर,
सफल तुम्हारी महत् साधना, सीते,
जड़ भू - तम विज्ञान - रश्मि से भास्वर !
प्रिये, अचेतन में प्रवेश कर तुमने,
दी वैज्ञानिक दृष्टि अन्ध भू - मन ;

लोकायतन /

जड़ जग का विश्लेषण कर देखें नर
एक शक्ति शासित करती त्रिभुवन को!
युग-युग से निष्क्रिय जड़ भू जीवन स्थिति
हुई विश्व-सक्रिय पा नव संजीवन,
युक्त प्रकृति बल से अब भौतिक मानव
नये स्वर्ण युग मे कर रहा पदार्पण!
ध्वंस न ढा दे, वह लघु स्वार्थों में रत
अणु बल का कर धरणी पर आवाहन,
भेद-बुद्धि पर जय न पा सका भू-मन
विश्व ऐक्य ही सृजन-मुक्ति का साधन!
निखर रही मन के सागर से धरती
देशों के खण्डों मे राष्ट्र विभाजित,
शुभ्र सुनहले सम्बन्धों पर निर्मित
नव मानवता धरा-स्वर्ग पर स्थापित!
अन्तश्चेतन वर्तमान जो, प्रेयसि,
भू स्तर पर वह भावी मे सम्पादित,
भगवत् क्षण मे महत् कर्म घटते नित,
ब्रह्म दिवस होता कल्पों में साधित!
देख रहा मैं मनश्चक्षु के सम्मुख
जन भविष्य का स्वप्न तुम्हारा उज्ज्वल,
चूम रहा नत स्वर्ग मुग्ध भू पद तल,
विहँस रही जड़िमा बन चेतन मंगल!
नयी चेतना सुधा प्रीति-स्वर्णिम तुम
नयी पात्रता देनी अब जन मन को,
आत्मा इन्द्रिय बीच भेद तम भ्रम हर
स्वीकृति देनी पूर्ण जगत जीवन को!
आदि शक्ति, अंसों से स्वर्णांचल-सा
झरता काल प्रवाह अकूल तरंगित,
धूपछाँह सूत्रों में मानव जग का
क्रम विकास लीला विलास मे गुम्फित!
मूल प्रकृति तुम, धरा योनि में धँसकर
अनघ-विद्ध रह, मुक्त-प्रीति, आत्मस्थित,
करुणा स्पर्शों से जड़ भू-मानस के
अन्ध स्तरों को करती रही प्रकाशित!
बदल रही तुम, बदल रहा तुम मे जग,
निर्विकल्प भूमिजा तत्वतः निश्चित,
भाव-बोध, आचार-विचार पुरातन
नव भू जीवन-प्रतिमा में नव सजित!
खोल रही तुम गत सज्जा रुचि मण्डन,
मुक्त हो रहे मृत मर्यादा-बन्धन,
तुम अरूप, नव युग दर्पण मे बिम्बित
ज्ञात मर्म द्रष्टा-कवि-ऋषि को गोपन!

तुम्हे समझना चाहे यदि भू जन मन
तद्गत,—व्यक्त जगत को कर दे विस्मृत,—
देखे मुझमें, देश-काल से पर तुम
नाम रूप गुण, देश-काल में भी स्थित !
ध्यान लीन उर में ज्यों भगवत् करुणा
इष्ट रूप धर होती सहज उपस्थित,
उदित हो रही तुम अन्तः शिखरों पर
सुमुखि, उषा-सी, नव सुषमा में मण्डित !
जन आशा की संजीवनी लता में
अग्नि प्ररोह खिला हो कनक तपोज्ज्वल,
देख रहा, तुम धरा कक्ष के तम में
चन्द्र कला - सी उग बरसाती मंगल !
चन्द्र कला क्या सही ? पार्श्व मुख शोभा
अभिनव आभा रेखाओं में अंकित,
फूलों का प्रिय धनुप खिंचा तनु छवि का,
मर्म भिगोते रस के शर मधु विरचित !

लो, ये अनुज वधू छाया-से पीछे,
लक्ष्मण, सीता, राम,—पूर्ण रामायण,
चक्र भरत, आदर्श महत् कृषि युग के,
मा कैकेयी कटु सापत्न्य निदर्शन !
दो माताओं के प्रतिनिधि हम भ्राता
हनुमत् प्राणों के अजेय पौरुष कण,
पिता सत्यव्रत नृप, विदेह मानस स्थिति,
निशिचर, वनचर युग के क्रूर समापन !
अहं वृत्ति रावण, लंका दुर्मति गढ़,
विषय वप्र, बन्दी चिति इन्द्रिय वन में,
मुक्त हुई तुम, मिटा अविद्या भय तम,
हनुमत् प्रेरित जगी चेतना जन में !
प्रति युग की निर्मम विकास सीमाएँ
भगवत् सत्ता होती सदसत् खण्डित,
मुझे मारना पड़ा रक्त विप दशमुख
तुम्हें हृदय परिवर्तन जन का स्वीकृत !
सोने का मृग रहा मूक नारी के
मन से पावन रज तन का मूल्यांकन,
लक्ष्मण रेखा सीमा घर आंगन की,
लीक लाँघना लोक दृष्टि का लांछन !
धनुप भंग थी विगत सांस्कृतिक घटना
युग-युग से बिछुड़े थे दक्षिण-उत्तर,
रुद्र विष्णु का शिव में हुआ समन्वय,
गला शिला उर, हुई अहल्या उर्वर !

सीता जन भू हृदय, राम जन के बल
नर चरित्र धर, मानस पात्र अनश्वर
प्रीति प्रणत लक्ष्मण अनन्त पौरुष बल,
शील मूर्ति ऊर्मिला विरह रस गागर !
यह रूपक संक्षिप्त, प्रिये, गत युग का,
काल चक्र हो रहा कल्प-परिवर्तित,
मूक ऊर्मिला के सहृदय आँचल में
नव युग स्वप्न करो तुम लीला गुम्फित !
त्याग शुभ्र ऊर्मिला स्फटिक रस पात्री,
स्नेह दुग्ध घट सौम्य सुमित्रानन्दन,
सृष्टि मंच की निरुपम नटी, प्रिये तुम,
रचो भूमिका मानवता की नूतन !
अनघे, तुम्हीं धरा निशीथ में घुसकर
जड को चित् में कर सकती युग दीपित,
नयी ज्योति में देख रहा अब तुमको
तुममें भावी जन-भू मंगल मूर्तित !
प्रिये, दाशरथि वैदेही ही क्या हम ?
परब्रह्म मैं, पराशक्ति तुम सुविदित,
सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वगत, शाश्वत,
बहुरूपो मे भी हम एक अखण्डित !

सहसा उज्ज्वल इन्द्रधनुप मण्डल स्मित
नील मध्य चित्-रश्मि व्यूह दिक् स्फूर्जित
प्रकट हुआ अभिनव श्री सूक्ष्माकृति में
स्वर्ण शुभ्र हो नयी चेतना शोभित !
दिव्य रन्ध्र से हुए राम अन्तर्हित,—
बोले लक्ष्मण, पुलकित अपलक लोचन,
मुझे तुम्हीं सर्वत्र दीखती, जीजी,
धन्य आज का अन्तर्दर्शन का क्षण !
स्वर्णिम छाया-सा भुवनों का जीवन
रजत चेतना पट मे हो चल चित्रित,—
तुम आद्यन्त रहित, अनन्त जगधात्री,
बिन्दु बिन्दु में अगणित सिन्धु तरंगित !
चिन्मुक्ता तुम, अमृत प्रीति अणु,—जिसमे
ये असंख्य ब्रह्माण्ड लोक ग्रह प्रसरित,
दिशा काल, नीलिमा, सिन्धु जल, पावक,
हरित धरा रेशमी समीरण परिवृत !
ऊपर ज्योति अरूप, अन्ध नीचे तम,
रश्मि सेतु दिव में शत अज हरि हर स्थित,
जड़ से तृण, कृमि, खग, पशु, नर, सुर वर तक
छहरा दीप्त सृजन सोपान अपरिमित !

जहाँ अगोचर तुम, सापेक्ष जगत के
वहीं दुःख सुख, पाप पुण्य, आभा तम,—
चिदानन्द रस की लय में बँध जाते
तुम में कर भव-द्वन्द्व भेद निज अतिक्रम !

मन से ही जाना जन ने जीवन को,
प्राणों से छू, भोगा तन में सुख दुख,
भेद न पाये भव का भगवत् आशय,
चीन्ह न पाये चित् प्रकाश में भू-मुख !

तुम्हीं अचेतन जड़ में, देवि, निर्वतित,
प्राणों में प्रहसित, मानस में दीपित,
हृदय कमल में स्थित, आत्मा में केन्द्रित,
युग-युग में चैतन्य ज्योति में विकसित !

कनक शुभ्र तुम, सतरँग-प्रभ सीपी में
हँसता हो स्वर्णोज्ज्वल सित मुक्ताफल,
हरित स्वर्ण, स्मित पारिजात पुष्पों से
शोभित हो वन श्री का मरकत करतल !

ज्ञात तुम्हें मन के रहस्य सब, भाभी,
ऊर्मि सहित लक्ष्मण का जीवन अर्पित,
सम्मोहन वश जीवन उन्मुख जन मन,
यन्त्र मात्र हम, प्रीति श्वास से जीवित !

चिन्तित हो उठता रह-रह मेरा मन—
कभी स्वर्ग होगा क्या यह भू जीवन ?
जहाँ छोड़ आये थे हम भू-मन को
वहीं पड़ा वह,—कल्प न बीते हों क्षण !

वही स्वार्थ, कटु-राग-द्वेष जन-मन में,
दुःख दैन्य, स्पर्द्धा, हिंसा, पर-लांछन
काम, क्रोध मद, लोभ मोह, भय संशय,
सावधान करते जिनके प्रति बुधजन !

एकांगी भौतिक गति से भय जग को
जुटते भीषण अणु विनाश के साधन,
बँटा विपक्षी शिविरों में स्थापित बल,—
जीवन सुख-सर्जन बनता संघर्षण !

कभी महत् युग - मूल्यांकन में निश्चित
बाह्य नहीं अन्तर्प्रकाश में निर्मित,
इह पर, स्वर्ग नरक भय में खण्डित जन,
भौतिक आध्यात्मिक जग में न समन्वित !

नहीं जानता, विधि को क्या कुछ स्वीकृत
एक रोग के सौ निदान जन सम्मुख,
महा मरण फन खोले फण मणि जन युग
विषम न हो जाये भव-व्याधि,—मुझे दुख !

धीर वीर मेरे प्रिय देवर लक्ष्मण,
ज्ञात मुझे, वे जीवन गति से परिचित,

उन्हें सालता जन मन का घायल दुख
उनके स्वर मे मेरा आशय मुखरित !

कर्म क्षेत्र भू जीवन, जिसका गुण मन,
सूक्ष्म निरीक्षक यन्त्र, नही संचालक,
कर्म चेतना के प्रकाश मे जन को
गढने नव आदर्श क्षेम-सुख पालक !

गत मर्यादाएँ भी थी कृति दर्पण
जिनमे बिम्बित था कृषि जीवन का मुख,
जकड़े हुई मनुज आत्मा को पिछली
छायाएँ, मृत भाव बोध, स्मृति सुख दुख !

भावों की नावों पर पार न होगी
दिशा शून्य जन भावी भव सागर पर,
प्रबल ज्वार उठ रहा लोक जीवन में
कर्म-पूर भू-गर्तों को देगा भर !

भाव कर्म में जहाँ सन्तुलन हो ध्रुव
वहाँ दिशा मैं करती नित संचालित,
स्थूल सूक्ष्म, जड़ चेतन धर्मों मे ही
करती जीवन में समग्रता स्थापित !

काल कराल खड़ा जग के सिरहाने
झूल विपद् में पेंग भरेगी भव गति,
वैर भुलायेंगे सम छल बल के अरि
अति संकट में जग उठती सोयी मति !

अन्तरतम की आस्था मैं भू मन की
युद्ध शान्ति में शान्ति चुनेगा जन मन,
दनुज ध्वंस से मनुज सृजन होगा प्रिय,
मरघट से प्रिय स्त्री-शिशु स्मित घर आँगन !

उबल रहा विद्रोह, ऊर्मिला बोली,
जीजी, कब से मेरे उर में गोपन,
जैसा यह कहते, भू जीवन का जन
आँक न पाये मूल्य,—व्यर्थ युग दर्शन !

भगवत् जीवन भू जीवन में कब से
भित्ति खडी दुर्बोध भेद की दुर्गम,
बन्ध्या भू सींची हमने प्राणो से
बालू में बोये जप तप व्रत संयम !

शोध सत्य परिणाम रहे दिग् भ्रामक,
तत्त्व नित्य, उपयोग अलीक, असंगत,—
मूर्त न कर पाये जीवन में उसको
मन जिसको पा रहा ध्यान मे तद्गत !

धुनते आये गत संस्कारों का मन
उसे मान युग-युग से सत्य सनातन,
बुन न सके जन धरा-स्वर्ग जीवन पट,
बट न सका सूत्रो में वाष्पों का घन !

महा-ह्रास छा जाय न विघटित भू पर
उबर न पाये शतियों तक मानव मन,—
सावधान करने आया मैं जन को
देख जगत पर घिरे घोर संकट घन!
आज्ञा हो, सन्देश जगद्धात्री का
एक बार फिर दूँ, जीवन मंगल हित,—
धन्य, आदि कवि, कहा मुग्ध लक्ष्मण ने,
विश्व क्रान्ति यह, नया कल्प हो मुखरित!
बोले मुनि, सब दया दृष्टि से सम्भव,
जननि चेतना मूर्ति, चरण ध्वनि कवि-स्वर,—
जन मन में कुन्देन्दु शुभ्र वाणी में
नव स्वरूप धर, नव आस्था का दें वर!
पद रज में, विद्या वैभव पद वंचित,
काव्य कला अनभिज्ञ, भाव रस विरहित,
असन्तुष्ट जग से, जन से, जीवन से,
कवि पीड़ा करता चरणों पर अर्पित!
भूत भविष्यत् वर्तमान के तम में
देख सकूँ मानव का श्री-नव आनन,
स्वप्नों की निधि से गढ़ सकूँ धरा-मन
अन्तर-आभा का जो शोभा दर्पण!
तृण-खर मेरे शब्द, नीड़ युग-गायन
लोक शाल की हृदय डाल पर निर्मित,
फूट प्राण पिक के रस स्वर, जन मन को
करें अलौकिक धरा-प्रीति से मुखरित!
कहा द्रवित सीता ने, मनोगुहा से
देव अभी निकले तप से तेजोमय,
अन्तर्द्रष्टा, नव युग गति से परिचित,
हरें धरा तम, मिटे ध्वंस भय, संशय!
आज बाह्य-पट परिवर्तन के सँग ही
अन्तर्मन हो रहा ज्योति दल प्रहसित,
भेद-बुद्धि-गत द्वन्द्व लाँघ भू-पथ के
स्वर्ग मर्त्य हो रहे प्रथम संयोजित!
तन मन के नैतिक तट कर रस मज्जित
चित् प्रकाश का झरता स्वर्णिम निर्झर,
भव चैतन्य सरोवर का स्मित शतदल
प्रेम मूर्त आनन्द, प्रस्फुटित भीतर!
देव मनुज पशु का नव रूपान्तर कर
आप व्यास बन गायें जन युग का जय,
नव युग के वाल्मीकि, निकल बाँबी से,
गढ़ें छन्द में चिन्मूल्यों का आशय!
महत् अनुग्रह! युद्ध नद्ध जग को मैं
शान्ति मन्त्र दूँगा, जन मत कर संचित,

ललकारूँगा रण भू पर जन अरि को
क्रूर वृत्ति को चिता, मर्म कर दंशित !
लोक जुगुप्सा के बन लक्ष्य अवांछित
रक्त-तृष्ण नर-हिंसक होंगे पद-नत,
धरा घृणा से थूकेगी जब मुख पर
दशमुख भी तब होंगे लज्जित, श्री-हत !
डाकू से कवि बना क्रौंच करुणा वश,
ज्ञात क्षुद्रता विकृति मुझे जीवन की,
अन्ध स्वार्थ की काम गुह्य गलियों मे
ज्योति भटकती पग पग पर भू-मन की !
खादी के पट में लपेट मैं जन को
सन्धि-पत्र दूँगा,—श्रम-मूल्य समन्वित,
विक्रय-स्पर्धा रहित यन्त्र युग का श्रम
खादी - सा ही हो पावन, जन-आदृत !
सन्धि नियम होंगे, भू पर सह-जीवन,
रचना-श्रम का वरण, लोक-क्षय वर्जन,
मगल उर पात्रो मे भर दूँगा मैं
धरा दुग्ध का शुभ्र अहिंसा माखन !
बँधे प्रीति के स्वर्ण सूत्र में भू-मन
एक बने जग, बहु देशों मे खण्डित,
देश जातियों से निखरे मानवता,
विविध धर्म संस्कृति हो विश्व समन्वित !
सर्वनाश के अणु उद्‌जन आयोजन
मनुज सिन्धु जलतल मे करें निमज्जित,
हो रचना-सकल्प महत् जन क्षमता,
लोक क्षेम हो दुर्ग, विकृति पर जय नित !
विश्व ऐक्य की रिक्त धारणा भर वह
जिसमें हो जीवन वैचित्र्य न गुम्फित,
जन गुण ग्राहक, मनःक्षितिज हो व्यापक,
मिलें विमुख भू भाग, शान्ति दल रक्षित !

मा, इन युग मूल्यों को अतिक्रम कर मन
देख रहा मानव भविष्य ध्यानस्थित,—
उतर रहा स्वर्णिम प्रकाश रस निर्झर
जिसमें तुम चित् किरणों में रेखांकित !
नयी चेतना निखर रही उर मणि से
शत सुरधनुओं की ज्वाला से मण्डित,
बदल रहा भव वस्तु ज्ञान विकसित हो,
भाव-बोध, इन्द्रिय, मन, प्राण प्रहर्षित !
ज्योति प्रीति आनन्द मधुरिमा मंगल
जन जीवन मे मूर्त हो रहे जग मे,

अश्रुत चापों से गुंजरित धरा मन
आभाएँ - सी चलती जन-भू मग में!
भावी दर्शन पर श्रद्धार्पित कर मन
पायेंगे जन सूक्ष्म दृष्टि, नव जीवन,
रहस कलामयि महाशक्ति जग-धात्री,
अणु में जो करती अनन्त भव धारण!
देख रहा, उठता भू-गोलक ऊपर
उर्वर ज्योतिष्पिण्डों से अभिनन्दित,
जड़ के मुख पर शक्ति-पात चेतन का,
मनः शृंग पर हों शत तड़ित् प्रकम्पित!

स्वर्ण गुंजरण के सँग अन्धड़ का स्वन
सुना सभी ने, मधुर भीम रस मिश्रण,
अमृत वृष्टि सँग वज्र लिये पंखों में
घुमड रहा हो रजत रेख दारुण घन!
देखा सब ने तम का दुर्धर पर्वत
उठता, खर झंझा बाँहों से वेष्टित,
उतर रही हिमवत् से शरद उषा - सी
स्वर्ण शुभ्र श्री ज्योति, वृषभ शशि-सी स्मित!
शेष नाग के ऊर्ध्व शीश पर शोभित
उदित हुई भू, हरित जलधि-आँचल धृत,
नील क्षौम का रत्न-छत्र धर सिर पर
पवन डुलाता चँवर, पुष्प रज सुरभित!
उमड़ा हो रस श्यामल नव सावन घन
जन जीवन के बर्ह-भार मे पुलकित
मत्त हुआ रज गन्ध सूँघ कवि का मन
अगणित तड़ितों के प्रवेग से स्पन्दित!
सूक्ष्म सुरभि - सी उतरी उमा हृदय में
रजत रश्मि - सी, कनक दीप्ति से परिवृत,
द्रवित हुआ भू-मर्म मधुरिमा में नव
तिमिर गर्त भर गया शिखर छवि मज्जित!
श्री, शिव सुन्दर सत्य सार थी मूर्तित,
प्रीति कला - सी चन्द्र कला थी सिर पर
सप्त वर्ण मुक्ताभ स्वर्ण देही की
शोभा से शोभाएँ पड़ती झर झर!
हँसी दिशाएँ, गूँजे अलि, कूजे पिक,
पशु न रहे उपचेतन ही में सीमित,
ज्योति पद्म-सा खिला निमीलित भू - मन,
चिद् दर्पण में हुआ स्वतः शिव बिम्बित!
पृथ्वी ने सीता को गोदी में भर
सूँघा हरि-प्रिय सिर, ढुलका मुक्ता जल,

घन माला के उर की तड़ित् लता - सी
पुत्री पुष्प-प्रसू से थी तेजोज्वल !
मिली उमा वैदेही प्रिय सखियों - सी
शुभ्र चन्द्रिका, स्वर्ण उषा हों शोभित,
ऋषि को सम्मुख कर पुलकित दम्पति ने
किया प्रणत स्वागत, शुभ शकुन प्रबोधित !
आर्द्र कण्ठ से बोली धरती, बेटी,
ज्ञात तुम्हें मेरे मन का संघर्षण,
युग सन्ध्या अब, मची क्रान्ति अग जग में
मचल रहा मेरे भीतर नव जीवन !
नये कल्प का जन्म, क्षितिज-मुख स्वर्णिम,
बाहर भीतर घटते नव परिवर्तन,
स्वर्ग सृजन से कठिन उदर में जग का
चिर विकासमय जीवन करना धारण !
क्रुद्ध शेष फूत्कारों से दिशि धूमिल
महामृत्यु मेघों से मन्थित अम्बर,
मुझे विरोधी शिविरों का भय भ्रम हर
सृजन शान्ति स्थापित करनी भू-तल पर !
भौतिक वैभव के मद से उत्तेजित
शोषक शोषित में विभक्त भू-प्रांगण,
वायुयान में उड़ते बाहर तन-तन !
अन्तर्मन प्रस्तर युग का जड़ पाहन !
इधर अन्ध भौतिकता का कर्कश स्वर
उधर रिक्त तप त्याग विरति का रोदन,
दो अपूर्ण मिल सर्व पूर्ण कब होते ?
महत् साध्य अनुरूप न मंगल साधन !
वृहत् समूहीकरण अपेक्षित जग में
जिसमें जन भू ओर छोर हो गुम्फित,
बीज-भूमि से नया व्यक्ति पनपे फिर
स्वर्ग प्ररोह,—नयी क्षमता से भूषित !
मुट्ठी भर मन के जगमग मानों में
किया बौद्धिकों ने मेरा मूल्यांकन,
तत्वविदों ने मर्त्य धाम बतलाया
जरा रोग भय पाप ताप का प्रागण !
धर्मज्ञों ने त्याग विराग सिखा कर
कहा *व्यर्थ जग, मिथ्या माया बन्धन*,
मुक्ति मार्ग विज्ञापित कर यतियों ने
चाहा जन धरणी बन जाए निर्जन !
स्वर्ग नरक, जड़ चेतन द्वन्द्वों में रत
ज्ञान दग्ध पा सके न मेरा परिचय,
तर्क वाद में खोये, समझ न पाये,
बुध समग्रता में मेरा महदाशय !

मैं हूँ जीवन क्षेत्र, बड़ी मैं मन से,
क्षण परिमित में हूँ मैं नित्य अपरिमित,
ऋत प्रकाश में मुझको जन जीवन मे
सृजन पूर्णता करनी अपनी निर्मित !

युग मन को अतिक्रम कर मेरा जीवन
बढ़ता उठ - गिर यत्न - सिद्ध निज पथ पर,
नया जन्म ले मेरा अन्तर्यौवन
क्षणिक नित्य के शून्य पुलिन देता भर !

स्वर्गों का अक्षय प्रकाश ले मुझको
गढना जन का शोभा - भंगुर जीवन,
देवों के अमरत्व सार से विरचित
भू की भंगुरता का सत्य चिरन्तन !

विविध लोक, बहु विधि जीवों से उर्वर,
चिन्मय सत् के सूक्ष्म स्थूल नाना स्तर,
सब के गुण वैचित्र्य, महत्ता लघुता,
सभी पूर्ण अपने में, सार्थक सुन्दर !

निखिल पूर्णताओं का सार ग्रहण कर
ढली पूर्णता जन धरणी की निश्चित,
जन्म मृत्यु, बहु ह्रास वृद्धि द्वारों से
अभिव्यक्ति जो पाती लोकोत्तर नित !

आदिम मैं, ज्योतिप्रिय,—भूल गये जन,
दीप्त ग्रहो के संग हँस करती नर्तन,
शीश फूल मेरा रवि, शशि मुख - दर्पण,
उषा माँग रोली, ज्योत्स्ना तन उबटन !

जीवन शोभा की प्रतीक भुवनों मे,
नहलाते रस धारा में मुझको घन,
षड् ऋतुएँ करती परिक्रमा पद - नत,
तितली फूल विहग करते अभिनन्दन !

निश्चेतन के अँधियाले पलने में
मैं हूँ सोयी ज्योति, काम कुम्हलायी,
अँगड़ाई भरती मन की द्वाभा मे
निज प्रकाश गरिमा मे जाग न पायी !

मृद् दीपक, मेरा नित नव भंगुर - तन,
तुम अमरत्व शिखा जिसकी चिन्मणि स्मित,
तुम्हें सँजोये स्नेह - प्राण अन्तर मे
मै नर किन्नर अमरो से चिर वन्दित !

प्रीति ज्योति तुम मेरे उर की अकलुष
सत्य शिखा अन्तरतम, स्वयं प्रकाशित,
बाट जोहती धरती के धीरज से—
श्री, समग्रता मे हो जग में स्थापित !

पराशक्ति तुम, निखिल भुवन में व्यापक,
सुर नर मृग मंगल नित जिसके आश्रित,

क्षुद्र सत्य बहु अधिकृत किये धरा मन,
यौनों से जगती का जीवन शासित !
तम प्रकाश, जड़ चेतन को उपकृत कर
मुझे पूर्णता में होना निज विकसित,
सीमा में निःसीम, क्षणिक में शाश्वत,
भू रज में कर भगवत् स्वर्ग प्रतिष्ठित !
शंखों जड़ी प्रवाल पीठिका भू की
कँपी, कँपा मणि चक्र छत्र सिर ऊपर,
खुले केश स्वर्णिम नीलम निर्झर - से
खिसका अंचल मरकत छाया सुन्दर !

देखा ऋषि ने, तप्त - कनक भू गोलक
हरित शक्ति के अमित सिन्धु से परिवृत,
रजत तिमिर से निखर रहे शत रवि-शशि
सुर किन्नर, मुनि नर, मृग खग कृमि अगणित !
देखे कवि ने स्मित ब्रह्माण्ड अकल्पित
दीप्त भुवन, देवों ऋषियों के आश्रम,
कोटि सभ्यताओं, संस्कृतियों के युग
धरा गर्भ में छिपे स्वर्ग - स्तर निरुपम !
गुह्य हरित तम में अन्तर्हित भास्वर
ब्रह्म विष्णु शिव रुद्र वरुण यम वासव,—
नृत्य कर रहे सृजन शक्तियों के सँग
बँधे सृष्टि लय में आनन्द निरत भव !
देखा मुनि ने लोचन वातायन से
प्रेम रश्मि दीपित जन भू का अंतर,
शोभा के सौ स्वर्ग खिले थे भीतर
भावों के शत ऐश्वर्यों से उर्वर !
बोला उन्मेषित स्वर में ऋषि का कवि
धन्य जननि, मैं उठा बहिर्मुख गुण्ठन,
सूक्ष्म दृष्टि पा, देख रहा नव युग में
स्वर्ण रश्मि छवि स्फुरित तुम्हारा आनन !
नील शान्ति के चित् सलिलों में अविगत
महा पद्म - सी मूँद ध्यान में लोचन,
खिलती नव आभा सहस्रदल - सी तुम,
मनश्चक्षु के सम्मुख धर शोभा - तन !
स्वर्ण मरन्दों से विरचित सौरभ वपु
सुधा - शुभ्र मधु भाव - गन्ध रस सिंचित,
प्राण वृन्त पर हरित ज्वाल वेष्टित तुम, —
मर्त्य भ्रमर मधु - लुब्ध भ्रमर - से गुंजित !
देख रहा, नीरव करुणा ममता की
गहराइयाँ भरी असंख्य उर भीतर,

निरवधि सागर, जो करता चित् जल में
भाव नाव दूँ छोड़, खोल सुख के पर!
जीव जगत के गहरे दुख वाष्पों से
निखर रहे हों क्षितिज स्वर्ग के निःस्वर,
धूम्र नील भावना मेघ पुंजों से
उभर रहे शत शुभ्रारुण आभा स्तर!
महाव्योम में स्वर्गंगा - सी पुंजित
शुभ्र अभ्र छवि कनक - रश्मि रेखांकित,
अमित मनोभुवनों को, चित् लोकों को
अन्तस्तल में किये मौन अन्तर्हित!
जन रक्षा के लिए अभय मुद्रा में
दिव्य तमस ही किये नील वपु धारण,
पौ फटने का - सा प्रकाश अन्तम से
फूट रहा, स्मित मार्दव से भर आनन!
कृष्ण सलिल - सी अतल मौन चितवन में
उमड़ रहे जीवन - उर्वर करुणा घन,
ओ निश्चेतन शक्ति, सुहाते तुममें
विद्युत्, सुरधनु, हरीतिमा, वज्र स्वन!
नटराज्ञी तुम, निज अन्तः सुख में स्थित,
उठा मत्त कर - पद, करती भव नर्तन,
शुभ्र स्तनों से स्रुत चैतन्य छलकता,
स्वर्णिम जघनों से मरकत भू जीवन!
निखिल विश्व इतिहास रिक्त छाया - सा
विगत - प्रयोजन पड़ा प्रणत चरणों पर,
युग कर्दम से गढ़ती तुम नव मानव
भावी वैभव से दीपित कर अन्तर!
अर्थ काम की रचना कर मानवता
विविध युगों के स्वर्ण पाश कर खण्डित,
दिग् विकसित हो रही विश्व संस्कृति में
भू जीवन शोभा मंगल कर अर्जित!
धधक रहा चित् पावक की लपटों में
जन मानस का निश्चेतन तम सागर,
मार्जित इन्द्रिय जीवन की शोभा में
अमर विचरते थी साकार धरा पर!
देख रहा मैं, राग चेतना भू की
सुलग रही जीवन शोभा में नूतन,
शुभ्रारुण ज्वालाओं में जल उठता
उपचेतन मन का छाया - तम गुण्ठन!
इह पर के, नर ईश्वर के छोरों पर
स्वर्ण सेतु, शत रत्न ज्योति स्मित निर्मित,
लोक मुक्ति ही मुक्ति, कर्म अब पूजन,
भव गति में विज्ञान ज्ञान संयोजित!

निखर रहा नव स्वर्ग मर्त्य - भू - रज से
श्री शोभा महिमा मंगल में मूर्तित,
उतर रही निःस्वर सहस्र ऊषाएँ
क्षण का वातायन शाश्वत मुख दीपित !
कैसे व्यक्त करूँ शब्दों के मन से
किस प्रकाश से आन्दोलित कवि - अन्तर,
टूट रही भावी विद्युत् पर्वत - सी
फूट रहे क्षितिजों से स्वर्गिक निर्झर !

स्वस्ति, सत्य द्रष्टा ऋषि, गौरी बोली,
मुनि की उर तन्त्री के कँपा रहः स्तर,
मैं प्रसन्न, सुन भावी जीवन मंगल,
कवि का स्वप्न सफल हो, ईश्वर दें वर !
भू जीवन ईश्वर इच्छा का दर्पण,
जिसे समझने मे अकृतार्थ मनुज मन,
तद्‌गत उर में खुलता प्रभु का आशय,
ज्ञात सुकवियों को रहस्य चिर गोपन !
सहज बुद्धि में भी होता वह बिम्बित
नही अपेक्षित उसे तर्क विश्लेषण,
यदि यथार्थ को भी निरखें परखें जन,
खोल सकेंगे वे हिरण्यमय गुण्ठन !
निर्मम जड़ सीमा-जीवन भंगुर तन,
शाश्वत उसकी भव गति का अविदित क्रम,
जीवों को रहना मिल जुल भूतल पर
जन्म मरण ध्रुव सत्य, न कल्पित मति भ्रम !
मर्त्यधाम की दुर्निवार स्थितियों में
जन समाज रचना रक्षा हित वांछित,
अचिर काल लहरों पर नीव उठा कर
अमर भवन आत्मा का करना स्थापित !
देह अनित्य, अनन्त पीढियों का क्रम
जीव अमरता का विधि शिल्प निदर्शन,
मानव में जीवन विकास की परिणति
सीमा में करती असीम को धारण !
राग द्वेष, हिंसा स्पर्द्धा से कैसे
जन भू-नीड़ बसा सकते, भव तम हर,
घृणा क्रोध मद, स्वार्थ लोभ, तृष्णा भय,
निम्न योनि वृत्तियाँ मनुज के भीतर !
देश जाति के ऊपर उठ जन मन को
मानवता करनी धरती पर स्थापित,
मनुज प्रीति कर व्यक्ति मुक्ति हित अर्जित
लोक साम्य रख विश्व ऐक्य के आश्रित !

मूल सत्य यह, जिसे भूल कर मानव
महानाश ढायेगा जन धरणी पर,
वस्तु-दृष्टि से सुख समृद्धि संचित कर
अमृत पियेगा आस्था से तम को तर !
पूर्ण शान्ति, आनन्द, मुक्ति उनके हित
जिनकी अन्तर आस्था प्रभु को अर्पित,
महच्छक्ति, चिद् ज्योति, भूति दीपित वे,
उन्हें न छूते मृत्यु, कलुष, तम किंचित् !
जो अपूर्ण अस्थिर कहते जीवन को
विधि-विधान के प्रति निज मन में शंकित,
अर्ध पठित वे, लघु सुख स्वार्थों में रत,
देख न पाते जग में प्रभु मुख विम्बित !
समतल जीवन के दुस्तर संकट क्षण
उच्च कृपा ही करती प्रति पग प्रशमित,
ऊर्ध्व रीढ की जन्म सिद्ध क्षमता यह
तमस मृत्यु से निकले ज्योति अमृत हित !
यही तत्वतः भव यात्रा, – मानव को
स्वर्ग वह्नि लानी भूतल पर निश्चित,
जन समाज के सामूहिक जीवन की
यज्ञ वेदिका पर कर उसे प्रतिष्ठित !
अर्थ हीन श्रम, व्यक्ति पृथक् से खोजे
पीढी पीढी अमृत तत्त्व अपने हित,
स्वर्ण ज्योति-तम-स्वर्ग रचें भू पर जन,—
विधि विधान मे यही ध्येय अन्तर्हित !
ज्योति तिमिर, सुख दुख गुम्फित भव जीवन
पूर्ण रहस्य-कला विधि की नि.सशय,
अमरों की शाश्वत समरस सुख की स्थिति
मर्म सुरभि ऐश्वर्य शून्य, मुझको भय !
प्रीति प्रतीति प्रथित हो श्रम-रत भू-मन
मर्त्य धाम हो अमर लोक से सुन्दर,
सहृदय करुणा, ममता, सहपीड़ा की
गहराई का कहाँ स्वर्ग मे उत्तर !
सृष्टि महत् सोपान,–अन्त अथ अविदित,
वह विकास पथ, अणु उर में भव,–विस्मय !
भावी के स्वर्णिम गुण्ठन मे विधि का
अन्तर्हित जीवन का स्वर्गिक आशय !
वर्तमान में रहते जो निज मे रत,
ऊँच नीच लघु स्वार्थों में उठ-गिर कर,
भू-मंगल के द्रोही वे, जन-वंचक,
द्वेष दग्ध, शंकित चित, नर मृग भू पर !
मंगलमय की विधि को कर श्रद्धार्पण
भू रचना श्रम में रत अविरत जो जन,

भावी स्वर्गों के स्वर्णिम वैभव से
रहस गुंजरित रहता नित उनका मन !
रजत प्रसारों में भव-नृत्य निरत हर
हरित हर्ष बरसाते भू पर उर्वर,
स्वर्ण गहनताओं में चिर जाग्रत् हरि
मर्म वेणु में भरते सुधा स्रवित स्वर !
जीवन के अन्तरतम शतदल में स्थित
शुभ्र शान्ति भरती रहती उर के व्रण,
ज्योति प्रीति आनन्द-अमृत स्पर्शो से
स्वप्न मंजरित रखते जन-भू का मन !
कविर्मनीषी का कर्तव्य सनातन
जीवन मंगल का करना सुख सर्जन,
श्री सुषमा, रस महिमा, स्वर गरिमा से
कुसुमित कूजित रखना जन-भू प्रांगण !
शुभ्र शान्ति में मज्जित कर भू-उर दुख
कवि को रचना-तत्व सिखाना जन को,
मनोगुहा मे सोया भावी मानव,—
उसे जगाना जड़ में स्थित चेतन को !
जाति वर्ग-गत घृणा द्वेष का तम हर
भेद वुद्धि रत स्वार्थ लोभ अतिक्रम कर,
कवि मन को देना आलोक, जगत को,
शान्ति प्रीति, आनन्द ज्योति मंगलकर !
अधिमानस की काम धेनुओं को दुह,
उच्च प्रेरणा स्रोतों को ला भू पर,
प्रज्ञाऽमृत से भरना नव संजीवन
मानव उर का पोषक रस जो भास्वर !
स्वर्गिक क्षितिजों के अक्षय वैभव से
शब्द सृष्टि कवि रचे मर्मस्पृश् नूतन,
भाव राशि में चिदानन्द शोभा भर,
भावी मानवता हित रच उर दर्पण !
प्राणोदधि में जगे स्फटिक शिखरों पर
युग प्रभात फहराता स्वर्णिम केतन,—
असत् तमस पर सत्य ज्योति की जय का
कवि को गाना भू विकास पथ गायन !
प्रीति-नीड़ होगा न मर्म-व्रण जब तक,
भेद-मुक्त उर में न विंधेगा चित् शर,
कवि मन के भावना ज्वार मे उठकर
रस निमग्न होगा न जनों का अन्तर !
तुम्हें सौंपती, लो, यह कनक अमृत घट,
नर नारी के रस मंगल से पूरित,
प्रकृति पुरुष की शुभ्र प्रीति का पावक
सावधान, बन जाय न विष जन-भू हित !

नया प्रेम सित शोभा बाँहों मे भर
रस वैभव मज्जित कर देगा अन्तर,
तन्मय कर देगा चिन्मय आलिंगन
शान्ति ज्योति आनन्द पड़ेंगे झर-झर !
ऐसी उन्मद, आह्लादक रस धारा
भू पर लोटी नही स्वर्ग से प्रेरित,
यह प्रकाश प्लावन,—पावक सागर से
निखरेगी मुग्धा भू उर-यौवन स्मित !

बोले मुनि, ओ अमृत दुग्ध, तुम उर मे
झरती जाने किस निःस्वर अम्बर से,
तिमिर ज्योति, दुख हर्ष, कलुष बनता शुभ,
खण्ड पूर्ण, भू स्वर्ग,—रहस किस वर से !
देवि, तुम्हारे सित गति-प्रिय पद छूकर
बनता निष्क्रिय जीवन-शव शिव चेतन,
मृत्यु शून्य से रचती तुम भव जीवन
सुधा स्रोत - सी झर अन्तर में गोपन !
परम प्रभा ही शुभ्र चेतना जिसकी
हेम गौर पावनता ही शोभा-तन,
अमित दया स्वर्गिक स्वभाव, श्रेयस् मन,
सृजन हर्ष ही अन्तर्वृत्ति चिरन्तन !—
सहज प्रसन्न जननि वह, जन को दें वर,
बरसे श्री शोभा मंगल पग पग पर,
महत् सत्य से प्रेरित हो मानव उर,
धरा-स्वर्ग हो सुन्दर से सुन्दरतर !
कहा, तथास्तु ! उमा ने, मन्द स्मित मुख,
बोली वह सीता से स्नेह विनय नत,—
विश्व चेतना तुम प्रति युग मे विकसित,
नये रूप का करने आयी स्वागत !
शुभ्र रश्मि, सतरँग श्री-से एकान्वित,
व्यक्ताव्यक्त, अभिन्न, अभेद्य परस्पर,
तुम अन्तः स्मित सत्य व्याप्त भुवनों में,
मैं अन्तः केन्द्रित सित ज्योति परात्पर !
धरा चेतना के शिखरों की ऊषा
सित शृंगो से उतर हरित धरती पर
स्वर्ग मर्त्य की भेद-तिमिर की खाई
भर दोगी तुम, स्वर्णिम निर्झर - सी झर !
प्राणों की मधु भूमि छोड़ कर भू जन
पंख खोल मन के, उड़ चिद् अम्बर मे,
कहाँ खोजते मुक्ति ? मुक्त चिन्मय शिव
स्वेच्छा से रहते जड़ मृण्मय घर मे !

मुनि लक्ष्मण ऊर्मिला धरा मे जाकर
खोलें जन मन मे प्रकाश वातायन,
शुभ्र शान्ति में, रचना मंगल में रत,
सार्थक हो भू पर सामूहिक जीवन !

धन्य, धन्य, बोले सब उन्मेषित मन,
हुआ अगोचर में लय अन्तर्दर्शन,—
कहाँ ऊर्मि, लक्ष्मण,—ऋषि, सीता, गौरी ?
धरा मात्र !—वह था स्मृति पट उद्घाटन !

मंगल प्रद हो जन भू के जीवन हित
अन्तर्मन का यह पावन आरोहण,
भूत भविष्यत् के ज्योतिष्पुलिनों पर
बने पुण्य-स्मृति स्वर्ग-सेतु जन मोहन !

भारत भू का ही यह नही अतीत,
एक शक्ति से भू-स्वर्लोक प्रणीत !
एक हो रहा, धन्य, आज भव धाम,
सत्य एक ही,—विविध रूप गुण नाम !

जीवन-द्वार

१. युग-भू

अमित शून्य दिक्-पट पर रह: सृष्टि छवि अंकित,
काल तूलि गति जिस पर धूपछाँह भरती नित !

नव युग जन्म जगत हित शुभ हो भू की प्रसव व्यथे, जय गाओ,
कवि शिशु को मानस पलने में खिला-पिला, स्वान्तः सुख पाओ !
युग जीवन के कथा - सूत्र धर पोओ वाणी की रस वेणी,
गूँथो जन - मन के स्वप्नों से धरा स्वर्ग, संस्कृति मणि श्रेणी !

जाने, बीत चुके कितने युग, कितनी शतियाँ, वर्ष, मास, दिन,
तुहिन अश्रु झंझा के पतझर रंग गन्ध रज के मधु अनगिन !
ग्रीष्म रुद्र दृग्, सुरधनु पावस, चन्द्रमुखी शत शरद पद्म तन,—
देख चुकी तब से जन-भू बहु जय भारत, उत्थान पतन रण !

झेल चुकी वह घोर ह्रास दुख दैन्य दासता,—दस्यु आक्रमण,
संस्कृतियों का बृहत् समन्वय, जाति - पाँतियों का सम्मिश्रण !
टूट चुका गत राम - राज्य का स्वप्न,—दृष्टि-हत कृषि-युग दर्शन,
नव जन-भू जीवन प्रतिमा से शोभित अब जन-मन सिंहासन !

मानस - जीवी ने भू पर आ जीवन - मूल्यों की नीवों पर
संस्कृतियों के दुर्ग गढ़े बहु भू-खण्डों देशों में बँटकर !—
देख विविध युग-पट-परिवर्तन कहाँ आज पहुँचा अजेय नर ?
क्या होता अब भारत-भू पर, वाणी, गाओ ऋत संवत्सर !

जन-समुद्र, कविते, भारत-भू, जिसके तट पर लोक जागरण
उतर रहा स्वर्गिक प्रभात-सा,—मथती उर को वात्या भीषण !
युग सन्ध्या में खोज सकोगी कहाँ उर्मिला, ऋषि कवि, लक्ष्मण ?
बदल गया गत जन-मानस-पट, बदल गया गत जन-भू-जीवन !

दीख रहा क्या कर-दर्पण में इन्द्रधनुष वेष्टित विद्युत् घन ?
विचरण करता पुण्य-भूमि पर पुनः ऐतिहासिक क्षण नूतन !
लोक पुरुष उतरे जन-भू पर प्रणत विश्व करता अभिवादन,
बहिर्विजित मृत मनुज जाति को आज चाहिए अन्तः-शासन !

परम शान्ति के शुभ्र मुकुर में परा प्रकृति-श्री-सी प्रतिबिम्बित
नील अंक में हरित धरित्री मौन मधुरिमा में ह्री-मज्जित !
प्रकृति रहस्यमयी लेटी हो—चिति विराट्—दिक्पट पर चित्रित,
शिशिर-मुक्त भू, मुक्त यौवना, अर्ध अगुण्ठित हरती अब चित !

पीत वर्ण रेशमी हिमातप अंगो की आभा-सा कोमल,
साँसों मे रज गन्ध समीरण, खिसका चंचल वन छायाचल !
झरते पाण्डुर तरुदल मर्मर धूलि धूसरित रिक्त दिगन्तर,
ताम्र-कलश-सा रश्मिहीन रवि, वन-गन्धों से आकुल अन्तर !

रजत कुहासे पट में सोया आम्र लोध्र किंशुक शिरीष वन
स्वप्न देखता स्वर्णिम मधु के मूँदे तन्द्रित किसलय लोचन !
गंगा तट,—काँप उठता थर-थर ठिठुरा-सा श्लथ वीचि-पंख जल
उड़ने को छटपटा क्रौंच-सा सटा मूक रेती पर घायल !

लोक चेतना-सी ही खोयी श्रान्त क्लान्त ठिठकी जल-धारा—
सुन्दरपुर के ग्राम-राज्य का जीवन-यात्री हो पथ हारा !
परम्पराप्रिय मध्य युगों की फेनिल पंकिल धारा प्रति पग
शून्य कगारो में बह कहती मृग-तृष्णा, मिथ्या, माया जग !

घोर असुन्दर था सुन्दरपुर दैन्य अविद्या का जड़ पंजर,
रूढ़ि रीतियों का निष्क्रिय गढ़, विगत सभ्यता का हत खँडहर !
झाड़ - फूँस के नग्न घरौंदे, भग्न रीढ़ रेंगते भीत जन,
राग द्वेष भय घृणा कलह में पथराये दुख से भारी मन !

अजगर - सा गुंजलक मारकर घेरे हो नैराश्य अमंगल,
भाग्य भरोसे बैठा जीवन,—सृष्टि प्रयोजन लगता निष्फल !
सुन्दरपुर क्या था, युग-भू थी, महा ह्रास का छाया दिग्-भ्रम,
मूक, प्रतीक्षा-रत जन-मन में पौ फटने से पहिले का तम !

निश्चेतन उर-कक्ष धरा का जहाँ न पैठा हो प्रकाश-कर,
नव जीवन स्पन्दन से वंचित, जड़, निश्चल, निर्जीव, अनुर्वर !
...तट के भीटे पर, तरुवन में, निभृत कुंज था धूपछाँह स्मित,
...स्वप्न नीड़ युग-द्रष्टा पिक का प्रेम नाम, वंशी जन-प्रचलित !

...ण मदन साधना-निरत हो युग का विषय कलुष विष पीकर,
...ूत कला-धर यश:-भाल पर भस्म-हीन हो नव युग शंकर !
...-शिल्पी वह, गढ़ता भू-मन, उसे बनाने नव युग दर्पण,—
... क्या था, गत संस्कारों के अवचेतन तम का जड़ पाहन !

धरा-गर्भ का नरक-कुण्ड था सुन्दरपुर जनपद, विपण्ण मन,
भू दारिद्रयों का दुर्गम गढ़,—निज दुर्गति के प्रति विरक्त जन !
आम्र मंजरी की छाया मे पिकी कूक देती आमन्त्रण,
प्रकृति गन्ध-सन्देश भेजकर मधु गोपन करती सम्भाषण !

जनगण - मन का मूक व्यथा - शर कवि - उर में करता कर्कश व्रण,
अश्रु-स्वेद-रज-पट मे लिपटा मानव भावी का था आनन !
उसे इष्ट था अन्ध गर्त से खींच मूल जन-मन के ऊपर
प्राण-पंक से भाव-वृन्त पर मानस-कमल खिलाना भू पर !

मन के खूँटे से जीवन की बँधी धेनु को खोल प्राणपण
मुक्त चेतना के प्रांगण में उसका नव विधि करना पोषण !
सोचा करता, कौन चेतना नील व्योम में छायी भास्वर
कौन चेतना अग्नि पवन जल, कौन धरा बन लेटी नि:स्वर ?

किसकी कला ? अमृत-घट-सा शशि स्वप्न-डोर में लटका ऊपर,
अमित नील मणि सर--नव शिशु रवि तिरता स्मित-मुख, स्वर्ण हास्य भर !
गिरि शिखरो पर उषा उतरती फहरा पावक केतन सुन्दर,
जुगनू दीप हिला घाटी में गुपचुप बातें करते नि:स्वर !

अन्धकार किसका अवगुण्ठन ? क्या प्रकाश, किसका मुख दर्पण ?
गूढ भाव मे बँधे दीखते उसको ज्योति तमस, जड़ चेतन !
टीले से सट, बहती टलमल नील वसन जल - धारा निर्मल,
पूस मास के सूर्य-बिम्ब पर डाल स्नेह छाया का आंचल !

वह भीटे से उतर, ध्यान-रत, जाता सलिल पुलिन पर पावन,
बहते जल से सृजन - प्रेरणा पाता उसका भाव - प्रवण मन !
तट पर रहते सोन, नीलसर, कंघी करते बक कलँगी पर,
कौड़िल्ला शव-सा गिर जल में उड़ता लिये चोंच में जलचर !

फिर चहा, पनेवा फर - फर, कलरव करते कोक, सीखपर,
उसको छुटपन ही से भाते मौन फूल, गाते खग सस्वर !
ग्राह सूंस जब पूंछ मारकर वारि फुहार उड़ाते ऊपर,
शुभ्र पुलक से भर जाता मन स्वप्न-सृष्टि में डूब मनोहर !

बहते कल जल की उज्ज्वलता उसके उर को करती चंचल,
खोजा करता वह प्रकाशमय सक्रिय जीवन के चेतन पल !
यह उसका भीतर का मन था, जग में रत रहता वह बाहर,
ताम्र पीत वन-तरुओं के दल हिम विभीत अब पड़ते झरझर !

रेखा पंजर ऋतु विटपों पर टँगे नीड़ हिल लगते सुन्दर,
जाड़े से कँप बूढ़ा कौवा खांसा करता बैठ ठूंठ पर !
तरु-कोटर से कूद गिलहरी फिरती वन-छाया से डर-डर,
उसे चील थी पकड़ ले गयी, जान बची थी पूंछ नुचाकर !

सहसा सम्मुख बहते जल में काँपी लम्बी चलती छाया,
वंशी ने पीछे मुड़ देखा, उसका स्नेह-सखा था आया!
कौन, हरित?—कह, वंशी ने रुक, देखा उसका चिन्तातुर मुख,—
जल मे सन्ध्या की छाया-सा तिरता था मुख पर नीरव दुख!

अस्तंगत दिनमणि की किरणें अग्नि स्तम्भ-सी जल में धँसकर
हरि के उर के तप्त शूल को वाणी-सी देती थी निःस्वर!
हलके भूरे मेघों के पर छितरे थे राखी रँग नभ पर
चितकबरे केंचुल-से जल पर रँग रहे थे अन्तिम रवि-कर!

हिम सन्ध्या घन नीरवता में ढलती थी, गहरी हो प्रतिक्षण,
कवि के उर में उतर रही थी युग सन्ध्या सुन शवभुक् का स्वन!
मानव शान्त प्रसन्न रह सके यह कैसे हो सकता सम्भव?
सोचा वंशी ने निज मन में आज बिना चिन्ता के जो शव!

पूछा, क्यों कैसा जी है, हरि, मुख पर कैसे घिरे मौन घन?
तुम पर-दुख-कातर छुटपन से, हरा हो उठा कौन छिपा व्रण?
तुम उस पार गये थे, कोई घटना वहाँ घटी क्या नूतन?
कहा-सुनी या हुई किसी से क्या इस मूक व्यथा का कारण?

कैसी बीत रही लोगों पर, कैसा नाच नचाता जीवन?
भाग्य भरोसे बैठे सब या कुछ करने की सोच रहे जन?
बोला हरि, सूरज के नीचे नया कहाँ क्या होता, भाई,
भू की दुख-दारिद्रय-निशा ही मेरे मृत मुख पर भी छायी!

यही नया बस, बिना अन्न धन जीवित सदियों के शव जनगण,
बिना वस्त्र, लज्जा में लिपटे ढँके नग्न मा-बहिनों के तन!
स्नेही हो तुम, सुहृद, सहायक, तुमसे कुछ भी भेद न गोपन,
वृद्ध पिता-माता के दुख का, मैं धिक् बनता जाता कारण!

यह सच है उनका इकलौता मैं ही कुल का मात्र वंशधर,
छोटी मेरी छाया-सी है, विलग न रहती मुझसे क्षण-भर!
पिता बाध्य करते अब मुझको मैं पाँवों में बेड़ी डालूँ,
कहते, या तुम बेल बढ़ाओ, पितृ-ऋण दो,—या मैं विष खा लूँ!

कहते पढ़ा-लिखाकर तुमने फिरा दिया छोटी का भी सिर,
क्वारी रहे सयानी कन्या कुल-मर्यादा कहाँ रही फिर!
कहते, खून पसीना करके तुम्हें उच्च शिक्षा दिलवायी,
कुलांगार जनमे तुम, विद्या गाढ़े दिन कुछ काम न आयी!

मा रोती, बस इतना कर दे, जिससे मेरे प्राण सिरायें,
सिरी ब्याह की हामी भर ले तुरत हाथ पीले हो जायें!
ठाकुर ने कल गाली बक दी, उठा नहीं पाते बप्पा सिर,
शेष पड़ा पिछला लगान-कर, काल देश मे पड़ता फिर-फिर!

छोटी को छेड़ा सुन्दर ने उसे अकेली पा पनघट पर,
मा कहती, मैं डूब मरूँगी लोक - लाज की किसे नहीं डर !
मुझे जानते वंशी तुम, मैं शिष्य तुम्हारा, छोटा भाई,
जन - समाज-सेवा कैसे हो घर ही में जब छिड़ी लड़ाई !

कीड़ों-से पिसते हों पग-पग जब जन निर्धन दुख के नीचे,
तब आँसू के खारे जल से वंश बेल कोई क्या सींचे !
राग द्वेष, भय घृणा मोह रत, मुण्ड-मुण्ड में बँटे मूढ जन,
परम्परागत पिंजर के शुक रूढ़ि रीतियों के चुगते कन !

पले अन्ध-विश्वासों में गत, बने कूप-मण्डूक सनातन,
निज सामाजिक जीवन के प्रति विरत,—अँधेरे घर के आँगन !
सुलभ नही भरपेट अन्न - कन, फटे देह पर चिथड़े लत्ते,
जाड़े में हिल हड्डी बजती, कँपते तन के पीले पत्ते !

पर-निन्दा ही रुचि का भोजन, कलह स्वभाव, कुटिल मति भूषण,
अजिर पंक दुर्गन्ध कृमि भरे, व्यर्थ अजा-गलस्तन-सा जीवन !
भाग्य-दोष बतलाते बुध जन पूर्व जन्म के कर्मों का फल,
कैसे मुक्ति मिले भव - दुख से कहाँ राम, जो निर्बल के बल !

मूढ निरक्षरता के पत्थर, बंजर भू पर कहाँ चले हल ?
दारिद्रयों का पर्वत सिर पर, भला समस्या का हो क्या हल !
ऐरावत - सा देश हमारा, दैव कोप वश हत बल होकर
पराधीनता के दलदल में फँसा हुआ निज गरिमा खोकर !

अन्य देश भी इस पृथ्वी पर, पढ़ता जिनकी गौरव गाथा,
दुःख दैन्य के घृणित बोझ से झुक जाता लज्जावश माथा !
क्या विधान इसमें दुर्विधि का थाह नही पाता उथला मन,
महा पुरुष जनमे जिस भू पर वहाँ नरक भय विचरे प्रतिक्षण !

कोटि चरण कर,—सब निरस्त बल, पक्ष-वायु से पीड़ित हों जन
क्षुद्र अहं का रण-क्षेत्र उर, क्या इस महा अगति का कारण ?
दास सनातनता के मन मे दास रूढ़ियों के हम घर में,
दास युगों से स्वर्ण धरा यह अर्थ काम जीवन-संगर में !

प्रथम सभ्यता का प्रभात जो लायी जन - भू के जीवन में
महा रात्रि का अन्धकार अब वास किये उसके आँगन में !
परिभव का इतिहास हमारा वन - रोदन का हो क्या उत्तर ?
जिस ईश्वर के पूजक हम अब वह निःस्वर, निर्मम, जड़ पत्थर !

सरसों - से लघु यत्न करें क्या, पर्वत - सा शतियों का संकट,
आर-पार तम - सिन्धु गरजता, नही सूझता आशा का तट !
वंशी ने सम - व्यथित दृष्टि से देखा हरि को दुख से कातर,
उसे सान्त्वना दे वचनों से, बोला दृढ कर भाव - मुखर स्वर !

जब स्वदेश में आग लगी हो, धू-धू कर जलते हों सब घर,
तब किसको निज दुखड़ा रोना, भाता ? हरि, तुम पर सेवा-पर !
मानव की दुख-कथा पुरातन, बर्बर स्थिति से हो वह बाहर,
बसा नहीं पाया अब तक निज मन का जीवन-स्वर्ग धरा पर !

जाति-पाँतियों में, देशों में, वर्ण-श्रेणियों में विभक्त जन,
बाधक उनके योग-क्षेम का गत संस्कारों का बौना मन !
हँसते जहाँ प्रसूनों के दल, पंखों के रँग बरसाते खग,
पवन नाचता, सरिता गाती, वहाँ भाग्य-हत हो मानव-जग !

भिन्न अन्य जीवों से मानव, उसके सुख-दुख उस पर निर्भर,
हमें खोजने निज दुर्गति के भौतिक नैतिक कारण दुस्तर !
प्रगतिशील मानव,—विकास का उसके भीतर सुप्त संचरण,
सामूहिक जीवन-रचना कर तर सकते दुख-सागर जनगण !

पर, दुर्गम दासता गर्त में गिरा देश हत-चेत, अधोमुख,
पराधीन को सपने में भी ठीक कहा, हरि, सुलभ कहाँ सुख !
दया व्यथा से विगलित चित नर महत् कर्म करने में अक्षम,
एक ध्येय-रत नित जिनका मन उनको नहीं सताता दिग्-भ्रम !

प्रथम देश स्वाधीन बन सके यही परम हो लक्ष्य हमारा,
फूँकें युग-जागरण शंख हम जन-स्वतन्त्रता का दे नारा !
मुक्त देश के सँग ही होंगे गाँव, मुक्त गाँवों के सँग जन,
साथ कटेंगे सब के बन्धन, होंगे सँग ही कष्ट-निवारण !

देश जातियों के जीवन में आते ऐसे महत् क्रान्ति-क्षण,
जीर्ण सभ्यता के शव में जब बहने लगता शोणित चेतन !
पतझर यह, नव बीज बो रहा शिशिर प्रभंजन उड़ा जीर्ण दल,
नग्न दैन्य पंजर से बन के झाँक रहा सोया मधु मंगल !

आओ, हम गंगा-जल छूकर जन-सेवा का लें पवित्र व्रत,
हम स्वदेश हित जियें-मरेंगे जब तक हो स्वाधीन न भारत !
सुनते ही आह्वान देश का प्रकट हुए जन-नायक गाँधी,
घायल रुँधी हवा गड्ढों की बनने को अब पागल आँधी !

लिये अहिंसा-युग-केतन वह खडे सत्य-वट नीचे निर्भय,
स्फटिक शुभ्र स्वर में पुकारते चलता धरती पर अरुणोदय !
जाग उठी सोयी जन-धरणी लोट रही असि-पथ चरणों पर,
मौन भंग कर गूँज उठे गिरि, गरज रहे भूखे भू-गह्वर !

करवट लेता रुद्ध सिन्धु अब, निकल पड़े विवरों से जनगण,
बढ़ते अगणित चरण लक्ष्य पर, प्रतिध्वनित पुर-पथ, गृह-प्रांगण !
दौड़ रहा भूकम्प धरा पर, उमड़ रहे आवेशों के घन,
अन्धकार गर्तों में आहत चीत्कारें भरता जग प्रतिक्षण !

टूट रहा अन्याय वज्र-सा अग्नि-मुष्टि हो रक्त लौह घन,
मृषा सत्य में, दम्भ विनय में, दुरित न्याय मे, छिड़ा मृत्यु रण !
सुनो, महात्मा गांधी की जय, चिल्लाते गूँगे भू रज कण,
भारत का ही यह न मुक्ति-रण विश्व-मुक्ति का आया शुभ क्षण !

आत्म-त्याग की यज्ञ-भूमि यह अन्ध स्वार्थ-रत भू संघर्षण,
यन्त्रों से पद-दलित धरा अब सत्य पन्थ नव करती घोषण !
स्वर्ग दूत, युग सन्त, नीतिविद्, भारत के देदीप्य तपोवल,
शतियों की साधना-सिद्धि वह आत्मा के प्रतिनिधि तेजोज्वल !

संस्कृति के नवनीत, त्याग की मूर्ति, अहिंसा ज्योति, सत्य व्रत,
लोक-पुरुष, स्थितप्रज्ञ, स्नेह घन, युग-नायक, निष्काम कर्म-रत !
वज्र-अस्थि, तप दृढ तन पंजर, अग्नि वर्ण त्वच मण्डित भास्वर,
शील शुभ्र, देवोपम विग्रह, मेरु शिखर-से चलते भू पर !

उन्नत जन वन देवदारु-से स्वर्ग छत्र सिर पर तारक नभ,
सौम्य आस्य, उन्मुक्त हास्यमय, प्रातः रवि-सा स्निग्ध स्वर्ण-प्रभ !
सत्याग्रह तृण-अस्त्र छोडते वह सशक्त साम्राज्यवाद पर,
आसमुद्र पृथ्वी को जिसने चूस लिया जन-गो को दुहकर !

रक्तहीन व्रण करता उर मे दिव्य अस्त्र, कर अन्तर मन्थन,
मनस्ताप के अश्रु बहाता पिघल स्वार्थ कुण्ठित उर पाहन !
संस्कृति का वह शूल, अचेतन आत्मा में चुभ करता चेतन,
तपः-रश्मि-शर मनोगुहा को दीपित करता चीर तिमिर घन !

अस्त्र-शस्त्र-सज्जित मृत भू हित मानव-करुणा धर लायी तन,
अग्नि-स्पर्श पा, जन के भीतर सुलग उठे सोये प्रकाश-कण !
मुक्ति-युद्ध यह, मुक्ति चाहिए भू को युग के अनाचार से,
दैन्य अविद्या घृणा द्वेष से, भय संशय, मिथ्या प्रचार से !

मुक्ति शक्ति के अहंकार से, खल नृशंस के पद-प्रहार से,
मुक्ति-पर्व यह, मुक्ति चाहिए भौतिकता के अन्धकार से !
गूँज रहा रण शंख, गरजती भेरी, उडता सुरधनु केतन,
ऊर्ध्व असंख्य पगों से धरती चलती, यह मानवता का रण !

विजय नाद से ध्वनित दिशाएँ, सत्य सैन्य, जन करते स्वागत,
भरती अमृत अहिंसा विष-व्रण, देवपुत्र भू पर अभ्यागत !
तुमने देखा ही, नगरो में बढता नित जाता आन्दोलन,
आत्मदान के लिए मचलता ज्ञान-वृद्ध भारत का यौवन !

फहराता दिक् कीर्ति तिरंगा इन्द्रधनुष-सा नभ में शोभित,
ध्वजा वन्दना, मातृ अर्चना गाता नव भारत का शोणित !
स्वाभिमान जिसमें स्वदेश का स्वतः आत्म बलि हित वह तत्पर,
दमन कुचलता वात-चक्र-सा, उफन गरजता उठ जन-सागर !

सभी सभ्य सम्भ्रान्त नागरिक मुक्ति - मूल्य देने को उद्यत,
बना वज्र प्राचीर देश अब खड़ा मृत्यु सम्मुख अप्रतिहत !
मानव की संकल्प - शक्ति में बाहु - शक्ति में छिड़ा तुमुल रण,
प्रथम बार सामूहिक आत्मा जूझ रही नर - पशु से भीषण !

इधर खड़े चिर सौम्य देवता, उधर अड़ा उन्मत्त दैत्य दल,
दातियों में सक्रिय हो पाया भू पर शुभ्र अहिंसा का बल !
अन्ध अहं गतिरोध कर रहा छू प्रकाश, पथ करता विस्तृत,
घृणा-द्वेष की आहुति देती बरसाती हँस प्रीति क्षमाऽमृत !

मृत्यु भीत रज - प्रकृति कांपती पुरुष अमरता करता घोषित,
आँख - मिचौनी खेल रहा युग, विजय असत् पर सत् की निश्चित !
मुट्ठी - भर हड्डियां बुलातीं—छात्र निकल पड़ते सब बाहर,
लोग छोड़ घर - द्वार, मान - पद, हँस - हँस बन्दीगृह देते भर !

झोंक आग में तन के कपड़े गिरते पद पर पागल स्त्री-नर,
भेद कभी इतिहास कहेगा कौन पुरुष चलता युग - भू पर !
देख रहा मैं, निखर रही भू घृणा - कुहासे से कढ़ बाहर,
नव ऊषा अंचल में लिपटा हँसता शिशु युग - रवि दिग् भास्वर !

चहक रहे सूनी डालों पर रंग-मुखर पल्लव फडका पर,
जन - मन - वन मे मुक्ति - चेतना फूट रही बन नव कुसुमाकर !
आत्मा का स्वर्गिक पावक कण सोया निष्प्रभ जन - उर भीतर
तुमको आंधी बनना होगा, जगे बुझो लो, दौड़े भू पर !

छाया आज प्रमाद, लोभ, मद, द्रोह, मोह, नैराश्य, क्षोभ, डर,
देखोगे कल नरक - तिमिर में स्वर्ग - ज्योति की छिपी धरोहर !
निज सुख - दुख अर्पित कर मा को लौह संगठित करो लोक-बल,
जन - स्वतन्त्रता के आँचल में बँधा निखिल धरणी का मंगल !

मुक्त स्रोत जब तक न मिलेगा स्वच्छ न होगा मलिन रुद्ध जल,
सघ - शक्ति की बहिः शुद्धि ही अन्त: शुद्धि,—न जल्पित केवल !
एक दशक से चुका रहे सब नगर जूझ भू - माता का ऋण,
चुप न रहेंगे हम बलि - अज - से खड़े प्रणत, मुँह मे दाबे तृण !

असहयोग आन्दोलन में अब आया वह अनिवार्य महत् क्षण,
फैले गांवों मे भू - ज्वाला, धधक उठें खलियान, खेत, वन !
जाओ बंजर जन - धरणी को जोत, चलाओ पौरुष का हल,
लोहे को सोना कर देगी छिपी स्पर्श - मणि उर में उज्ज्वल !

क्रान्ति - बीज बोओ, स्वराज्य की फसल उगे, जन - जीवन उर्वर,
यही अटल आदेश देश का, तुम शुभ संकल्पों के निर्झर !
बोला हरि, मैं कर्म - यन्त्र भर स्रोत प्रेरणा के तुम भास्वर,
प्रश्न - चिह्न मेरा आतुर उर, तुम जिज्ञासाओं के उत्तर !

कवि ऋषि तुम, रवि से भी उज्ज्वल हृदय-तिमिर हरते जिसके स्वर,—
मुझे दीखते विश्व - व्याधि के मूल और भी गहरे दुस्तर !
जब तक देश स्वतन्त्र न होगा, तब तक प्रगति न सम्भव निश्चय,
सिन्धु पार का द्वीप करे धिक् तीस कोटि भाग्यों का निर्णय !

नैतिक आर्थिक शोषण से जन बनते जाते निर्बल, निर्धन,
सबसे पहले हमें काटने दीर्घ दासता - दुख के बन्धन !
किन्तु दासता से भी दुःसह अघ से पीड़ित आज मनुज - मन,
भारत ही क्यों, निखिल जगत् ही अन्ध शक्तियों का रण - प्रांगण !

राष्ट्र - मुक्ति भारत की कैसे विश्व - मुक्ति का होगी कारण ?
मनुष्यत्व के लिए मनुज को अपने से करना रण भीषण !
व्यर्थ पूर्व - पश्चिम दिग् - भ्रम में भू - जीवन का ऐक्य विभाजित,
पूर्व हृदय - मन होता जग का पश्चिम से जीवन संचालित !

हम देते अध्यात्म जगत् को, मानव होता अन्तः संस्कृत,
पश्चिम जड़ विज्ञान शक्ति से जन सुख साधन करता अर्जित !
मुझको लगता, यह सुन्दरपुर मेरे ही मानस का खँडहर,
सुखी कूप - तम में डूबे जन, मेरा ही उर करुणा कातर !

समझ न पाता भाव - मूढ़ मन सत्य बहिर्जग या अन्तर्जग,
अन्तः शुद्धि करें पहिले जन बाहर और बढ़ायें या पग !
तुम चिन्तक हो, तुमने इस पर सोचा होगा, कर उर - मन्थन,
मुझको इसमें ही सुख मिलता करूँ तुम्हारी आज्ञा पालन !

गाँव - गाँव में सत्याग्रह का मैं सन्देश करूँगा वितरण,
राष्ट्र - यज्ञ मे बापू के सँग जन तन - मन कर सकें समर्पण !
मुझे यही आशा थी तुमसे मुक्ति - शंख फूंको तुम घर - घर,
साधक चिन्तक का जग भीतर, हरि, विषयी कर्मी का बाहर !

इससे ऊँची वह अन्तः स्थिति जो आस्था रखकर ईश्वर पर
बाहर - भीतर में समत्व भर रहती शुभ में निरत निरन्तर !
कवि की भी कल्पना भटककर प्राम मुक्त बनती पागलपन,
सर्वमुखी प्रतिभा घोषित कर जिसे पूजते बुद्धि - भ्रान्त जन !

तुम उस स्थिति से दूर रहो नित,— कार्यार्थी तुम, जनगण वत्सल,
अहं वृत्ति अहि को नत - फन कर गहो विनय का सात्विक अंचल !
प्रहसन - भर होगा वह दर्शन कर्म प्रेरणा फल से वंचित,
मध्य युगों के सन्तों की - सी, हरि, तुम मूल न करना किंचित् !

भौतिक आध्यात्मिक अभिन्न नित सँग - सँग होते विकसित वर्धित,
पूर्ण - काम हो राष्ट्र प्रथमतः विश्व ऐक्य तब होगा निर्मित !
धरा हृदय भारत - भू—श्रद्धा संयम त्याग विनय से विरचित,
बहता जिसके शिरा - जाल में, ऋषि मुनियों के तप का शोणित !

इसे जगत - जननी समझो तुम दया क्षमा धृति में अन्तः स्थित,
भारत के जीवन - मंगल में निखिल भुवन, सब जीवों का हित !
महा ह्रास के युग पलने में तुम्हें दीखते अघ - तम, दिग् - भ्रम,
जन्म ले रही नव मानवता इंगित करता भव विकास-क्रम !

वाह्य कुहासे में संशय के खो न जाय कुण्ठित तार्किक मन,
लोक - क्षेम रत रहो प्राण - पण, विश्व कर्म ही भू - पथ साधन !
वंशी ने निज प्राण सखा को सहज स्नेह से दे आश्वासन,
अपने ही प्रिय मनः स्वप्न को दिया शील दृढ, कर्म - निष्ठ तन !

हरि सहृदय था, पर - हित - रत नित, जन - सेवा ही था उसका धन,
हाड़ - मास के तृण - पंजर मे वह था जीवित पावक का कण !
गहराती जाती हिम सन्ध्या तरु - वन अब नीरव तम सागर,
छोटे शशि-सा शुक्र दीखता भाव - मूढ़,—जन - भू - तम दुस्तर !

धेनु - त्वचा - से लहरे जल पर ज्योति - रेख कँप प्रतिपल थर - थर,
गंगा की नि.स्वर पद - गति को चित्रित करती धूप - छाँह भर !
जल से चोंच सटाकर कुररी उडती खोले पालो - से पर,
दूर कही टेरती टिटिहरी क्लिष्ट नाम अपना रट - रटकर !

सन्ध्या - वन्दन को माधो गुरु डुबकी लेते, कह गंगे हर,
वाक् - वाक् कर मँडलाते मिल, वाक साँझ को दे दुहरे स्वर !
शिशिर वात अहि - सी रेती पर लोट रही थी उठा धूलि - फन,
तट पर तरबूजों के सिर पर कँपते नत सरपत के छाजन !

बटी धूम - रेखा रस्सी- सी टँगी क्षितिज पर लगती सुन्दर,
पार्श्व चन्द्र झाँकता पार से सित कपोत - सा बैठा तरु पर !
ह्वा - ह्वा करते स्यार आर्त रव, शंख घण्ट बजते मन्दिर में,
विदा मित्र से हो जब वंशी लौटा निज एकान्त अजिर मे !

गृह गवाक्ष पर लटका हिम शीतल सित शशि मुख,
प्रथम प्रणय की स्मृति या आज उपेक्ष्य मधुर सुख !
सन्नाटे में गेंदुर मँडराते, लगता भय,
पार देखना मन को अन्धकार पर पा जय !

२. ग्राम-शिविर

नारी गूढ़ समस्या जग की, नर - नारी उर का ही परिणय,
राग - चेतना का विकास ही निखिल प्रगति का सार, न संशय !
भले ज्ञान - विज्ञान बनायें मानवता का सौध चन्द्र - स्मित,
शोभा - देही राग - शिखा ही स्वर्ग - ज्योति कर सकती वितरित !

नवल वधू पैठी खेतों में या हिम ऋतु अब छायी घर - घर !
किसने हलदी मल दी उसके अर्ध खिले कोमल अंगों पर !
लहराती पीली सरसों से स्नेह - गन्ध उठती रस - भीनी,
फहराती उड़ हलकी आबी कुहरे की चूनर कँप झीनी !

ग्राम वधू वह विस्मय - स्फारित जल में डूबे नभ - सी चितवन,
या वह तीसी खिली छरहरी खोले नील निरलस लोचन !
हिमजल के मुक्ताभरणों से शोभित, कँपता फूलों का तन,
स्वप्न मौन स्मृति - मन को भाते माघ मास के हेम - गौर क्षण !

हरी मखमली हरियाली का झूल रहा लँहगा भू छूकर,
अठखेली खेलता पवन शठ लचकीले तन में उभार भर !
रोमांचित हँस उठते भू - अंग, जौ - गेहूँ में आयी बाली,
छोटी - सी शंखिया मटर की आँखों में छायी मद - लाली !

अध - गदराये वन - तरुओं पर गन्ध - मत्त मँडलाते अलि - दल,
सूँघ आम्र - मंजरियों का मुख जगा रहे गा - गा नर कोयल !
टेसू निज रक्तिम शुक - नासा अभी छिपाये छद - पुट भीतर,
पीपल के चिनगी - से कोंपल कभी फूट कढ़ आये बाहर !

क्षितिज नील - नयना गाँवों की हरी - भरी भू हरती जन - मन,
हँसती रज, हँसती हरीतिमा, हँसती दिशि, हँसते अनिमिष क्षण !
मूर्तिमती ऋतु की शोभा - सी तुहिनों की तनिमा में न्हायी,
सुघर सिरी थी खड़ी द्वार पर शुभ्र उषा - सी सहज लजायी !

वह यौवन का रहस - द्वार था नव स्वप्नों, भावों का प्लावन
जिससे बह, नव शोभा सुख में मज्जित कर देता तन्मय मन !
बाहर से उठकर मन के पग अन्तर - जग में उड़ते निःस्वर,
जहाँ मूक संगीत - लोक था श्री सुख सुषमा आशा के स्वर !

अर्ध खुले उर के कपाट से स्वर्ग - स्वप्न, अस्फुट देही धर,
झाँक रहा हो मूर्तित होने भाव - बोध के क्षण में सुन्दर !
उसे देखकर सोचा करता रूप - पारखी वंशी मन में,
रूप रूप को अतिक्रम करता प्रतिपल खिलते शोभा तन में !

सन्ध्या के स्वर्णिम झुटपुट - से कोमल कुन्तल - तम में खोकर
प्रणय - भावना नीड़ खोजती, मूँद पारगामी मन के पर !
उर का स्वर्ण - मुकुर - सा स्मित मुख सूक्ष्म भाव छवि से जाता भर,
उदय हुआ हो नव शोभा - ग्रह निष्कलंक सौन्दर्य सुधाधर !

समा गया था नत नयनो मे मौन नील दो नीलों में ढल,
छू लेता उड सहज मर्म को चितवन खग पलकों में निश्चल !
कहता वंशी का कवि मन में देख मधुर अधरों की लाली
शुभ्र हर्ष ने प्रीति अमृत हित ढाली माणिक शोभा प्याली !

गालों के स्वर्णोज्ज्वल जल में लहराता माधुर्य हृदय का,
उठती - गिरतीं लाज-वीचियाँ, कँपता धूपछाँह विस्मय का !
खुले श्रवण, छवि के सीपो - से, पड़ें सुभाषित के शुचि मोती,
गुण - विहीनता ऋजु भ्रू धनु गुण, दृष्टि मदिर शर कैसे होती !

मृदु ग्रीवा मे सहज भंगिमा, मुख सरोज, प्रिय कम्बु वृन्त गल,
सौकुमार्य के प्रतनु भार से झुके अंस, शोभा नत, निश्चल !
स्वर्ण - मांस का सर वक्ष.स्थल स्वर्ग - हंस सित उतरे जिस पर,
मुग्ध प्रीति तिरती, उपकृत हो कनक गौर आनन्द कलश भर !

स्वर मे हँसमुख वीणा के स्वर दशनों में उर की आभा स्मित,
प्राणों में बहता था निश्छल शोक हीन संगीत अतन्द्रित !
घनीभूत आनन्द, पुष्प के स्तवक उरोजों में था मुकुलित,
अंगों की लावण्य - लता में प्रेम स्वतः रोमाच पल्लवित !

गढ़ी शील ने दृग - प्रिय देही शोभा में भर सौम्य सन्तुलन
स्वप्न - पाश फूलो की बाँहें मन में भरती पुलकालिंगन !
स्निग्ध चाँदनी - सा स्वभाव नित छिटका करता तन से उज्ज्वल
नव छन्दों के स्रोत फूटते छू उसके गति चंचल पद तल !

ग्राम वीथियों पर, डगरों पर फिरती हो प्रातः मधु द्वाभा,
जनपद भू की शोभा हो या उतरी हो नव युग की आभा !
धरती के रज कण थे उसके नत दृग पद चापों से परिचित,
अकलुष सात्विक उर अंचल था जन करुणा ममता से विस्तृत !

नव प्रभात आतप में घुल - मिल निखर उठी थी अव दिशि - लाली,
झूम रही थी मन्द पवन में अँवली की मरकत लड डाली !
तुहिन मुकुट स्वर्णिम प्रकाश की मौन मूर्ति गढ़ तन्मय मन में
सिरी अनमनी - सी लगती थी खोयी मन के नीरव क्षण में !

सोच रही थी वह,—क्यों स्त्री के आँखों में नित खारा पानी,
दुख ने मूर्ति गढ़ी हो उसकी, आँसू ने हो लिखी कहानी !
सुनती सखियों से उन पर जो सतत टूटते दुख के पर्वत,
आस - पास देखा करती जो उससे मन हो उठता आहत !

जब चंचल चितवन - सा खंजन लहराता भाँवर ले सुन्दर,
रुक झुक पूँछ कँपाता थर - थर उड़ - फिर रँगता ऋतु-ऋतु में पर !
कोई उससे कहता चुपके यह जीवन का लीला - प्रिय मन,
उसे याद आता सखियों का पिंजर - बद्ध विहग का जीवन !

घर - आँगन ही क्या स्त्री का जग ? लांछन ही उसका सिर-भूषण ?
दृष्टि स्पर्श इंगित वचनों से लगते उसके तन को दूषण !
सिहर मौन उठता स्मृति का मन सुन सीता का वन निर्वासन,
पट संस्कृति में सहती अबला कब से ईर्ष्या, कुत्सा, पीड़न !

अंजुलि भर रज तन में सीमित वह घर के कोने में स्थापित,
ज्योति पीत, भयभीत शिखा - सी जलती स्नेह-रहित विधि - शापित !
पद - छाया - सी लोटी भू पर निज - पर की चितवन से लज्जित,
युग-युग से गुण्ठित कुल का मुख, राहु - ग्रसित शशि वह श्री-विरहित !

कुहुक विजन में सहसा पी-खग जब उँडेलता सुख के मधु-घट,
किसी गुह्य माधुर्य - लोक में खुल - से पड़ते तब अन्तर - पट !
प्राणों में यह अमृत कहाँ से झरता ? कह उठता पुलकित मन,
स्वर्ग - विहग हित अन्ध - धरा ने व्यर्थ गढ़े कटु पिंजर बन्धन !

क्या इसमें नैतिक आध्यात्मिक समझ न पाता उसका अन्तर,
भाव-विकृति, तन - मोह, प्रकृति या ? क्षुद्र असंशय स्त्री - द्वेषी नर !
मधु ने कल पत्नी को पीटा उसे रात - भर कर घर बाहर,
मेले में हँस - बोल रही थी रामलला को कह वह देवर !

पारसाल ही तो घर लाया रंजन नयी वधू को सुन्दर,
दुखिया का सिन्दूर लुट गया, उसे देख आँखें आती भर !
लत्ते की गठरी - सी लुढ़की रहती सूने गृह कोने पर,
ठूँठी पतझर की टहनी - सी जिसे न भेटेगा कुसुमाकर !

नहीं जानती वह क्यों स्त्री के सिर पर कालिख - सा विधवापन,
बद्ध देह अर्पित समाज को, मुक्त हृदय मन प्रभु का भाजन !
क्यों न देह से ऊपर उर का स्नेह संचरण हो जन विस्तृत,
बँधा नाल से फूल, धरा में करता निज उर - सौरभ वितरित !

सोच रही थी, जड़ समाज को वह क्यों वेचे वलि - पशु - सा तन,
भैया का वह कार्य करेगी, जन - जन का होगा उसका मन !
हरि भैया का मधुर स्मरण कर उसका उर हो उठता पुलकित,
वह आदर्श प्रतीक युवक था छुटपन से स्मृति मन पर अंकित !

भौंरों की गूंजों - से धीमे बारहमासा के मीठे स्वर
पड़े सिरी के कानों में जब, सूरज चढ़ आया था ऊपर !
गाती थी युवती किशोरियाँ छप्पर के नीचे सब जुटकर,
जहाँ स्त्रियों का कला-शिविर था,—हरि का छोटा-सा प्रयोग भर !

पिता गाँव - मुखिया थे जन - प्रिय, पक्का सुथरा था घर - आँगन,
दक्खिन का दालान बड़ा था जिस पर डाल फूंस का छाजन
हरि ने तकली, चरखे, करघे जुटा, सिरी - कर से सचालित
खोला गृह - उद्योग - शिविर था, स्त्री-जन के जीवन - विकास हित !

बजती हों घण्टियाँ सुनहली, उठती थी कल कण्ठों से ध्वनि,—
पूस मास : कुहरे का डेरा, भींग गयी रँग की चूनर, धनि !
चकई - चकवा जमुना तट पर तिरते, मिला सुनहले प्रिय पर,
पहर न कटते पूस निशा के, श्याम विना डसता सूना घर !

माघ मास : बरछी - सी चलती हिम वयार, कँपता उर थर - थर,
पत्र नहीं आये प्रियतम के, बाहर - भीतर छाया पतझर !
कठिन तुषार, कुइँ कुम्हलायी, कहाँ राम - लक्ष्मण दो भाई,
वन - वन फिरती होगी सीता विलख रहीं कौशल्या माई !

फागुन में फूले वन के अँग, डाल पात मे छाये नव रँग,
मन की चूनर रँग ले, सजनी, होली खेलेगी साजन सँग !
मधु का गन्ध सँदेसा पाकर लौटे बिछुड़े भ्रमर छोड़ डर,
अलि, निर्मोही श्याम न आये, किसको भेंटूं फूल बाँह भर !

फूलों के झरने लटके थे घर के आगे चढ़ी बेल पर,
नारंगी रँग के गुच्छों की बगन - बेलिया लगती सुन्दर !
एक ओर चौपाल बना था, आर - पार के गाँवों के जन
जहाँ साँझ को सत्याग्रह पर चर्चा करते उत्कण्ठित मन !

आस - पास थे खेत, सुहाती खड़ी अँगूठे के बल अरहर,
भरमाता चाँदनी रात मे अलसी के फूलों का सागर !
गोरी मटरों पर परियों-सी सुरँग तितलियाँ फिरती चंचल
कृत्रिम नगरों से शोभा मे ग्राम प्रकृति - श्री के रंग - स्थल !

सिरी शिविर में घुसी, दृष्टि से, सहज हास से करती स्वागत,
घेर लिया उसको स्त्री - जन ने, नयी पौध थी उसकी अनुगत !
राष्ट्र - वन्दना गायी सबने—कर्म - भूमि, जय जनपद भारत !
कलकण्ठों से सित निनाद उठ खुला गगन मे स्वर्ण छत्रवत् !

कर्म - भूमि, जय जनपद भारत, जन - मन हो भू - रचना में रत !
तू ही जन - मन, जनगण जीवन, तुझमें हों सब लोग एक मत !
सिर पर स्वर्णिम शस्य - मुकुट स्मित, उर पर श्रम-मुक्ता स्रक् शोभित,
स्वर्ग बाँह हँसिया कटि पर स्थित, कर्म-कुशल, गति-प्रिय कर - पद शत !

सावन घटा सुहाती काली, हँसती सोने की हरियाली,
आम्र मौर की गाती डाली, षड् ऋतुएँ बरसातीं अभिमत !
जीवन शोभा शिल्पी हो मन, भू - स्वप्नों से अपलक लोचन,
सृजन - हर्ष जन - प्राणों का धन, संघर्षों में बल अप्रतिहत !

दृष्टि सत्य के प्रति हो जाग्रत्, लोक - कर्म हित भुज नित उद्यत,
अन्तर मे हो आस्था अक्षत, धरा - प्रीति हो जीवन का व्रत !
हम नव भारत की बालाएँ, मुक्ति - चेतना की ज्वालाएँ,
शील, स्नेह, सेवा मालाएँ,—राष्ट्र - शक्ति में हों जन परिणत !

लोक - बोलियों में वंशी के देश - भवित के थे सहगायन,
हिन्दी ही में सिरी केन्द्र का भरसक नित करती संचालन !
हरि कुंजी कहता भाषा को खुलता जिससे सामूहिक मन,
क्षेत्र वृत्ति से उठकर ही हम कर सकते जन राष्ट्र - संगठन !

कलाबाज कहता हरि उनको उडा कल्पना के कनकौवे
बोली का रँग दे गढ़ते जो अर्थहीन बिम्बों के हौवे !
जन - धरणी की प्रसव - व्यथा का जिसमे नही महत् उद्वेलन
बन्ध्या वह कवि कला, अहं प्रिय, लघु निजत्व की थोथी दर्पण !

तकली-चरखे लेकर स्त्रीजन सूत काततीं गा ऋतु - वर्णन,
नव जीवन-पट बुनतीं, धुनती नये विचारों से पिछडा मन !
सुनती गाँधी - गौरव - कीर्तन, राष्ट्र - जागरण के वन नायक
रामकृष्ण की पुण्य भूमि में प्रकट हुए जन - भाग्य - विधायक !

नम्र अवज्ञा, असहयोग का सिरी बताती गूढ प्रयोजन,
शस्त्र संगठित यन्त्र दैत्य को यह मानव का प्रेम निमन्त्रण !
रण - प्रांगण बनता जाता जग, बलि होते अगणित निरीह जन,
सत्य - अहिंसा ही कर सकते विश्व - ध्वंस से जन - संरक्षण !

सत्य धरा, शशि सूर्य,—मनुज का हृदय सत्य - दर्पण आस्था - स्थित,
जग को मिथ्या मान स्वयं भी कैसे रह सकते जन जीवित !
सत्य मनुज के सुख - दुख, जिन पर भू - जीवन करते जन निर्मित,
जग को माया कह, हम जग में रहे उपेक्षित, पीडित, शोषित !

मानव आत्मा की पुकार यह वह स्वाधीन रहे जग में नित,
पराधीन नर कठपुतले - सा पर - कर - परिचालित, जीवन - मृत !
महत् राष्ट्र के स्वाभिमान हित लोक - अभ्युदय सतत अपेक्षित,
यह स्वतन्त्र रह, विश्व - ऐक्य का स्तम्भ बने, बल-विभव - समन्वित !

यन्त्र - जर्जरित जग में जन को अपनाना कर - पद का उद्यम
विभव - भोग से, लोक - स्वास्थ्य हित श्रेयस्कर वैभव पर संयम !
पर - श्रम का उपभोग करे नर इससे सुखकर स्वयं करे श्रम,
जीवन विमुख रहे मन,—मति-भ्रम, इन्द्रिय सुख रत रहे,—नरक तम !

कतने बटने बिनने के सँग, उन्हें सिखाती वह सहजीवन,
घर - आँगन को सुथरा रखना, स्वच्छ, स्वस्थ, सुन्दर रखना तन !
रूई के अनगढ़ गाले - से तुम बीन जन - मन के दूषण,
वह सँवारती उन्हें सुरुचि से नव भावों से कर उर पोषण !

सोचा करती स्त्री कैसे हो जन - मन का संस्कार निरन्तर,
कैसी हो शिक्षा जिससे हम विकसित संस्कृत कर जन - अन्तर
निर्मित करें धरा - जीवन नव, विश्व - ऐक्य में बँधे परस्पर,—
उसको लगता मनुज - प्रेम ही भावी भू - मंगल का ईश्वर !

रचना - श्रम को लोक - क्षेम हित प्रथम स्थान देता उसका मन,
द्वेष - बुद्धि जिससे छोड़ें जन विकृति, प्रमाद, कलह, पर - लांछन !
मूल्य समय का समझें भू - जन, जगे अलस का जड़ खँडहर तन!
जीवन - रुचि का परिष्कार हो, शोभा का घर हो भू-आँगन,

मातृ - द्वार वह खोल गाँव में नवागतों का करने स्वागत
मा - बच्चे की देख - रेख को युवती सखियाँ रहती उद्यत !
शिशु का जन्म वधू - समाज को रहा सदा ही से आकर्षण,
शिशु - पालन - पोषण की शिक्षा पाती अब नव जनीं हृष्ट मन !

कहती स्त्री. सारल्य, खुला मन, सुथरापन ही स्त्री के भूषण,
पर - सेवा ममता - प्रिय हो उर, शील दृगों में, हँसमुख आनन !
भद्दे पीतल गिलट के कड़े गहने कुरुचि गढे कुरूप व्रण,—
घोर अशिक्षा, नरक दैन्य, भय, परवश भारत-भू के दूषण !

पास-पड़ोस घरों में घुमकर मिलती - जुलती सखियाँ जन से,
रोगी बूढ़ों को सँभालती भय अवसाद मिटातीं मन से !
लीप - पोत घर-चौक, स्त्रियों को जागृति का सन्देश सुनाती,
बच्चों के कपड़े सी - धोकर, नहला तन, हँस - खेल रिझाती !

खेत निरातीं, फसल काटतीं, जाँत चलाती गा - गा घर - घर,
मधुर कला - श्रम का गठबन्धन रही गाँव की प्रथा निरन्तर !
रंग गेहुँआ, तूती अँगिया, धानी लहँगा, प्याजी चूनर,
गाँवों की श्री चलती रँग पद, श्री के सम्मुख, आर्द्र सोन स्वर !

उसे स्मरण आता चन्दन का पलँग सँजो गीतों में सुन्दर
परदेशी की बाट जोहती कैसे ग्राम - वधू दुख - कातर !
सिरी सोचती इस धरती को राह देखनी जाने कब तक,
वह जन - जीवन स्वर्ग बन सके,—बिछे प्रतीक्षा में दृग अपलक !

अकर्मण्यता के मिटने से उसको लगता जन के मन में
सुप्त शक्ति अब जाग रही नव बिजली - सी हँस श्यामल घन में !
वह - छटा - सी उसके उर में जन-भू - वैभव से दिङ् मुकुलित
सामूहिक जीवन की शोभा गरिमा हो उठती नव जागृत !

सामाजिक जीवन की शोभा बहिर्जगत में हो श्रम - स्थापित,
मानव - आत्मा की गरिमा से भीतर जन - मन हो आलोकित,—
बहिरन्तर के संयोजन से धरा स्वर्ग हो शनैः प्रतिष्ठित,
तभी सत्य शिव सुन्दर जग में नित नव रूपों में हों विकसित !—

रह - रह उसे स्मरण हो आते भैया वंशी के सम्भाषण,
मन की आँखों में खुल पड़ता मधुर कल्पना - भुवन मुग्ध क्षण !
हरि ने नव आदर्शों में था ढाला उसका गुणग्राही मन,
आदर करती वह वंशी का, हरि को उर का स्नेह समर्पण !

श्रद्धा, प्रीति, सलीमा, आस्था उसकी थी विश्वस्त सहेली,
साथ जिन्होंने सेवा - पथ की कुण्ठाएँ बाधाएँ ठेली !
श्रद्धा कभी जबाला - सी ही विधवा युवती रही अकेली,
प्रीति कोख में आयी बरबस, कानि ग्लानि दुखिया ने झेली !

मेह धुली हिम दोपहरी - सी लगती अब वह सात्विक निश्छल,
हलके - से साँवले रंग का तिल का खेत खिला हो निर्मल !
मिटे कुटिल गति काल - चिह्न अब, गंगा - रेती - सी वह उज्ज्वल,
निर्विकार जीवन - रस - धारा बहती रीते उर में कल - कल !

चूल्हा - चौका कर हरि के घर श्रद्धा करती जीवन यापन,
देख - रेख उद्योग - शिविर की करती वह, रखती सबका मन !
घर की ही अंचल - छाया में हुआ प्रीति का लालन - पालन,
बढ़ी पान - परवर - सी सँग - सँग दोनों सखियाँ,—बीता बचपन !

समगुण - रूप गुलाब सेवती,—जन के गुण - दोषों से परिचित,
स्नेह शील, सेवा ममता प्रिय, मृदु स्वभाव से रखती मोहित !
सिरी ज्योति थी, प्रीति सुनहली छाया,—संस्कारों में पोषित,
एक प्राण थी, अन्य रूपसी काया,—स्नेह - डोर में गुम्फित !

तुलसी - चौरा पूज, गाय दुह, काम - काज घर का सँभालकर
हरि लौटा या नहीं देखने जगदम्बा ने ताका बाहर—
गृह - स्वामी के सँग माधो गुरु बैठे नीम तले आँगन में
शंकर से सिरी की मँगनी की चर्चा करते थे गोपन में !

शोध मुहूर्त, निकल शुभ क्षण में, अनुनय भर निज रूखे स्वर में
कहते थे गुरु, योग्य सिरी के वर के सब सद्गुण शंकर में !
खेत - बाग, घर - द्वार, उच्च कुल, मान - प्रतिष्ठा भय सब जन में,
तुम्हें ज्ञात ही, रघु, ऐसा घर नहीं दूसरा सौ योजन में !

पिता महेश आन के पक्के रहे, मानते बूढे ठाकुर,
लेन - देन था राजा के घर, दानशील थे, गाता यश पुर !
मेरे सब शिष्यों में शंकर बुद्धिमान, सच्चा जन - सेवक,
कौन नहीं जानता सिरी को,—रूप - शील - गुण का वह चातक !

लोग नित्य पैगाम डालते, पर मन में हठ ठाने शंकर,
तुम्हीं न जब तक हाँ - ना कर दो, वह न किसी को देगा उत्तर !
बुरा न मानो, कुल - मर्यादा, शास्त्रों का भी वचन सनातन,
रूई में लिपटे पावक-सा दाहक तरुणी का क्वारापन !

चिन्तातुर थे रघु, मन - ही - मन गुरु का करते थे अनुमोदन,
सोते - जगते उनके उर में काँटा - सा गड़ता नित गौनन !
शंकर - सा पति, जगदम्बा भी घर - वर का करती अभिनन्दन,
गौरी की मानती मनौती, गणपति का करती व्रत - पूजन !

किन्तु व्याह की स्वीकृति भरना—ज्ञात उन्हें था सन्तति का मन,
अश्रु - बाढ में डूब चुका था कई बार घर में छिड कटु रण !
हरि पर झुँझला कहते थे रघु,—तुमसे कुछ भी छिपा न, भाई,
बेटी बेटे की स्वदेश से स्वतन्त्रता से हुई सगाई !

बहा दिया मैंने गंगा में उन दोनों को पढा - लिखाकर
पार लगें, मँझधार बीच या डूब जायँ, जाने जगदीश्वर !
कौन प्रखर युग की धारा से लड़ सकता ? जन - मत की आँधी,
सत्याग्रह की नाव, अहिंसा डाँड़, सिद्ध जन केवट गाँधी !

मुँह बिचका गुरु, व्यंग्य हँसी हँस बोले, तीखा कर कड़ुवा स्वर,
राजनीति का फेर न यह, रघु, साढ़े साती आयी सिर पर !
स्यारों का वन-रोदन सुनकर सिंह छोड़ देंगे क्या जंगल ?
अंग्रेजी साम्राज्य भला क्या डला नमक का,—जो जाये गल !

पहरा देता सूर्य जहाँ नित वहाँ फटक सकता अँधियाला,
गाँधी ने बाजीगर का - सा गोरखधन्धा खूब निकाला !
सिर धुन, चरखा सूत कातकर देश भले बन जाय जुलाहा,
बुन न सकेंगे जन स्वराज - पट, तन - मन - धन सब होगा स्वाहा !

चुहिया खोदेगी पहाड़ क्या, या टिटिहा पाटेगा सागर ?
तोपों से लड़ रामराज्य या लेंगे पुड़क निहत्थे बन्दर !
ले भी लें, क्या अच्छा होगा गोरों से कालों का शोषण ?
लहर - बहर अब घर - घर में, तब क्या दो जून जुटेगा भोजन ?

स्वार्थ कूप, धन दारा सुत रत, सामन्ती प्रभुओं - से परिवृत,
चीन्हेंगे क्या दीनों का मुख, रामराज्य लायेंगे जनहित ?
खादी मढ़े पड़े पापों के देसी नेता, लोग न परिचित,
भेंट न सकेगा महलों में भी उनका पद - मद, जानो निश्चित !

सोच रहे थे गुरु मन में कुढ़ यह सब वंशी कवि की माया,
पड़ी शनीचर-छाया रघु पर जब से कपि सुन्दरपुर आया!
उलटा-सीधा समझा हरि को अपना लड़का किया पराया,
नही जानता माधो गुरु को,—देखूँगा किस मा का जाया!

प्रतिस्पर्धा रखते वंशी से गुरु माधव, ब्रज बोली के कवि,
गढ़ते छन्द कवित्त सवैये, सिद्ध राज कवि, अस्तंगत रवि!
फूट रहे थे जन-मानस में नयी चेतना के ऋतु-पल्लव,
बरसाता पावक मरन्द मधु वंशी का मादक वंशी-रव!

तन्त्र-मन्त्र-विधि के ज्ञाता गुरु, बडी मान्यता थी सब जन में,
डील-डौल के हट्टे-कट्टे आर-पार सब डरते मन में!
हँसे ठहाका मार, सोच कुछ, खैनी झार फटक, मुँह में भर,
बोले, रघु, तुम समझ-बूझ लो, अच्छा जय काली!—जय शंकर!

गुरु जाने ही को उद्यत थे गाँव-गाँव में घूम, सभा कर,
खेतों की मेड़ों से होकर लौट रहा था हरि प्रसन्न घर!
भाते उफनाते सागर-से खेल ईख के फूले सुन्दर,
हलकी फालसई चादर-सी लिपटी थी रेशमी दोपहर!

ढोरों की बोनी ठठरी कँप चरती, उजड़े थे हिम गोचर,
ज्वार बाजरे की करबी के ढेर मूस वन खरहों के घर!
पत्तों के कर से मुँह ढाँपे कुईं-हीन लगते उदास सर,
टँगे तापसों-से ऊसर में सारस जाँघिल एक पैर पर!

बीच-बीच में खड़े मँझोले रोमिल हरे बबूल सुहाते,
धूप महक उठती रँग-भीनी, नयन निरख छवि नहीं अघाते!
माधो गुरु को देख अचानक झुका लिया हरि ने निज मस्तक,
खद्दर चादर, गांधी टोपी,—रहे ताकते गुरु बाँधे टक!

कौन? अरे हरि? कहाँ पा गये, भैया, नेताओं का बाना,
बोले गुरु हँस, गिरगिट का-सा रंग बदलता नया जमाना!
मामाजी की घोड़ी, मेरी ही-हीं,—यह तुमने क्या ठाना?
वंशी-स्वर मे तुम्हे नचाकर किधर छिपे मधुवन में कान्हा?

पी कटु घूँट, सहज हरि ने हँस कहा, न बोली मारें, चाचा,
नेता क्या, मैं जन-सेवक भी नहीं, नचाया जिसने नाचा!
बात बदल, कुछ सोच, नरम पड़, बोले गुरु, अच्छा, हरि, आना,
मेरे मठ के चेलों को भी सत्याग्रह का गुर दे जाना!

यह कह, उठ, चल दिये तुरत गुरु,—जगदम्बा ने बाहर आकर
कहा, नहा-धो पहले, बेटा, खा-पी लो,—थककर आये घर!
जाने के दिन में लौटे हो दुबला तन ले, मुरझाया मुख,
खँटते तुम औरों के हित नित कब समझोगे अपना सुख-दुख!

भैया आये जान, उमँगती सिरी प्रीति आयीं द्रुत बाहर,
शिविर - प्रगति सुन, बोला हरि, मैं होता आया वंशी के घर !
पास दूर के सब गाँवों में हुए जहाँ भी मेरे भाषण,
असहयोग आन्दोलन में हैं गांधीजी के साथ सभी जन !

पुर में सभा बुलाने का अब हमें यहाँ करना आयोजन,
जहाँ सुनायेंगे सब साथी पद - यात्रा का विस्तृत वर्णन !
नमक बनाने, कर - बन्दी की तिथि का कर बहु - मत से निर्णय
सत्याग्रह की बलि - वेदी पर हम सब आहुति देंगे निर्भय !

ताली बजा, कहा सखियों ने, बोल महात्मा गांधी की जय,—
मुक्ति - यज्ञ में हम भी साझी होंगी, होम स्त्रियों का दुख भय !
इस प्रकार सुन्दरपुर का था केन्द्र बना हरि का घर - आँगन,
घट पुट में हँसता था युग शिशु उमड़ा था नव जीवन प्लावन !

दृढ़ संकल्प बनाता निर्भय निज पथ, सामूहिक जन-बल ही युग-जीवन-रथ !
जन-समुद्र का दुर्दम ज्वार न थमता, दुर्बल व्यक्ति सोचता रहता इति-अथ !

३. मुक्ति-यज्ञ

अलिखित ही रह जायेगी तव नव युग की गाथा निःसंशय,
जो भारत की मुक्ति - कथा तुम गाओ नहीं, गिरे, रस तन्मय !
कथा नहीं यह, कृच्छ्र साधना भू - जीवन - मंगल की निश्चय,
सत्य - अहिंसा की जय, कविते, नव भू - मानवता की युग - जय !

कौन चल रहा वह नर भूधर जन - धरणी पर ऊर्ध्व चरण धर ?
ऋषि अगस्त्य-सा लवण - सिन्धु को पी हँस-हँस, अंजलि-पुट में भर !
तुम प्राणों के लवण धरणि के, शुभ्र आत्म - बल करो संगठित,—
तेजोमय सात्विक वाणी में कौन सत्य करता उद्घोषित !

भू - जीवन लावण्य - सिन्धु यह, लोक लवण रस से सम्पोषित,
लवण प्रतीक स्वराज्य मुक्ति का, लवण सिन्धु - अंचल में संचित !
शक्ति शूल दर्पित लवणासुर, फूल अहिंसा, करो पराजित,
मुक्त जघन्य लवण - कर से हो लवण राष्ट्र का करो प्रमाणित !

लवण न वज्र कठोर मुष्टि में,—दृढ़ संकल्प, सत्य अपराजित,
जन्म मरण क्षण,—आत्म वह्नि कण, जो वाड़व बन सकता जीवित !
कौन छीन सकता मुट्ठी से सत्याग्रह का लवण,—मुक्ति पण,
प्राण छूट जायें, छूटेगी आन न, व्रत भू - पथ का साधन !

वह प्रसिद्ध दाँडी - यात्रा थी जन के राम गये थे फिर वन,
सिन्धु तीर पर लक्ष्य विश्व का दाँडी ग्राम बना बलि - प्रांगण !
लवण - द्वीप में थी सागर के लोक मुक्ति बन्दिनी, विमूर्छित,
अत्याचार, अनय, शोषण के रक्त खड्ग दैत्यों से परिवृत !

नमक बनाना ध्येय नहीं था,—तीस कोटि भारत जनगण का
वह प्रतीक विद्रोह - पर्व था, दृश्य ऐतिहासिक युग - क्षण का !
गिने - चुने साधक सँग लेकर बढ़े असंख्य चरण, दो पग बन,
वह प्रेरित स्वर्गिक मुहूर्त था जड़ भू - शिला बनी नव चेतन !

उन्नत मस्तक पर नर वर के रक्त तिलक रोली का शोभित
भारतीय स्वातन्त्र्य - सूर्य - सा पूर्व भाल पर लगता दीपित !
वह चौबीस दिनों का पथ व्रत दो सौ मील किये पद पावन,
स्थल - स्थल पर रुक, पा जन - पूजन, दिया दीप्त सत्याग्रह दर्शन !

देख कूच वह, कूच कर गये शासन के देवता बुद्धिहत,
बढ़ता अभय समग्र राष्ट्र था एक व्यक्ति बन पर्वत - उन्नत !
शुभ्र मौन अभियान सत्य का,—जग प्रयाण करता जन - भू बल,
चकित दृष्टि देखता विश्व था मूर्तिमान हो मानव - मंगल !

प्राण त्याग दूँगा पथ पर ही उठा सका मैं यदि न नमक - कर,
लौट न आश्रम में आऊँगा, जो स्वराज्य ला सका नहीं घर !
वीरोचित वर आवेशों से सुलग रहा था बापू का मन,
पदयात्रा को निकले जब वह व्याकुल थे जन, पुलकित सुरगण !

वह प्रकाश - गति से द्रुतगामी अहिंसकों का था पैदल दल,
फैल रही थी वन - दावा - सी जन - जागृति पग - पग पर प्रतिपल !
भार - मुक्त लगती जन - धरणी, जन - मन उठ, उड़ता हो ऊपर,
पशु - बल के जड़ तमस - क्षेत्र में आत्म - तेज चलता हो भू पर !

कितने ही सोये युग सहसा जाग उठे, वह था अपूर्व क्षण,
कोटि जनों का, कोटि युगों का वह अद्भुत नव पुनरुज्जीवन !
लोक - प्रगति का देव - दूत वह तीस कोटि का रहा कुली जन,
विश्व चमत्कृत सोच रहा था क्या भारत की सिद्धि, साध्य धन ?

दया - द्रवित था हुआ स्वर्ग - उर दक्षिण अफ्रीका की भू पर
जहाँ प्रवासी भारत सहता गोरों के उत्पात निरन्तर !
वहीं प्रथम सत्याग्रह - असि को युग - नायक ने धरा सान पर,
नम्र अवज्ञा से जय पायी अन्यायी का क्रूर मान हर !

मन जलता विद्रोह - वह्नि में, हृदय क्षमा - सागर था शीतल,
घृणा पाप से करता युग - नर, पापी दुर्बल का था सम्बल !
राजनीति के कृमि - कर्दम में संस्कृति का केतन कर स्थापित
धोने आया वह भू - किल्विष सत्य - अहिंसा पावक से सित !

हिंस्र जगत् में उगा महत् वह मनुज दया का माखन पर्वत,
देखा सम्मुख काल ग्राह से कवलित स्वर्गवाह गज भारत !
शुभ्र तिमिर के आत्म गर्त में गिरा युगों से वह सिर के बल
कर्म - प्रेरणा - शून्य, विरागी, अन्ध रूढ़ियों का जड़ जंगल !

जन समाज से विमुख, स्वार्थपर, जाति - पाँति पथ मत में खण्डित,
विश्व - विरत वह, आत्म-मुक्ति-रत, दुख दारिद्र्य नरक, जीवित-मृत !
देख रहा था जग विस्मय - हत पुण्य भूमि का नव्य जागरण,
युग - युग के बाष्पों से अमलिन, सत्य दीप्त था अन्तर - दर्पण !

काल जीर्ण धूसर खँडहर से आभा रेखाओं में अंकित,
जीवन का प्रासाद अलौकिक जाग रहा था पूर्ण अखण्डित !
मन: कक्ष था प्रज्ञा विस्तृत, हृदय कोष्ठ प्रेमाऽमृत सिंचित,
सिर पर स्वर्णिम सत्य - कलश था अक्षय आत्म - ज्योति से दीपित !

नया चेतना - पृष्ठ खुला हो मिटा भेद भय, मन का संशय,
हिंस्र शक्ति से मत्त जगत को मिला प्रेम - बल का नव परिचय !
देश राष्ट्र में भक्त धरा पर हँसने को था नव स्वर्णोदय,—
देख रहे थे शोपक शोपित मनुज - सत्य का महत् समन्वय !

अन्तरैक्य में बँध मानवता धरती पर रह सकती जीवित,
बाह्य विविधता, बहु की समता जिसके बल पर ही अवलम्बित !
नम्र अहिंसा की क्षमता से दैन्य, अनय, अघ पर जय पाकर
मनुष्यत्व था जन्म ले रहा पाशवता की क्रूर क्रोड़ भर !

विश्व शिखर पर नये कल्प का उदय हो रहा था नव पूपण,
मनुज अहं की हिंस्र वृत्ति पर फहरा चित् स्वर्णिम जय केतन !
आत्म - शक्ति के सौम्य तेज से कँपता अरि का अन्तर थर-थर,
कहाँ छिपाये निज कुरूप मुख पशु - बल, लोक - लाज से मर-मर !

सोच रहे थे जग के बौद्धिक कैसा अद्भुत, रक्त - हीन रण,
अस्त्र - हीन जन हँस - हँस करते प्रतिपक्षी को आत्म - समर्पण !
क्या भू की उपलब्धि युगों की कैसा रहस् सूर्य वह गोपन ?
आत्मा की अनुभूति अलौकिक, श्रद्धा आस्था का भू - जीवन !

योग, त्याग कैसा तप - संयम ? स्पर्श परात्पर का उर पावन,
भव द्वन्द्वों से परे मन:स्थिति शाश्वत सुख, भगवत् मुख - दर्शन !
यम नियमों में शुभ्र संगठित कैसे वे चेतना - प्राण - मन ?
अन्तर रचना में रत अविरत सर्व भूत हित प्रेरित प्रतिक्षण !

द्रष्टा ऋषि - मुनियों की भू का क्या विशिष्ट गुण, जप - तप अर्जित ?
ऊर्ध्व प्राण हो समाधिस्थ मन कैसे रहता शान्त आत्मस्थित ?
अन्तर जग का रे वैज्ञानिक सत्य - शोध - रत भारत तन्मय,
क्षर भूतों में उसे दिखा था शाश्वत का स्मित मुख ज्योतिर्मय !

मनुष्यत्व का तत्त्व मिला था हृदय - गुहा में अकलुप अक्षय
प्रीति - धाम सित जो ईश्वर का जन के भीतर नित्य अनामय !
चित्प्रकाश - सागर में डूबा बाहर जब निकला तद्गत मन,
देखा उसने, निखिल विश्व था दिव्य शक्ति का लीला - प्रांगण !

इन्द्रिय - द्वारों में था गुंजित चिदानन्द, विपयों में कुसुमित,
वहिर्दृष्टि के कलुप भेद तम सत्य - ज्योति में हुए निमज्जित !
बाहर के तम से अन्तर - तम महानाश का वाहक निश्चित,
जग के हित आदर्श वही स्थिति वहिरन्तर जब युगपत् ज्योतित !

भू - जीवन - पथ अभी अविकसित, बहिर्दैन्य कर उसने स्वीकृत
निज अन्तः साधना निरन्तर धरी विविध विघ्नों मे जीवित !
मानवीय जीवन पदार्थ रे भारतीय जन का तप - संस्कृत,
निखिल विश्व - जीवन मंगल हित सचराचर के प्रभु को अर्पित !

मध्य युगों से योग त्याग तप अपर लोक - सुख - कामी बनकर
सिर के बल चलते, थो ऊपर, खड़ा उन्हें होना था भू पर !
जीवन - विमुख, विरक्त, शून्य - रत, जाति - पाँति मे दीर्ण जीर्ण नर,—
उनको चलना था यथार्थ की दृढ़ भू पर सामूहिक पग धर !

आत्म - मुक्ति के रिक्त गगन में भटके जन - मन को दिखला पथ,
रूढ़ि रीति कर्दम से निष्क्रिय था उबारना भू - जीवन - रथ !
प्रेम निखिल जीवों का ईश्वर, प्रेम मूर्त हो मनुज - धरा पर,
प्रेम - शक्ति पशु - बल से अविजित, प्रेम - सूत्र मे बँधे चराचर !

घृणा घृणा से नहीं मरेगी, बल - प्रयोग पशु साधन निर्दय,
हिंसा पर निर्मित भू - संस्कृति मानवीय होगी न, मुझे भय !
जीवन - मूल्य विकृत हो भय से मानव सुख नित करते कुण्ठित,
काम, क्रोध कटु राग - द्वेष का नरक धरा पथ, कलह कण्टकित !

बहिर्विजित भौतिक युग-मन से कहे वचन उसने प्रज्ञा स्मित,—
बाह्य परिस्थिति के वैभव से श्रेयस्कर अन्तर्वैभव नित !
भूत प्रकृति पर विजयी नर को अपने पर जय पानी निश्चय,
मनुज मनुज बन सके—इसी मे पशु की भी सन्तुष्टि, न संशय !

ध्यान मौन, सत्कर्म मुखर वे, लोक - श्रेय हित जीवन अर्पित,
नीति पुरुष वर, न्याय वपुष धर, शील शुभ्र खादी में मण्डित !
अनासक्त, आनन्द - मूर्ति नित, जन - सेवक, नर नरपति वन्दित,
देवदूत - से हँस-हँस करते स्वर्ग - ज्योति जन - भू पर वितरित !

भारतीय स्वातंत्र्य - युद्ध था मनुष्यत्व का भू पर युग रण,
अन्तः रिक्त, बहिः समृद्ध जग हिंसा स्पर्धा का था प्रांगण !
भूत तमस में खोये जन को आत्मा में होना था केन्द्रित,
देह - प्राण - मन के पिण्डों को हृदय स्पर्श पा पुनरुज्जीवित !

सत्य अहिंसा से वे सविनय युग - जन का करते संचालन,
हिंसक, पाशवता के पूजक चौन्हें मानवता का आनन !
किन्तु, हिंस्र पशु था भूचर नर, वज्र क्रूर उसका विमूढ़ मन,
मनुज - रक्त का प्यासा कटु उर, दृष्टि - हीन पुट अन्तर - लोचन !

दमन - चक्र चल पड़ा निरंकुश कुत्सित था नर - पशु का नर्तन,
अमानुषी पाशव नृशंसता, रोमांचक आसुरी प्रदर्शन !
अस्त्रहीन निर्दोष जनों पर अन्ध हिंस्र बल का प्रहार खर,
सौम्य सजग, अनुशिष्ट मनों पर वह था अत्याचार भयंकर !

चरु की स्निग्ध घृताहुति पा ज्यों हो उठती मख - वह्नि प्रज्वलित,
विनत अहिंसा की नर - बलि पा पशु का दर्प हुआ उत्तेजित !
नमक छिड़कता कुमति कटे पर क्रूर कृत्य को बना क्रूरतर
देह दण्ड के सँग प्रचण्ड अरि स्वर्ग खण्ड को अपमानित कर !

भारत - नायक को कारा में ठूँस, दस्यु ने सोचा,—दुर्धर
ज्वार कुचल देगा समुद्र का वह जन - शशि को पिंजर में धर !
ज्ञात न उसको भारत - आत्मा जनमी कारागृह के भीतर,—
बाहर भी बन्दी ही थे जन, उन्हे न था कृष्णायन का डर !

जनगण के नेताओं को चुन बन्द किया क्या,—जड़ मति शासन,
भारत की बन्दी आत्मा को मुक्त कर दिया, निर्भय अब मन !
लहरों पर लहरें अदम्य ज्यों टकराती तट से झंझा - हत
अहिंसकों की भीड़ टूटती लवण - राशि पर,—तन क्षत - विक्षत !

लवण उदधि में, लवण अवनि में, लवण गया था अम्बर में भर,
लवण वायु - पंखों पर उड़ता, लवण छा गया था जन - मन पर !
स्वाभिमान, सर्वस्व देश का लवण प्रेरणा का बन पर्वत
जड़ से चेतन शक्ति बन गया, राष्ट्र - मुक्ति का वाहक शाश्वत !

सन् सत्तावन का विप्लव था लोक - द्रोह से प्रेरित निश्चित,
वन - दावा - सा फैल, बुझा जो, जन - भू - बल था तब न संगठित !
सामन्ती उच्छ्वास रहा वह राष्ट्रिय आदर्शों से विरहित,
आंग्लों की बर्बरता अब तक कुलिश नोक से उर में अंकित !

टोपे था वीरों की टोपी, रानी शीर्ष - मुकुट शौर्य - स्मित,
अपने ही पुत्रों की असि से भारत - मा तब हुई पराजित !
गोरों का बदला नृशंस था, जाति - दर्प से थे वे पीडित,
हत्यारे युग से शिक्षा ले, जन - मन उसको कर दे विस्मृत !

सामन्ती विद्रोह रहा वह अभिनव वैज्ञानिक युग के प्रति,
रीढ - भग्न भू - परम्परा की मोड रूढ़िगत दी जिसने गति !
लोक - चेतना लगी खोजने नव युग संयोजन, स्वर संगति,
छूटा मोह मृतक अतीत का देख विश्व - मुख चेती जन - मति !

शान्त शिष्ट सब रहे देश जन बापू के कारा - बन्धन पर,
उनका था आदेश, अतीजन रचना - कार्य करें रह तत्पर !
राष्ट्र संगठन का अनुशासन प्राण,—कार्य क्षमता का दर्पण,
सत्याग्रह का भाव - पक्ष ध्रुव कर्म - शक्ति का सात्विक सर्जन !

शुद्ध अहिंसा की प्रतीक शुचि खादी,—कातें पूत सूत जन,
तकली - चरखे, करघे ढाँपें नगे भूखे भारत का तन !
धरना दें नारियाँ, करें सब मदिरा अस्पृश्यता निवारण,
त्याग विदेशी वस्त्र, कात - बिन हों सम्पन्न दरिद्रनरायन !

सक्रिय, मुखर, अहिंसा ही अब सत्याग्रह का कर आवाहन,
मूक अहिंसा का युग बीता वह थी जन - शिक्षा की साधन !
अस्त्र - शस्त्र से सज्जित नर - पशु शृंगी दंष्ट्रा पशु से भीषण,
मनुष्यत्व की ज्योति जगाने निर्भय शीश करें जन अर्पण !

घृणा-पंक में सना धरा - मुख प्रेम - रक्त से कर प्रक्षालन,
अन्ध अहं - कुण्ठित भू-मन के स्वर्ग दया से भरें नरक व्रण !
खुले स्वार्थ - तम - रुद्ध हृदय में आत्म - त्याग का सित वातायन,
देश जाति खण्डित भू देखे राम-राज्य का ज्योति जागरण !

राजद्रोह अब धर्म हमारा, भू - अभिशाप विदेशी शासन,
वह भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक महा नाश का दारुण कारण !
महा पाप, क्षय, काल - कूट विष, जन जिसके वश जड़ मूर्छित मृत,
सामाजिक सांस्कृतिक रक्त के शोषण के शव, कृमिवत् जीवित !

हँसते जन अरि बाहर भीतर कह उसको नमकीन मुक्ति - रण,
यह स्वराज्य भी बड़ा सलोना होगा, कहते स्वामि - भक्त जन !
क्या था तब भारत ? शतियों का दैन्य दासता दुख का खँडहर,
पर - शिक्षा - संस्कृति में पोषित, धन - जन - मन से शोषित, जर्जर !

खाद्य वस्तु, अनगढ़ द्रव्यों का वह अनन्त - मुख स्रोत निरन्तर,
चाटुकरों, पर - रण वीरों का क्रीत दास, प्रभु - भक्तों का घर !
प्राण दान करने प्रभु के हित जिसके मृत सुत रहते तत्पर,
वेच राष्ट्र सम्मान उसे, जो ले स्वतन्त्रता स्वर्ग श्वास हर !

मध्य युगों से जाति - पाँतियों मुण्ड मतों में बँटे क्षुद्र जन,
रूढ़ि रीतियों के घेरों में बन्द, अपरिवर्तन - कामी मन,
कुल - वंशों के, गोत्र - श्रेणि के ढीठ दर्प के खोले विष फण,
सम्प्रदाय के कुण्डल मारे निष्क्रिय अजगर,—अजागल - स्तन !

स्वर्ण - भूमि भारत, जिसके पद धोता नत - मस्तक रत्नाकर,
निर्निमेष रहता जग, जिसकी अतुल स्वर्ग - सम्पदा निरखकर !
जिसके उर में खुला स्वर्ग का द्वार,—दीप्त चैतन्य दिगन्तर,
आज पराजित, आत्म - मूढ़ वह, दिग् - गज - सा पथराया भू पर !

ह्रास - तिमिर से ग्रस्त, अविद्या त्रस्त,—अर्थ पद मद हित कातर,
जन समाज से विरत, व्यक्ति रत, राग - द्वेष में भक्त परस्पर,
शोषक के रक्षक, जन - वंचक, भग्न रीढ़ जिसके विपन्न नर—
ऐसा भारत बन सकता था प्रभु - सिंहासन की सीढ़ी - भर !

भातर ही के क्रीत - दास - सुत मा का उर करते पद - मर्दित
नत सिर पर प्रभु - पद - त्राण थे शिरस्त्राण - से जिनके शोभित !
शिष्ट, मुक्ति के व्रती अहिंसक दिखलाते अप्रतिहत साहस,
सत्याग्रह के स्वर्ग - दूत हँस धोते शतियों का भू - कल्मष !

उद्यत जाग्रत् भारत सारा कारागृह में था तव जीवित,
बना श्मशान महान देश को साँस भार ढोते वाहर मृत !
हृदयवान सब घायल थे तब, हृदयहीन पत्थर, जन घातक,
अग्नि - वृष्टि सहते मर्माहत मुक्ति - स्वाति के याचक चातक !

लगा बाह्य तम के सागर में बुझ न जाय सात्विक प्रकाश - कण,
पर, वह वाडव वनकर धधका ग्रात्मा का स्फुलिंग नव चेतन !
भारत के कोने - कोने में फैल गया सन्देश मुक्ति का,
उलटा ही फल हुग्रा जगत में ग्रन्यायी की दमन युक्ति का !

धरसाना फिर, लुटा वडाला,—पुण्य लूटते देश - भक्त जन,
दृष्टि - शून्य ग्ररि ! तीर्थ क्षेत्र को बना दिया शोणित रण - प्रांगण !
इधर चली झट लाठी - गोली, फूटे स्फोटक भर दिग् - गर्जन,
हड़तालें, प्रतिरोध सभाएँ उधर देश में चली प्रतिक्षण !

स्वर्ग - धौत, बलवती बनी भू सत्याग्रह में रक्त - स्नान कर,
हुए गौरवान्वित निरस्त्र जन मुक्ति - यज्ञ हित ग्रात्म - दान कर !
महत् त्याग की रजत - वह्नि में स्वर्ण तप्त हो रुग्ण प्राण मन
भारतीय चैतन्य तेज के पात्र बन सके जीवन पावन !

सच्चे साहस, शौर्य त्याग से दीप्त, युवतियाँ थीं उन्मेषित,
जगी ग्रहिंसा मूर्त रूप धर भारत - लक्ष्मी में ग्रभिषेकित !
कोमल ग्रंग भले हों विक्षत, धैर्य, मनोबल में ग्रप्रतिहत,
पहन केसरी बाने फिरती रण - चण्डी बन, लिये मुक्ति - व्रत !

शुद्ध प्रेरणा से ही निर्मित करते लोक - पुरुष भावी पथ,
उन्हें पूर्व कल्पना न रहती क्या स्वराज्य का निश्चित इति ग्रथ !
ग्रन्तरतम की ज्योति - किरण से हो उठते मन - बुद्धि प्रकाशित,
शुभ्र ध्येय से उन्मेषित वे लोक - कर्म करते निर्धारित !

कोलाहल के कृत्रिम युग में मौन दिवस रखते वर युग - नर,
वागिच्छा पर संयम रखने,—सत्य न बन जाये ग्राडम्बर !
मुखर तर्क के शब्द - जाल में भटक न खो जाये ग्रन्तः स्वर,
गुरुता से सौजन्य, बुद्धि से हृदय - बोध था उनको प्रियतर !

युद्ध- नीति बाने में लगते मूर्त ग्रहिंसा सत्य ग्रलौकिक,
पशुबल के हो हिंस्र क्षेत्र पर ग्रात्म - शक्ति की जय भौगोलिक !
भौतिकता के प्रतीकार में ग्राध्यात्मिकता का सक्रिय रण
मनुज हृदय - परिवर्तन करता प्रेम - स्पर्श से पूज घृणा - व्रण !

कारा में भी रहे कर्म - रत, मुक्तात्मा को क्या भव - बन्धन ?
किया ग्रामरण व्रत, ग्रजेय रह, बना ऐतिहासिक वह ग्रनशन !
भारत - ग्रात्मा एक ग्रखण्डित,—रहें हिन्दुग्रों में ही हरिजन,
जाति - वर्ण - ग्रघ पोंछ, चाहते वे संयुक्त रहें भू - जनगण !

विजय हुई भारत - आत्मा की खण्डित नहीं हुआ जन - भू - मन,
शान्ति निकेतन के ऋषि आये व्रत का करवाने उद्यापन !
छुआछूत का भूत भगाने किया व्रती ने दृढ़ आन्दोलन,
हिले द्विजों के रुद्ध हृदय - पट, खुले मन्दिरों के जड़ प्रांगण !

भारत - मस्तक का कलंक यह—जाति - पाँतियो में जन खण्डित,
जहाँ मनुज अस्पृश्य चरण - रज, राष्ट्र रहे वह कैसे जीवित !
वर्णों की पावन कारा से मुक्त हुआ चिर बन्दी ईश्वर,
देखा सबने युग - प्रकाश मे अंग ईश के निखिल चराचर !

पिछड़े भीरु नगर, गाँवों ने फहराया आस्था का केतन,
तर्क - बुद्धि अटकी, श्रद्धा ने कर्म - वचन - मन किया समर्पण !
मतवादों के कुहरो से कढ कर्म - शक्ति का जागा पूषण,
चमत्कार कुछ हुआ अकल्पित शिविर बन गये ग्राम, खेत, वन !

काल ध्वस्त जर्जर जन - खँडहर जाग उठा बन जीवन - मन्दिर,
स्वर्ण - कलश धर यश: भाल पर खडी हो गयी गिरी भित्ति फिर !
शतियों के हत पतझर वन में फूट पडा मधु - यौवन शोणित,
नग्न, रक्त - शोषित तन पंजर हुए नव्य जीवन उन्मेषित !

जगे खेत - खलियान, बाग - फड, जगे बैल, हँसिया - हल विस्मित,
हाट - बाट गोचर घर - आँगन, वापी पनघट जगे चमत्कृत !
मोट गडारी नार जगत जग लगे माँडने मुक्ति शस्य स्मित,
अँगडाई ले जगा पुरातन युग-युग से जड, निष्क्रिय, निद्रित !

कोई नृप हो हमें हानि क्या ?—अब न सोचता कुण्ठित जन - मन,
राम - राज्य - स्वप्नों मे डूबे थे यथार्थ - दर्शी जन - लोचन !
हाथ - पैर धरती के अगणित सहसा शाप - मुक्त, नव चेतन,
जाग उठे पावक प्ररोह - से, मुक्ति स्पृहा हो मत्त समीरण !

पृथ्वी - पुत्रों ने स्वराज्य को आत्म - दान निज दिया प्राण - पण,
बिके खेत पुर द्वार, जले घर, लुटे बहू मा बहिनो के तन !
युद्ध - शिविर बन गया देश सब नि.शस्त्रो पर सैनिक शासन,—
पशु - बल के शत कुण्डल बाँधे काल - सर्प साधे हो आसन !

क्षीरोदधि तज लवण - जलधि में सोते अब हरि कलि - भय कारण,
उन्हें जगाने गये महात्मा सिन्धु तीर, करने स्तव पूजन !
लौटेंगे पाकर प्रभु - वर वे कहते खेड़े - पुरवे के जन,
भौतिक राक्षस से पीड़ित भू उनके साथ गयी सित गो बन !

अन्तिम साँसो की डोरी - से प्राण - हीन कँचुल - से नि:स्वर,
त्रस्त सैन्य अत्याचारों से ऊँटों बैलों पर लादे घर,
लीक बाँध रेंगते डगर पर नंगे भूखे बाल वृद्ध नर,—
गाँव उजड बनते निर्जन वन, सर्वनाश का हो खर पतझर !

सुन्दरपुर का सत्याग्रह भी अलिखित पृष्ठ रहा युग - रण का,
आत्म - त्याग का पर्व अलौकिक, उत्सर्गो का उत्सव जन का !
सामूहिक - कर भर दरिद्रता बनी दिगम्बर रह अपराजित,
स्वतन्त्रता हित मर मिट जनता हुई रक्त - बलि दे महिमान्वित !

हाड - मास - ठठरी में इतना शौर्य वीर्य रह सकता पुंजित
बलिदानों की व्यग्र होड़ पर शत्रु तिलमिला उठता विस्मित !
धैर्य - त्याग, सत् - शौर्य श्रेणि उठ स्वर्ग - क्षितिज को करती दीपित,
अमर शिखा थी मुक्ति - चेतना—जन शलभों - से होते अर्पित !

अकस्मात खर झंझा से हों भूमिसात् पुर मठ घर छप्पर
छितर अँतड़ियों - से बिखरे थे घास फूस बाँसो के टट्टर !
घायल अंगो का जंगल था सुन्दरपुर, जन - जीवन दूभर,
मृत मानव - आत्मा के शव पर नर्तन करता पशु - बल बर्बर !

माघो गुरु के हथकण्डों से शंकित रहते सरल ग्राम - जन,
घर के भेदी बन, सिखलाते वे अरि को नित चालें नूतन !
हरि का घर अब भग्न ढूह था कारा में बन्दी उसका तन,
सत्याग्रह का नेता था वह ग्रामीणों का सखा, हृदय - घन !

वंशी को पिटवाकर गुरु ने किया कूट खल नेता घोषित,
लाठी की खा चोट, फटा सिर रहा रक्त लथपथ वह मूर्च्छित !
मन की टीस मिटा माघो ने छल - बल - चक्र चलाया कुत्सित,
मधुर सिरी की रक्षा के हित किया मुग्ध शंकर को प्रेरित !

कारात्रास मिला वंशी सँग हरि को—जनगण से अभिनन्दित
गये कृष्ण - गृह वे, जय - ध्वनि से हुआ गाँव का गगन निनादित !
स्नेह - डोर में बँधे सहज जन, तन से अधिक मर्म से आहत,
हरि से बिछुड़ बिलखते मन में, दृग पथ में बिछ करते स्वागत !

बन्दी हरि वंशी को स्त्री ने विहँस विदा दी वाष्प विलोचन,
पौरुप - हीन, विभीत मध्य युग बहा चुका वह आह - अश्रु - कण !
सत्याग्रह का असि - पथ नूतन, मानव - गौरव का कर रक्षण
लोक - यज्ञ की शुभ्र अग्नि को हँस-हँस जन करते तन अर्पण !

सखियों सँग अग्रणी सिरी ने झण्डा उठा, किया सत्याग्रह,
स्नेह - ढाल बन उसे बचाया शंकर ने बल्ले ठोसे सह !
प्रेम - वाण से विद्ध - प्राण मृग गिरा रक्त - श्लथ, तन से विक्षत,
आत्म - त्याग से छुआ सिरी का सदय हृदय उसने दृढ व्रत रत !

प्रीति कीर्ति ने उसे सँभाला, दिया सिरी ने स्नेह प्रबोधन,
स्वस्थ देह मन शंकर ने उठ चुना स्वयं कारागृह - जीवन !
गुरु सुनकर हँस दिये,—अनुभवी थे वे, घटना थी साधारण,
धैर्य शौर्य ही अस्त्र प्रेम के,—आत्म - विजय पर थे प्रसन्न मन !

सोचा गुरु ने शंकर के प्रति सिरी सहज मन से आकर्षित,
सहृदय, स्नेह निलय वह,—शंकर सुन्दर, सौम्य, तरुण, निर्भय चित !
वंशी के खल बंगुल में फँस सरल प्राण हरि सिरी प्रवंचित,
नरभक्षी तरु वह, जो बाहर लगता अनघ, अहिंस्र, नम्र नित !

माधो ऐंठी द्वेष - रज्जु थे अहम्मन्य, यश - स्पर्धी, उद्धत,
सोचा करते, ढोल उन्हीं का पीटे जग, चरणों पर चिर नत !
पाँव न धरने दूँगा पुर में मैं वंशी को,—कर दृढ़ निश्चय,
ठठा, प्रेत - से लगे घूमने मरघट - से पुर में वे निर्भय !

एक दशक बीता दुख संकट भय संशय तम में, विषाद में,
शत्रु पैंतरे रहा बदलता निज नृशंसता के प्रमाद में !
चेता शनैः निरंकुश अरि - मन लगी तिक्तता रक्त - स्वाद में,
भारत हित में था युग - जन मत, शुद्ध - ध्येय सित मुक्ति - नाद में !

डिगा नहीं भारत ध्रुव पथ से पा झूठे रीते आश्वासन,
लिखे रह गये, काल - पृष्ठ पर रिक्त सन्धियों के आयोजन !
राजनीति के कुटिल चक्र में विश्व न्याय का कर आवाहन
अड़ा रहा वह सत्य शिखर - सा,—जन - भू - मन का हो आरोहण !

युग - जीवन का हालाडोला था विहार - भूकम्प चिह्न भर,
धूल धुन्ध से अन्ध क्षुब्ध मन, जीवन आवेशों से जर्जर !
क्षोभ, रोष, अवसाद, निराशा मन्थित करते हत जन अन्तर,
स्तम्भित - सा हो गया काल था रुद्ध नियति - गति, छिन्न प्रगति - पर !

भाग्यहीन हत पराधीन भू, काल पड़ा बंगाल देश में,
युग - जीवन की नग्न चुनौती लायी मृत्यु कराल वेश में !
सदियों के पिचके पेटों ने किया क्षुधार्त करुण वन - रोदन,
था दुकाल निर्मम प्रतीक - भर, कब से भूखे भू के जनगण !

क्या कर लेंगे सभ्य निहत्थे व्यग्र सोचते शंकित मन जन,
आग उगल, बम बरसा खल अरि जो नगरों को कर दे निर्जन !
ज्ञात न उनको, अहिंसकों की तप्त राख से उमड़ अग्नि - घन
शस्त्र - नद्ध साम्राज्यवाद को फूँक, भस्म कर देंगे तत्क्षण !

अन्यायी के क्रूर हृदय में जब विद्रोह भड़कता भीषण,
उस अन्तर्मन के विप्लव को रोक नहीं पाते शत रावण !
युद्ध - नीति की मर्यादा भी होती विश्व - मनन के आश्रित,
कुटिल कंस का निधन नियत ध्रुव, फिर - फिर करता काल प्रमाणित !

दैव दग्ध ऐसे ही क्षण में पश्चिम के नभ में बल - दर्पित
धूमकेतु उद्दण्ड उगा नव, राष्ट्रों को करने आतंकित !
पूँजीवादी युग के वित्त का उद्धत फण, दारुण मणि विषधर
साम्राज्यों को लगा निगलने दानवीय घर आहुति दुर्धर !

हिंसा प्रतिहिंसा से लोहा लेती, युग मन का कर मन्थन,
शक्ति शक्ति को नग्न रौंदती, वह था जग हित आत्म-बोध क्षण !
नमक फूटकर लगा निकलने चेता विजित मदान्ध शत्रु मन,—
स्वर्ग दाय - सी शुभ्र अहिंसा निखर उठी संकट में पावन !

नमक - मिर्च बहु लगा ग्राम - जन मित्र - राष्ट्र का गाते परिभव,
अवचेतन में क्रुद्ध, मनाते विजय धुरी-राष्ट्रों की नित नव !
सुज्ञ जानते, मनुज धरा पर छिड़ा अशुभ - शुभ में फिर युग रण,
संकट - क्षण में नहीं सुहाता अरि का घाव दुखाना गोपन !

आंग्ल देश के प्रति वह केवल क्षण आवेश रहा जन - मन में,
प्रगति पुरस्सर राष्ट्र रहा वह पूँजीवादी युग - जीवन में !
हृदयवान् थे आंग्ल, भले ही हमें छेड़ना पड़ा न्याय - रण,—
मुक्ति माँगती रक्त - दान नित, मुक्ति माँगती पूर्ण समर्पण !

पर, साम्राज्य - स्पृहा से पागल, अरि न अशुभ के प्रति था जाग्रत्,
वह आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक शोषण था भारत - भू का हत !
भू क्या थी, जर्जर जन - पंजर, दुख दारिद्रय अशिक्षा पीड़ित,
मानवता का युद्ध न था वह भारत जन-धन-हित से प्रेरित !

असत् भले हो, भू - मंगल हित, पर, अनिवार्य प्रयोजन शासन,
सत्शासन क्या ? लोक - श्रेय हित लोक - शक्ति का लौह संगठन !
दैव, विदेशी शासन से कब सम्भव जनगण का हित साधन,
आत्म - पराजित, पीड़ित, शापित—पराधीन शोषित-शासित जन !

औद्योगिक युग के उपक्रम में स्थूल पदार्थों हित आकर्षित
पश्चिम ने छल - बल उद्यम से किया विविध देशों को अर्जित !
जाति - जीर्ण सामन्ती खँडहर रहा मध्ययुग का तब भारत,
प्राची को वैज्ञानिक युग के स्पर्शों से होना था जाग्रत् !

विश्व - युद्ध की छाया में अब करते स्थित - धी युग - नर चिन्तन,—
क्या हो भारत - नीति ? युद्ध को मिले योग, छूटे न मुक्ति - पण !
नहीं अहिंसा रण - पथ बाधक, आत्म - नाश से श्रेष्ठ युद्ध - घन,
भारत - जन जूझें अरि हित तब काटें जब निज दुःसह बन्धन !

वह स्वतन्त्र हो, समभागी हो करे समर हित जन - धन अर्पित,
स्वाभिमान का यही सत्य - पथ युग - प्रबुद्ध नर को था स्वीकृत !
अन्तर्राष्ट्रिय युग - पट में भी यही कर्म - पथ था नय - विस्तृत,
राष्ट्रियता अनिवार्य चरण रे, बहुमुख भू - जीवन - विकास हित !

मित्रों का जय - कामी भारत उनके प्रति सद्भाव विद्रवित
जन - धन - मन से विश्व - युद्ध में मित्र - राष्ट्र के सँग था निश्चित !
क्रीत दास रह, शोषक के हित बरबस जन का देना शोणित
घोर अनैतिक, गर्हित स्थिति थी,—प्रथम मुक्ति थी उसे अपेक्षित !

अरि का अरि, कृमि तन का कृमि अब ताल ठोंकता खड़ा द्वार पर,
बरमा मलया निगल, फेरता गृद्ध - दृष्टि भारत पर दुर्धर !
हिंस्र क्रूर साम्राज्यवाद था, पर नात्सी फासिस्त क्रूरतर,
इन यान्त्रिक दैत्यों के बौने सैनिकवादी शिष्य भयंकर !

निज प्रबुद्ध मत के विरुद्ध जन युद्ध - कर्म को होते बाधित,
अन्ध स्वार्थ के अग्नि - कुण्ड में घास फूस खर तृण - से अर्पित !
भारत के सम्मान योग्य था वह विक्षोभ मूक जन - मन में
प्रकट हुआ जो पुनः व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रतिवर्तन में !

जन को वाक् - स्वातन्त्र्य चाहिए,—दिया लोक - नायक ने नारा,
विश्व - युद्ध का अन्तरंग रण—मंच बन गया भारत सारा !
विश्व - क्षितिज में अग्नि - शिखा से अंकित भारत का नैतिक पण
जग के मनीषियों के मन का बना आत्म - चिन्तन का कारण !

विफल हुए सब सन्धि - यत्न जब विनय, त्याग, प्रत्ययन, प्रबोधन,
रोटी के बदले शोषक से भूखों ने जब पाये पाहन,—
जगा मन्यु, छेड़ा नर - वर ने भारत छोड़ो का अद्भुत रण
खोल दिया क्षण में जन सम्मुख ज्यों स्वराज्य का स्वर्णिम तोरण !

तिल - तिल किया उन्होंने निर्मित बाहर युग - मत, भीतर जन - मन,
स्वयं उतर आया ज्यों भू पर भारत छोड़ो का आन्दोलन !
भारत छोड़ो ? सहसा अरि को नहीं हुआ विश्वास एक क्षण,
वह उद्घोष न था कौतुक - भर, तीस कोटि जन - प्रतिनिधि का पण !

छोड़ो भारत को ईश्वर पर, तुम्हे नही यदि आस्था प्रभु पर
तो छोड़ो विप्लव के हाथों,—रक्तपात का उठे बवण्डर !
श्रेष्ठ अराजकता, बर्बरता,—अधम दासता से छूटें नर,
एक बनेंगे, अरि के हटते भारत - भू - जन भेद भूलकर !

नही साँस लेने का अवसर अरि ने अब के दिया प्राण - पण,
बापू के सँग उसी रात को पकड़ लिये धर सब नेतागण !
पथ - दर्शक के बिना क्रोध से अन्ध, क्षुब्ध मन, खुल खेले जन,
कोटि रूप धरकर युग - नायक करते हों जन - भू - अरि से रण !

विष पावक तम के समुद्र का वह था जन युग जीवन मन्थन,
क्रुद्ध दमन चल खर वात्या - सा करता निर्मम ताण्डव नर्तन !
दानव डग धर वह जन - मन की हिल्लोलों का करता मर्दन,
शासन क्या था, - मूर्त दमन अहि फूत्कारें भरता सहस्र फन !

लगता, स्वेच्छाचार शौर्य पर विजयी होगा, दम्भ न्याय पर,
पीट, पेट के बल रेंगाते नग्न निरीहों को प्रभु के चर !
लाठी, बल्ले, कुन्दे, भाले निःशस्त्रों का करते स्वागत,
प्रदर्शनों पर गोली चलती, अश्रु - वाष्प बम फटते शत - शत !

रेल - पेल धक्कम - धक्के में कुट - पिस बाल, युवक, नारी - नर,
भारत छोड़ो—नारा देते, क्षुधित भेड़ियों से न तनिक डर!
अन्धड़ झंझा जब से मन्थित आहत अंगों के जन - वन में
हाथ - पैर - धड़ कटे, फटे सिर, टूटे पंजर दिखते क्षण में!

गलियों मे जन को खदेड़कर घर - घर घुस पड़ते अरि बर्बर,
अत्याचार, बलात्कारों की अकथनीय वह कथा भयंकर!
आग लगा खल हाथ सेंकते फूंक मुहल्ले, टोले, पुर, घर
दानव का मुखड़ा खुल पड़ता दस्यु सभ्यता के दुर्मुख पर!

घानी पेल, कुएँ से पानी खींच, तोड़ते बन्दी पत्थर,
पिसते शत अभिजात जेल में कुचल दमन पाटों में दुर्धर!
अहिंसकों का व्रत अनुशासन,—हँसते पिट, जी खोल व्रती नर,
क्षुद्र क्रूर पशु बनता जितना जगती पौरुष - शिखा ऊर्ध्वतर!

हाट - बाट की मुठभेड़ों मे सभा - समाजों में सविनय जन
घृणित नृशंसों की घातें सह मनुज हृदय छूते अविचल पण!
वह नव युग की प्रसव - वेदना, नव मानव - संस्कृति का युग - रण
आत्मदान का अभिलाषी था, तपः पूत हो जिससे भू - मन!

मिलें बन्द, निःस्पन्द हाट - फड़—श्रमिकों ने हथियार फेंककर
किया प्रचण्ड विरोध दमन का पौरों ने पद त्याग निरन्तर!
जली पुलिस चौकियाँ, डाक - घर, तार फोन के तार गये कट,
उलटी झट पटरियाँ रेल की, शासन की नाड़ियाँ गयी फट!

आत्म - शुद्धि हित अनशन व्रत में बापू की आस्था थी अविचल,
तप्त स्वर्ण - से निखर अग्नि में वे भू - जीवन का हरते मल!
आगा खाँ के मृत्यु - महल में जन - भू - मन को करने जाग्रत
प्रायश्चित्त किया युग - नर ने धरा - हृदय था हिंसा - मूर्च्छित!

आंग्ल - भाल बच गया,—कालिमा चढ़ी न अति पातक की अक्षय,
छूट गये सूली से ईसा, हरने जन - भू का पातक भय!
नहीं चाहते थे युग - द्रष्टा, नहीं चाहते थे भारत - जन,
साँप - छछूंदर के इस रण में मनुष्यत्व के उर में हो व्रण!

निखिल विश्व के पाप - नाश हित आत्मोत्सर्ग बना आवाहन—
पश्चिम के देशों का गौरव हिंस्र अस्त्र - शस्त्रों का खल रण!
प्रतिध्वनित होता जगती में भारत - आत्मा का नैतिक पण,
नयी चेतना - शिखा जगाता आत्म - शक्ति से लोक उन्नयन!

प्रकटे थे युग - पुरुष उस समय निकट आ रहे थे जब भू - जन,
वैज्ञानिक अनुसन्धानों से दिशा - काल थे रहे न बन्धन!
जातियाँ दनुज, दनुज बनकर बन घनीभूत होते थे प्रतिक्षण,
स्तम्भित था मानव - विकास - क्रम, भू पर चलता पशु - संघर्षण!

जीवन - रचना में योजित हो भूत शक्तियों का अन्वेषण—
आवश्यक था सृजन - शान्ति हित नव आध्यात्मिक ज्योति जागरण !
मन के मूल्यों ही के बल पर मनुज - विकास नहीं सम्भावित,
भारत - भू के हित विशिष्ट चित् - कर्म जगत् - पथ में निर्धारित !

भौतिक युग के काम - पुरुष को अन्तर्मुख होना आलोकित,
श्रेयस् हित विज्ञान - ज्ञान को बहिरन्तर जीवन सयोजित !
ऊर्ध्व दृष्टि लेकर आये थे समदिग् जीवन के उन्नायक,
लक्ष्य - सिद्धि हित धर युग - कर में सत्य - अहिंसा का धनु सायक !

महादेव संग साध्वी बा की सात्विक बलि कर नरवर अर्पित
जीवन - उन्मुख हुए जगत हित जीवन - संगिनि से हो वंचित !
करुण अहिंसा अंचल - पट में रहा बहुत - कुछ गोपन अकथित,
कुत्सित क्रूर दमन की काष्ठा कभी भविष्य कहेगा निश्चित !

मुक्त हुए कारा से बापू, मुक्त वीर बन्दी नेतागण,
सफल हुआ युग - स्वप्न पुरुष का, भारत ने पाया स्वराज - धन !
विजय अहिंसा की कहिए या विश्व - युद्ध से घटित विपर्यय,
चिदादर्श या जड़ यथार्थ का आग्रह कहिए, युग का निर्णय !

द्वन्द्व जगत् की मार्ग क्रान्तियाँ मंगलमय विधि से अनुशासित,
अधिमानस का गूढ़ नियम यह, ध्वंस दुरात्मा का ध्रुव निश्चित !
जय - श्री मिली सुहृद् राष्ट्रों को साम्य - वध्य - बल से पद - मर्दित,
आत्मघात ही सहज सुलभ था नात्सी खल अधिनायक के हित !

हिरोशिमा नागासाकी पर भीषण अणु बम का विस्फोटन,—
मानवता के मर्मस्थल का कभी भरेगा क्या दुःसह व्रण !
दाँत किट - किटा, ठठा शक्ति - मद भरता अब दिग् दारुण गर्जन,
उपजा यान्त्रिक - युग अणु-दानव,—जड़ भौतिकता के अन्तिम क्षण !

मानव - आत्मा की विमुक्ति की भारत - मुक्ति प्रतीक असशय,
कटे विश्व - मन के जड़ बन्धन हुआ चेतना का अरुणोदय !
भावी भव - इतिहास कहेगा कवि - वचनों का आशय गोपन,
निश्चेतन के अन्ध तमस से निखर रहा भू - जीवन - प्रागण !

फूट डाल अरि करता शासन, बढे साम्प्रदायिक सघर्षण,
मध्य युगों के नरक - प्रेत जग ताडते गत शतियो का मृत रण !
अन्तिम लौह लात बैरी की—भारत का कर क्रूर विभाजन
ज्यों फिर भावी विश्व - युद्ध हित रचा हिंसकों ने रण - प्रागण !

भारत - भू उद्वेलित सागर, कच्छप युग - नायक का दृढ पण,
जनगण बल अहि- रज्जु कोटि फण, मन्दर गिरि स्थिर लोक संगठन—
आत्म - शक्ति पशुबल जुट मथते, नव युग देवासुर संघर्षण,—
जब स्वराज्य-लक्ष्मी प्रकटी तब जन - भू - मंगल हित था शुभ क्षण !

अगणित लोगों के त्यागों से हुआ मुक्ति - प्रासाद प्रतिष्ठित,
प्राणों की पावन आहुति से उठा रश्मि - गोलार्ध स्वर्ग स्मित !
धन्य, अहिंसक भारत के रण, सत्र सिद्ध, जय जन - रण - नायक
तुम पशु - बल को प्रीति - प्रणत कर मानवता के बने विधायक !

बहिः संगठित पश्चिम जग के प्राण - स्पर्श से हो युग - जाग्रत्
निज में, अरि से लड़ शत वत्सर, पराधीन अब रहा न भारत !
उसे मुक्ति - रचना करनी अब अपने हित, जग - जीवन के हित,
युग - युग का भू - कल्मष धोकर पशु को बना मनुज नव संस्कृत !

उतर रहीं कृपाएँ भू पर जन - मन - नभ को कर आलोकित,
स्वर्ण - रश्मि स्वातन्त्र्य-सूर्य जग जन - भू - छोर करे दिग्-प्लावित
भारत की अध्यात्म - ज्योति में सृजन शान्ति हो विश्व संगठित,
अमृत अहिंसा बने अस्त्र नव, सत्य करे जन - भू पथ दीपित !

भारतीय स्वातन्त्र्य क्रान्ति का अमर दाय, जन - भू - जीवन हित
दिव्य अहिंसा,—जिसे धरा पर होना जन - मंगल हित विकसित !
युग - युग का पशु - बल संघर्षण शुभ्र स्पर्श पा जिसका संस्कृत
सहज हो उठे अन्तः शासित, मानवीय महिमा से मण्डित !

स्वर्ग - खण्डवत् भारत - भू को छोड़ा क्यों आंग्लों ने परवश ?
कुटिल काल - गति, युग भू - स्थिति या जग का मत, माथे का अपयश ?
लदे सूर्य साम्राज्यों के दिन, घटते नित अघटित परिवर्तन,
दीर्घ दृष्टि, कूटज्ञ आंग्ल जन काल - चक्र के प्रति नित चेतन !

उल्काओं - से मुकुट टूटते उलट - पुलट धँसते सिंहासन,
महत् क्रान्ति का युग अब जग में दिग् - भू - व्यापी लोक - जागरण ;
अन्ध धरा के ओर - छोर सब दीपित करता नव युग पूषण, ;
निम्न गर्त भर समतल बनते, मिलता रज में जीर्ण पुरातन !

मंगलमय की मूर्त पीठ भू, मंगल हो, जन - जीवन मंगल,
भारत - भू की स्वर्ण - मुक्ति हो जन - भू हित आध्यात्मिक सम्बल !
शान्ति ! शान्ति - कामी हो भू - जन, रजत शान्ति छाया में निर्भय
प्रगति करे रचना - प्रिय जन - मन, हृदय - स्वर्ग सर्जन में तन्मय !

मुक्ति - पर्व जन मना रहे थे, जन - नायक थे लिये मौन व्रत,
वह उपवास करुण प्रतीक था, रक्त पंक था रंक नवागत !
अन्तिम आहुति का क्षण आया,—सोच रहे थे तब मृत्युंजय,
मर्म रुधिर पीकर ही बर्बर भू की प्यास बुझेगी निश्चय !

भीष्म ग्रीष्म बीता तप खँटकर अन्ध धुन्ध से मंद दिगन्तर,
वन्य व्याघ्र - से गरजे अन्धड़, सूर्य रश्मि रण - तूर्य प्रखर स्वर !
मुक्ति धुनी कोई तापस वर, त्राटक साध, जटा धर धूसर,
हो प्रचण्ड पंचाग्नि सेंकता, भस्म रमाये उग्र देह पर !

युग रवि - कर से खींच सिन्धु - जल श्याम वर्ण तन खड़ा क्षितिज पर,
नहलाता नभ द्विप अब भू को बरसा शतमुख सौंधे सीकर !
भारत - लक्ष्मी को अभिषेकित करते हों दिग् - गज जलमुच् - कर,
रोमांचित थी शस्य - हरित भू मुग्ध वधू - सी पा स्वराज्य वर !

जन - मन आवेशों की विद्युत् मत्त नाचती हर्ष - घोष कर,
नभ झुक - झर मिलता सागर से, सागर उड नभ - उर देता भर !
इन्द्रधनुष सुर केतन करता मुक्त तिरंगे का अभिवादन,
उड़ - उड़ सित बक पाँति शान्ति - ध्वज शुभ्र कान्ति से हरती लोचन !

राष्ट्र-मुक्ति रे केवल प्रथम चरण-भर, विश्व एकता करनी भू पर निर्मित,
मनुज प्रीति के अमर सूत्र में गुम्फित स्वर्ग-पीठ करनी भू-मन पर स्थापित !

वज्र-पात अघटित न अनभ्र गगन से, जीवित रावण कंस अचेतन मन में,
मानव बनना दूर, दीर्घ, दुष्कर पथ, अस्त सूर्य ! लोहित तम भू-प्रांगण में !

संस्कृति द्वार

१. आत्मदान

आँसू से गाहोगी भू - उर का गोपन व्रण ?
श्रद्धा मौन करोगी शब्द - प्रसून समर्पण ?
अमरों की गाथाएँ गायी जातीं, वाणी,
निधन न यह, जीवन बलि जन - भू हित, कल्याणी !

गत नियति ! मुक्ति उपक्रम में भारत का करुण विभाजन
लाया संग दुर्मति - प्रेरित कटु रक्त - पात, खल गृह - रण !
भू - मन की दमित विकृतियाँ हत - बल रिपु छल से पोषित
भड़की भीषण लपटों में हिंसा - जिह्वाएँ लोहित !

स्त्री, शिशुओं, वृद्धों का वध, नर - हत्याएँ, क्षुर घातें,
व्यभिचार, लूट, लम्पटता, काली अनकहनी बातें !
दुर्धर्ष, रोम - हर्षक दिन, आसुर आवेशों के क्षण,
शत नरक - प्रेत धर नर - तन करते जन - भू पर नर्तन !

निश्चेतन अन्ध वमन - सा जन का आक्रोश भयानक
धधका विषाक्त धूमों में कर्दम - पर्वत का पावक !
वनचर दहाड़ता मन में आदिम हिंसा को उन्मुख,
नर - पशु रक्ताक्त नखों को कोंचता, नोच मानव - मुख !

बादल से जल के बदले बरसें दारुण पावक - कण,
शुचि सीप त्याग मोती को अब करे ग्राह तिमि धारण !
मानव - उर का प्रेमाऽमृत बन गया घृणा - विष भीषण,
मधु पुष्प - हार पन्नग बन डँसता फुफकार क्षुधित फन !

वह नारकीय प्रतिहिंसा, वीभत्स घृणा का उत्सव,
हत्या का पैशाचिक सुख, शोणित की ज्वाला का जव!
निर्ममता, बर्बरता का, ईर्ष्या, स्पर्धा का ताण्डव,
कटु कलह क्रोध कुत्सा के कंकालों का भैरव रव!

गत रूढ़ि रीतियों के शव लघु स्वार्थों में पथराये,
अन्धे, मृत विश्वासों के प्रेतो - से भू पर छाये!
सभ्यता शील संस्कृति के उच्छेदित भूखे पंजर
दुःस्वप्नों की दुःस्मृति - से, खल काल ध्वंस के खँडहर!

उन्मूलित वन - वृक्षों - से हत जत्थों का विस्थापन,
भगता उठ - गिर - पड जन - वन हालाडोला हो जीवन!
पशु बलात्कार, तन घर्षण, छीना - झपटी, आयुध व्रण,
शत भूत - प्रेत हों छूटे भय - कम्पित कर भू - प्रांगण!

टूटा निरुद्ध प्राणों का विद्वेष, क्रुद्ध अन्धड़ बन,
भू - कम्प साम्प्रदायिक वह था धर्म - भ्रष्ट पागलपन!
उद्दण्ड कल्पना के सँग उन्मत्त वासना नर्तन
फिर प्रखर नखर दंष्ट्रा का नर - तन में प्रत्यावर्तन!

कस - मसक नग्न अंगों को, स्तन काट, ठठा हँसते खल,
बच्चों को चीर, पटक झट द्वेषाग्नि बुझाते पागल!
भगदौड़, आग, कोलाहल, बनते पुर गृह पथ निर्जन,
मन्दिर मसजिद के ईश्वर - अल्ला सन्त्रस्त, व्यथित मन!

गिरि तट से क्षुब्ध तरंगें टकरा होतीं ज्यों विक्षत,
मदमत्त साँड लड़ - भिड ज्यों गिरते भू पर रक्ताहत!
उद्भ्रान्त झुण्ड मर मिटते फूटते शीश धड़ कट - छँट,
बह रक्त नदी में तिरती टाँगें, बाँहें, आँतें फट!

कर्तव्य - मूढ़, भय स्तम्भित, देखते स्तब्ध हत - प्रभ जन,
दुर्दान्त आत्म ध्वंसक वह धर्मान्ध साम्प्रदायिक रण!
झंझा क्षोभित सागर का हो प्रलयंकर उद्वेलन
या उगल रहा हो भू - उर विष अन्धकार पावक - घन!

अनभिज्ञ काल भव गति से सामन्ती जग के पंजर,
मृत रूढ़ि रीतियों के शव, अनगढ़, अनपढ कुण्ठित नर,
इस रक्त - काण्ड के पीछे थे मध्य युगों के खँडहर,
उच्छिष्ट जीर्ण संस्कृति के, स्वार्थों के कट्टर पत्थर!

क्षण उत्तेजन से पागल हत मनुज दनुज बन बैठा,
आदिम बर्बर पशु जगकर फिर अन्तर में हो पैठा!
सद्वचन रोप पावक को भड़काते घृत - आहुति बन,
वह सर्वग्रास था मति का चेतना दीप्ति हत जन - मन!

दुष्कृत कल्मष का प्लावन लोटता मत्त जन - भू पर,
शत स्फीत मृत्यु - फन फैला फूत्कार छोड़ता विषधर !
गृह - दाह, मार - धाड़ों की दुख - गाथा अकरुण भीषण
अकथित ही रहे, गिरे, वह चीत्कार, त्रास, वन - रोदन !

उस प्रलय - बाढ़ में करता जब ऊब - डूब नव शासन
तब किया लोक - नर ने उठ फिर छिगुनी पर गिरि धारण !
नैतिक अमर्ष से उसका विगलित अन्तर था जर्जर,
उस तड़ित् स्तनितमय घन - सा जो गुण से हो मृदु जलधर !

आँधी में अडिग शिखर - सा दुर्गम जन - वन में घुसकर
विचरण करता एकाकी वह लोक - ऐक्य हित कातर !
पा राष्ट्र मुक्ति, —चिन्तातुर करता वह अन्तर मन्थन,
कैसे हों एका भू पर, भाई सब धर्मों के जन !

यह धरती स्नेहमयी मा, प्रभु पिता, क्षमाऽमृत सागर,
वसुधैव कुटुम्ब बना सुत क्यों रह सकते न परस्पर !
आत्माहुति देकर भी मैं रोकूँगा यह नर - हत्या,
सब मनुज एक, — हो सकता यह सत्य कभी क्या मिथ्या ?

मानव को युग - तम से कढ़ लेना नव जन्म धरा पर,
जनगण जिसके बहु कर - पद, शिर - मुख, तन - मन, बहिरन्तर !
सब धर्मों का निश्चित मत—ध्रुव सत्य एक ही ईश्वर,
जो प्रेम न्याय करुणामय जिसको समान सचराचर !

सब धर्म सत्य ही के पथ, मेरा दृढ़ अनुभव निश्चय,
आस्था, श्रद्धा, जन करुणा सबका ही सार, समन्वय !
प्रभु एक, जगत् कर्त्ता जो, अल्ला कहिए या ईश्वर,
वह सर्व - भूत - रत, व्यापक, लघु सम्प्रदाय से ऊपर !

जन, घृणा द्वेष हिंसा से, कैसे रह सकते जग में ?
भय काम क्रोध, मद तृष्णा बाधाएँ जीवन - मग में !
श्रद्धा करुणा भव सम्बल, कहता मैं वचन सनातन,
तप त्याग, विनय नय, संयम पाथेय, धैर्य पथ - साधन !

वह पक्व लोक - मूल्यों को करता जनगण में वितरित,
गत संस्कृति के पावक - कण अब भस्मावृत, जीवन - मृत !
वह व्यक्ति - साधना - पथ था अति कृच्छ्र, ऊर्ध्व आरोहण,
भू - स्वर्ग - प्रतीक्षा - रत था समदिक् सामूहिक जीवन !

धर्मों के दिन अब बीते, आस्था आलोकित होकर
नव संस्कृति में विकसित हो मन मन्दिर में करती घर !
आध्यात्मिक भौतिक अविरत वागर्थ तुल्य संयोजित,
ईश्वर भू - जीवन भाजक सब भित्ति हो रहीं खण्डित !

अस्तमित मित्र की अन्तिम नत किरण ! महत् तम पर्वत,
उसको दिग् - दीपित करने वह जूझ रही अप्रतिहत !
युग सन्ध्या की द्वाभा में बढ़ता जाता सागर - तम,
नव युग - प्रभात को ठहरा शतियों का था दिग् - गज भ्रम !

उस अमृत - पुत्र की आशा जानती न बाधा बन्धन,
धर्मान्धों को वह देता नव आत्म - ज्योति के लोचन !
उच्छ्वसित हृदय कहता वह उनसे सद्धर्म वचन नित,
जन - वन में सुलगी हिंसा ज्वाला को करने प्रशमित !

मीलों पैदल चल, घर - घर जाता गाँवों के भीतर
पीड़ित, शोषित, त्रासित को आश्वासन दे, दुख - भय हर !
भू - स्वर्ग दूत - सा सँग - सँग वह नव प्रकाश ले जाता,
जन - मन का तम हर, उर में सुख शान्ति - किरण बरसाता !

हिन्दू हो, आर्त मुसलमाँ वह धोता तन - मन के व्रण,
नैराश्य विषाद घटा तम हरता बन प्रेम - प्रभंजन !
दोनों निज आत्मिक को पा करते गद्गद अभिवादन,
वह राष्ट्र - पिता निर्बल का दृढ़ बल था, निर्धन का धन !

नर भले सत्य - द्रष्टा हो, स्थित - धी हो, सित प्रज्ञा स्मित,
भावी के ज्योति - विभव से उसका मानस हो दीपित !—
क्या कर सकता वह ? निश्चय, जन - मन की स्थिति थी कुत्सित,
जिस स्तर पर युग - भू - जीवन, वह नारकीय, जीवन - मृत !

नोआखाली में धधकी जो निर्दय हिंसा - ज्वाला
उसका बिहार ने बदला घर फूँक तुरन्त निकाला !
पंजाब रक्त से लथपथ द्रुत बना क्रूर वध - शाला,
दिल्ली में लपटें फैलीं—मुख हुआ देश का काला !

जग जिन्हें अहिंसक कहता निर्दय पशु निकले वे जन,
आदर्शों की लीला - भू अब रक्त - पंक वन प्रांगण !
जग के सम्मुख भारत का आत्माभिमान हो खण्डित—
दारुण गृह - कलहों से था युग नर का अन्तर पीड़ित !

सेना - बल पर दिल्ली में खोखली शान्ति थी स्थापित,
भीतर विक्षोभ गरजता, आतुर थे जन हिंसा हित !
दुःसह विद्वेष - घनों से अन्तर - दृग् थे आच्छादित,
सत् पर थी विजय असत् की सित ज्योति - रेख तमसावृत !

वह था न शुभ्र सत्याग्रह जन होते स्वतः समर्पित,
दो रक्त - दैत्य कट मरते,—हिंसा कल्मष हों मूर्तित !
वह वणिक् - सभ्यता के प्रति विद्रोह प्रबुद्ध जनों का,
यह द्रोह, ह्रास विघटन में पथराये अन्य मनों का !

प्रार्थना - सभा में प्रतिदिन वह करता सविनय प्रवचन,
भू - रक्त - पात धोने को उर प्रेमाऽमृत कर वर्षण !
उसके अन्तर - क्रन्दन से विगलित होते जड़ पाहन,—
खुलते न घृणा - तम के पट, भय - द्वेष रुद्ध था जन - मन !

उस दया - प्रेम - सागर को करते शत जन अस्वीकृत,
नयशील विनय पर्वत का साहस था दृढ़, अपराजित !
दुर्मति, दुःशील, कुचक्री करते शत दोषारोपण,
बरसाते उर का कल्मष, आक्रोश, क्रोध कटु लांछन !

प्रार्थना समय वर्जन कर व्याघात डालते दुर्जन,
वह क्षमा - सिन्धु सब सहता, उससे न छिपा था जन - मन !
जब दहक रहा हो उर में फट ज्वालामुखी भयंकर,
तब कैसे लोग सुनेंगे कोलाहल में अन्तः स्वर !

मन के ठण्डे बल से ही रह सकते भू - जन जीवित,
शोणित की आग बुझे जब तब हो सन्मति भी जागृत !
प्रार्थना रोक कहते वे मैं करता सभा समापन,
मुझको न इष्ट, बरबस मैं उद्विग्न करूँ जनगण - मन !

यदि शान्त रह सकें सब जन तो शान्ति स्वयं प्रभु - पूजन,
शुभ शान्ति स्वर्ग - संजीवन,—हों शान्त अशान्त हृदय - मन !
गीता कुरान दोनों ही जो हम न सुन सकें सविनय
तो व्यर्थ प्रार्थना करना,—मेरा सीधा - सा आशय !—

भारत सब धर्मों की भू, सबका हो यहाँ समन्वय,
प्रिय राम रहीम उभय ही ईश्वर के नाम, न संशय !
मैं देख रहा,—वह कहते,—घन अन्धकार दृग सम्मुख,
हिंसा - विनाश के जग में जीने में अब न मुझे सुख !

यदि धरें न द्वेष - घृणा पर प्रभु - प्रेम - विमुख जन संयम
तो मुझे मृत्यु अब स्वीकृत—मैं यदि सेवा के अक्षम !
नित सात लाख गाँवों में रहता आया जन - भारत,
जीवन ताने - बाने में बुन बहुमुख धर्मों के मत !

यह रक्तपात, पाशवता क्षण आवेशों के कारण,
अति विस्तृत धर्म - हृदय, —वह करता समस्त जग धारण !
वह धर्म नहीं रे निश्चय, जो पीता मानव - शोणित,
नर - कंकालों के ऊपर जिसका सिंहासन शोभित !

दो खण्ड देश बँट जाये—यह हो आशा का घातक,
दो टूक, हृदय फट जाये,—भावी मंगल हित घातक !
गृह - युद्ध,—मुक्ति - छाया में,—मिटता जाता मन का भ्रम,
जन - मन में कुण्डल मारे बैठा अहि,—शतियों का तम !

यदि भारत की भी आत्मा खो जाये—हो तमसावृत,
जग के दृग से आशा की होगी कृश किरण तिरोहित!
भौतिक स्पर्धा से जर्जर भू आज क्षुब्ध - उद्वेलित—
देखती मौन भारत - मुख अध्यात्म ज्योति से मण्डित!

अपहरण, धर्म - परिवर्तन, बलपूर्वक तन - मन पीड़न,
नर - हत्या, द्वेष - घृणा का निर्बाध काण्ड यह भीषण,—
अब अधिक न सह सकता मन, जानता हृदय न पराजय,
उठता अदम्य अन्तः स्वर सब चीर भेद भय संशय!

मैं आत्म - शुद्धि से प्रेरित कल से आध्यात्मिक अनशन
आरम्भ करूँगा,—रुकता मेरे न हृदय का रोदन!
वैसे भी, यह मेरे हित ईश्वर आज्ञा का पालन,—
युग लोक - यज्ञ, प्रभु होता, मुझको जलना आहुति बन!

बिजली - सा उर में कौंधा आत्मा का अन्तिम निर्णय,—
पर - दुख में कैसे निष्क्रिय रह सकता कोई सहृदय!
भारत में विचर सकें फिर सब धर्मों के जन निर्भय,—
सत् पाये विजय असत् पर, तम पर प्रकाश की हो जय!

ईश्वर इच्छा पर निर्भर अब मेरा अर्पित जीवन,
बन सकें प्राण - मन मेरे प्रभु - इच्छा के सित दर्पण!
यदि रहें स्नेह - छाया में कटु द्वेष भुला फिर जनगण,
तो सार्थक भू पर मेरा उनके हित जीवन - धारण!

मेरी चिन्ता न करे जग, जन करें हृदय मन मन्थन,
मुझको न शीघ्रता किंचित्, सम्पूर्ण शुद्ध हो जन - मन!
यदि दिल्ली शान्त रहेगी तो शान्त रहेगा भारत,
बनना आदर्श निदर्शन केन्द्रीय नगर को ले व्रत!

मैं परम शान्ति में हूँ अब, मुझ पर मत दया करें जन,
अपना उर - मुकुर सँवारें झलके उसमें प्रभु - आनन!
यों विवश, विफल जीवन से प्रिय मुझे मृत्यु आवाहन—
मानव को उच्च उठाने कर सकूँ प्राण - मन अर्पण!

उस यज्ञ - वह्नि में तपकर निखरा भू - मन का काञ्चन,
वह आत्म - शक्ति अभिषेकित जन मनः शुद्धि का था क्षण!
सब ओर छोर से भू के भटकों ने किया अटल पण,
हम भेद - भाव भूलेंगे—बँध भ्रातृ - प्रेम में नूतन!

विश्वास प्राप्त कर जन का नर - वर ने तोड़ा अनशन,
कुहरों - से कटे - छँटे फट भय घृणा द्वेष तम के घन!
युग - मन के कृच्छ्र क्षणों में उसने कर तन - मन अर्पण
जन - भू को पुनः उबारा संकट कर्दम से तत्क्षण!

पर, दूर अभी वह शुभ दिन गत प्रेत बनें भारत - जन,
उससे सुदूर स्वर्णिम क्षण जन निखरें भू - मानव बन!
गत धर्मों संस्कृतियों में दुर्दम विरोध, जड़ विघटन, —
भू - मन को महत् अपेक्षित अब नवल चेतना प्लावन!

इस नारकीय हिंसा के नाटक का करुण समापन
प्रिय बापू की बलि में हो! —ओ अकथनीय अघटित क्षण!!
प्रार्थना - सभा को जाते साकार प्रार्थना - से नत
वे हुए निछावर भू पर नर - पशु प्रहार से आहत!

विश्वास न होता, वाणी, हतवाक्, रहा सुनता मन,
उमड़ा अँधियाली का घन स्थिर काल - चक्र था उस क्षण!
कुछ मूर्छित वज्राहत जन सँग चले प्राण अर्पण कर,
मर सकी न अमर अहिंसा सा कायर हिंसा का शर!

जन भू मन का कल्मष धो अब पूर्ण शान्ति में हरि - जन,
शाश्वत विराम लेता वह कर निज सर्वस्व समर्पण!
उसके शोणित से रंजित भू - उर का लोहित शतदल,—
स्वर्गिक स्मृति सुरभि सँजोकर नव महिमान्वित, स्वर्णिम दल!

मृत्युंजय की इच्छा वह, या विधि अभिशाप भयंकर?
कुण्ठित भू - अहि तम - दंशन, या युग - नर का अन्तिम वर!
वह प्रथम विश्व - मानव का था शुभ्र समर्पण भू पर,
अब निखिल धरा उर मन्थित पा मृत्यु - स्पर्श दिङ् निःस्वर!

वह निधन प्रथम जन्मोदय नव विश्व - ऐक्य का निश्चय,
सित मनुज प्रकाश - किरण से भू - गुहा हुई ज्योतिर्मय!
जग के कोने - कोने में छाया पहिला भगवत् - तम,
लघु देश राष्ट्र सीमाएँ जिसने की गोपन अतिक्रम!

उस सहदुख की गरिमा से भू मनः क्षितिज हो विस्तृत
युग - मानव के प्रति अभिनव आस्था से हुआ समर्पित!
वह ज्योति जल रही अब भी उर के असख्य दीपों में
मुक्ताभा मौन चिदुज्वल जन - मन के शुचि सीपों में!

शाश्वत वसन्त बन खिलती वह जन - जीवन पतझर में,
तन्मय मधु पिक बन गाती युग - कवि के प्रेरित स्वर में!
उसकी भस्मान्त प्रकृति से तीर्थों के सित जल पावन,
हँस झरा पुण्य भू - रज पर उर सौरभ से भर प्रांगण!

जो यज्ञ - भस्म की तन - रज, संकल्प - अस्थि श्रद्धा सित,
दृढ शील स्नायु, नय मज्जा, चित् रुधिर प्रेरणा - स्पन्दित, —
आस्था का अन्तर्मुख उर, तद्गत हो प्राण समाधित,
तब कहीं कर सके स्रष्टा सात्विक स्वरूप वह निर्मित!

वह राजघाट में सोया, आओ, कविते, हम निः - स्वर
श्रद्धा स्रक् करें समर्पित नत मस्तक परिक्रमा कर!
तुम स्फटिक शुभ्र शब्दों में कर स्मृति समाधि - गृह विरचित,
उस अक्षय युग - आत्मा की गरिमा में रहो सुरक्षित!

आत्मा से बिछुड़ अनिच्छित अब पंच तत्व जीवन - मृत, —
निज मौलिक रूपों में लय अविरत सेवा में अर्पित!
वन पवन सुगन्ध व्यजन झल हरता अजस्र जीवन श्रम
भू — तपस्तेज से गर्भित—तजती निज निश्चेतन तम!

नत नभ, सहस्र दृग प्रहरी, जागता निशा में अपलक,
निष्काम शान्ति बरसाता प्राणों में शीतल पावक!
शुचि तुहिन मोतियों मे ढल जल धोता चरणों को नित,
श्यामल यमुना गाती गुण स्मृति - गौर स्वरों मे मुखरित!

षड् ऋतुएँ मृद् प्रांगण में करती शोभा - नत नर्तन,
सौरभ, छायातप, सुरधनु, शशि स्मिति, हिम स्रक् कर अर्पण!
उन्मुक्त नील के नीचे युग आत्मा सोयी बाहर,
वह जाग रही अन्तर की निःसीम ज्योति मे निःस्वर!

लो, तिल की ओट छिपा था शाश्वत प्रकाश का पर्वत!
वाणी, अब उसको मन की आँखो से देखो तद्गत!
रज तन कर तृणवत् अर्पित उठता वह प्रज्ञा घन सित,
आलोक छत्र - सा छाया भू पर,—दिव उर कर विगलित!

स्मृति सजल हृदय मे उसके भू स्वर्ग सेतु—सुरधनु स्मित,
वह मानवेन्द्र, जन भूधर, उड़ता, नभ - पथ कर दीपित!
उठ धरा ज्योति, अभरों को करने जाती अभिषेकित,—
भू स्वर्ग मुकुर हो सुरपुर, सक्रिय हो सूक्ष्म महत् ऋत!

चिद् बीज अंश से भू की रज हरित योनि कर उर्वर
वह मे स्थित एक पुरुष वर लय चिति में शुद्ध परात्पर!
वह शून्य गृही, अक्षर क्षर, निज को जग मे प्रसरित कर,
बहु युग में बहु रूपों में विकसित होता, बहु से पर!

जिसमें, जिससे धारित जग, स्रष्टा - संसृति में मूर्तित,
वह परे प्रकृति से, स्वाश्रित, वह स्वभू, सर्व जिसमें स्थित!
जड़ चेतन उसके युग - कर जड चेतन गति कर अतिक्रम,
वह रहः श्वास से भरता भव वंशी में नव सरगम!

नित जन्म - मरण के तट कर चेतना - ज्वार से प्लावित,
संसृति क्रम में वह रखता नव यौवन - स्रोत प्रवाहित!
पीढ़ी - पीढ़ी भू - जीवन होता विकसित, संवर्धित,
खेलता अमर्त्य मिचौनी भव क्रम में हँस, छिप दिप नित!

बौद्धिक सोपानों पर चढ़ मत, गिरे, ऊर्ध्व में हो लय,
अब उतर,—प्रणत, पद - रज छू, ले युग - चरणों का आश्रय !
तू नव युग - चरण वरण कर, मन में मत ला भय संशय,
गा, व्यक्त जगत् क्रम में नव सांस्कृतिक वृत्त का आशय !

जय राष्ट्र - पिता, जन - मानव, जय शुभ्र पुरुष, युग - सम्भव,
जय आत्म - शक्ति के पर्वत, भू - स्वर्ग दूत, युग - नर नव !
तुम छू जन - जीवन के बहु जर्जर पक्षाहत अवयव
भू - संस्कृति को, युग - मन को दे गये ऊर्ध्व नव गौरव !

अब ज्योति - शेष तुम,—दिखता जन युग दर्पण में बिम्बित
गौतम ईसा से उज्ज्वल नर चरित,—स्वर्ग भू विस्तृत !
पथ - भ्रष्ट यन्त्र - युग को तुम दे गये साध्य सँग साधन,
सत्कर्म चेतना का कर भू - मंगल हित आवाहन !

कृषि - युग की नैतिकता की तुम अन्तिम दीप - शिखा वर,
सामन्ती संस्कृति के सित नवनीत,—क्षमा धृत आकर !
तप त्याग, शील सहृदयता करुणा तुममें नव तन धर
निर्मम यथार्थ के युग का विस्तृत कर गयी दिगन्तर !

प्राचीन तत्त्व को तुमने फिर दिया आधुनिक गौरव,
पा रहस् स्पर्श, नव जीवित हो उठा सत्य का जड़ शव !
सामूहिक बनी अहिंसा सक्रिय,—तज हिंसा का भय,
आत्मा जीवन से खेली रज दुर्बलता पर पा जय !

अब गांधीवाद हृदय में प्रस्फुटित हो रहा निः - स्वर
मंगल आलोक कमल - सा जो जरा - मृत्यु - भय से पर !
वह प्रेम त्याग करुणा का अणु - मृत भू - जीवन हित वर,
अन्तर्मुख, शान्त धरा पर रचना उन्मेष अनश्वर !

तुम आत्म - शक्ति के चुम्बक, भू - मन को कर आकर्षित
जन समारोह में रहते नित एकाकी, अन्तः स्थित !
भू - प्रांगण में हिमगिरि की चित् शुभ्र शान्ति कर स्थापित,
युग - कर्म - निरत रहते तुम आनन्द - मूर्ति, निःस्पृह चित !

सुर - मृत्यु गर्त अति दुस्तर भर सकते युक्त न भू - जन,
अपवाद यहाँ आ जाते सित स्वर्ग - दूत, युग - नर बन !
बौनों की जन - धरणी पर जीते - मरते साधारण,
अमरत्व यहाँ दुर्लभ, जो जन - श्रद्धा का हो भाजन !

तुम स्फटिक सत्य के दर्पण, बहिरन्तर सित संयोजित,
मन वचन कर्म से अविरत एकाग्र लक्ष्य को अर्पित !
अन्तः स्थित, बाह्य जगत् में करते असंग तुम विचरण,
भरते जीवित श्रद्धा से जड़ भू के भय - संशय - व्रण !

सामूहिक अस्त्र अहिंसा स्वातन्त्र्य - युद्ध की, निश्चय
सर्वोत्तम देन जगत् को—अणु - मर्दित भू हो निर्भय!
नैतिक पुनरुज्जीवन का जग समझ न पाया आशय,
भौतिक भू को आध्यात्मिक बनना युगपत् निःसंशय!

इतिहास - पीठिका पर तुम सर्वोच्च खड़े नर भूधर
सम्पूर्ण सन्त, जो विचरा जनगण सँग जर्जर भू पर!
तुम सृजन चिन्तना के सँग संकल्प - शक्ति के निर्झर,
सर्वस्व त्याग की प्रतिमा, जन - भू - सेवा हित तत्पर!

निरुपम, सर्वांग समन्वित, जीवन के पूर्ण निदर्शन,
भगवत् पावित्र्य, सरलता श्रद्धा - तप से कर अर्जन—
अति मानवीय मानव तुम चुन आत्म - शक्ति का साधन
जन - कल्मष धोने आये, करने भू - मार्ग प्रदर्शन!

प्राचीन आर्य संस्कृति के नव युग चिति के सम्मिश्रण,
नैतिक शिखरों से आ तुम जन - भू पर करते विचरण!
आदर्श व्यावहारिक तुम युग - सेतु कर गये निर्मित
भौतिक आध्यात्मिक जग के शिखरों पर सत्य समन्वित!

निःशस्त्र निर्बलों को कर दृढ़ आत्म - शक्ति में दीक्षित,
तुम अस्त्र - शस्त्र के आसुर बल को कर गये पराजित!
देखा सहसा अबलों ने उर में अदम्य उद्वेलित
पौरुष समुद्र!—सम्मुख नत दुर्धर नृशंस मद - मर्दित!

अफ्रीका में जो तुमने बोया विद्रोही पावक
फैला भू - ज्वाला - पल्लव वह धधक रहा अब अनथक!
अफ्रिका एशिया—पिछड़े भू - भाग जागते अपलक,
लपटों के डैने फड़का तोलते शक्ति खग शावक!

पशु - बल केवल सामूहिक संहार - शक्ति से परिचित,
जीवन की शक्ति अहिंसा रचना मंगल में रत नित!
वह मृत्यु - हीन आत्मिक बल रखती मन उद्यत जागृत,
पशु - बल अमानुषी, जिससे मानव सद् - वृत्ति पराजित!

तुम युद्ध - नद्ध जग के हित रच आत्म - शक्ति का दर्शन,
अन्याय घृणा से लड़ने दे गये सांस्कृतिक साधन!
कटु राजनीति - कौशल को नव पिला सत्य संजीवन
नैतिक गरिमा से मण्डित कर गये मनुज का आनन!

जड़वाद - ग्रस्त जग में ले अध्यात्म क्रान्ति का केतन,
व्यापक गभीर आस्था में संगठित कर गये जन - मन!
भौतिक मूल्यों से पीड़ित सन्देह - दग्ध थे भू - जन,
तुम सत्य - शिखा ले आये, धर सौम्य अहिंसक का तन!

नवयुग के प्रथम पुरुष तुम, गत युग के अन्तिम मानव,
जीवन - विकास - क्रम तुम - से नर वर से भू पर सम्भव !
इस वैश्व क्रान्ति के युग में प्रेरक सत् का कर अनुभव
तुम रहे शान्त, अन्त: स्थित, प्राक्तन के - से अंकुर नव !

सित आत्म - त्याग से जग में जो शक्ति हुई दिक् स्फूर्जित
अविनश्वर वह, मानव - मन करती अन्तर्मुख केन्द्रित !
दीपित कर गये धरा - तम आत्मा कर जन में जागृत,
चैतन्य सूर्य बन आये तुम जड़ भू के मंगल हित !

सकल्प शिखर तुम—'ना' कह अविचल रहते पण में नित,
शत कोटि कण्ठ से वह पण बनता ध्वनि - पर्वत निनदित !
तृणवत् तन तुमको,—भू - जन, आत्मा, ईश्वर सेवा हित
नैतिक अनशन धर करते तुम निर्मम युग - मन विगलित !

देखा न चरित्र धरा ने तुम - सा समग्र संयोजित
तुम आत्म - ऐक्य का अनुभव कर सके विश्व सँग जीवित !
निर्बल, निर्धन के प्रतिनिधि, पर - हित जीवन - मन अर्पित,
पा सके विजय तुम जग पर रह आत्म - जयी, चिर अविजित !

युग - राजनीति थी तुमको ध्रुव सत्य - प्राप्ति की साधन,
निष्काम लोक - सेवा थी सक्रिय ईश्वर आराधन !
स्वातन्त्र्य व्यर्थ,—जो निज सँग लाये अधर्म, स्पर्धा, रण,
सन्मुक्ति वही, जिससे हो आत्मिक उन्नयन प्रतिक्षण !

आध्यात्मिक जागृति के प्रति उन्मुख न अभी जन - भू - मन,
एकांगी भौतिकता से सम्भव न श्रेय संवर्धन !
उठ ज्योति स्तम्भ - सा जग में बापू का आत्मिक दर्शन
भव नौका पार लगाये—टल जाय ध्वंस दुर्धर क्षण !

तप, आत्म - शुद्धि, पर - सेवा वास्तविक मुक्ति के लक्षण,
वह मुक्ति नहीं जो आत्मिक नैतिक उन्नति हित बन्धन !
भौतिक आध्यात्मिक बँटकर रह सकते खण्ड न जीवित,
जन - मंगल हित जीवन को होना जग में संयोजित !

अन्तर्राष्ट्रियता का जो भौतिक आर्थिक रण - प्रांगण,—
उसको अतिक्रम कर तुमने फहरा आध्यात्मिक केतन,
नव क्षितिज खोल भू - मन में कर दिये ऊर्ध्व - मुख लोचन,
चेतना सुधा का बरसा बौद्धिक युग - मरु में प्लावन !

पशु - बल की आत्मिक बल में कर सामूहिक नव परिणति,
सत्साध्य शुद्ध साधन में स्थापित कर अन्त: संगति,
फिर मनुज - प्रेम को तुमने सक्रिय कर, दी जीवन - गति,
नैतिक एकता निखिल की घोषित कर, विस्तृत की मति !

गत युग के शब्दों में ही कर व्यक्त सत्य का अभिमत,
दे गये तत्त्व, निष्ठा युत, तुम श्रद्धा - चरणों पर नत !
भू - पातक था धर्मों के कंकालों का संघर्षण,
भारत - जन लांछन धोने कर गये प्राण तुम अर्पण !

बापू मृत ! अमर रहें वह, नैतिक जग के उन्नायक,
सित, रक्त - रहित, आध्यात्मिक जीवन रण के अधिनायक !
बन सके अहिंसा भू पर ध्रुव विश्व शान्ति परिचायक,
जग में नव मानवता के युग - आत्मा बनें विधायक !

भू के समृद्ध देशो, लो भारत से शक्ति तपोज्वल,
दिव्यास्त्र अहिंसा,—उर के कलुषो को करती घायल !
भौतिक वैभव मदिरा पी मत बनो ध्वंस हित पागल,
नैतिक समृद्धि ही भू - निधि, खोलो निरुद्ध अन्तस्तल !

शुभ शान्ति वही जो भू पर तप त्याग शुद्धि से अर्जित,
वह आन्तर,—जड नियमों में बँध सकती कभी न किंचित् !
यह शीत - युद्ध की कर्कश हिम शान्ति मृत्यु आमन्त्रण,—
चेतो, अन्तर्मुख देखो, निज से संघर्ष करो मन !

जन चिर कृतज्ञ ! शतियो की दासी भू के उद्धारक,
शुभ आत्म - शक्ति के वर से अणु - मृत जन - भू के तारक !
प्रिय रहो सदा तुम,—निश्छल श्रद्धा हो सित चरणो पर,
युग तन्त्री साध सके मन भर सत्य अहिंसा के स्वर !

मैं बढा तुम्हारी करतल - पल्लव छाया में युग - नर,
जन - भू स्पन्दन से मन्थित नित रहा व्यथित कवि अन्तर !
भू - कम्प रहे तुम दुर्जय, सोयी भू को कर चेतन,
उच्छिन्न न कर उसके अँग विच्छिन्न कर गये बन्धन !

मुक्ताभा - घट में थी जो रस शुभ्र चेतना संचित
उसको पावक अंजलि भर कर सकूँ जगत् में वितरित !
तुम संयम थे सित,—जिसको धोना था जन - भू - कल्मष,
कवि भाव - मुक्ति उन्मेषित अर्पित करता पद पर यश !

सौ जीवन जो जीया एक महत् जीवन मे,
सौ युग जिसके सँग नित चलते थे प्रतिक्षण मे !
एक कल्प उसके सँग सार्थक आज, समापन,
पद - चिह्नों पर नव युग करता मौन पदार्पण !

२. संक्रमण

(ह्रास)

अदि नियमों की जगती में संक्रमण निरन्तर चलता
प्रलयंकर दोल सृजन का जिसमें विकास - क्रम पलता !
चेतन नर को युग - नौका करनी होती परिचालित,
दिग् - भ्रष्ट, जल - भ्रम मे पड़, हो जाय न लक्ष्य प्रताड़ित !

जब देश - मुक्ति के सँग ही कारागृह से छूटे जन,
वंशी हरि भी घर लौटे हर्षोद्वेलित मन, कृश तन !
पतझर के पंजर - तरु - से आशा मुकुलों से मण्डित
मुरझायी देहों मे थे वे नवोल्लास उन्मेषित !

सुन्दरपुर के स्त्री - नर ने बढ़, किया मुक्ति अभिवादन,
जय मुखर, वाष्प गद्‌गद स्वर जी उठा मूक जन प्रांगण !
आश्वस्त हुए सब पुर - जन हरि वंशी के कर दर्शन
वे ही युग चरण प्रगति के, या पथ - दर्शक युग लोचन !

हरि - उर से लिपट गयी थी मृदु स्नेह - माल - सी पुलकित,
पद - रज सगर्व सिर पर धर, दृग मूँद अश्रु मुक्ता स्मित !
जगदम्बा ने सिर सूँघा आँचल से पोछ नयन - घन,
रघु ने मस्तक उन्नत कर नत सुत का किया समर्थन !

उत्कण्ठित कला - शिविर ने गाया कुसुमित अभिवन्दन,
सज वन्दनवार पुलक के, रच अपलक चितवन तोरण !
वह प्रथम मुक्ति - उत्सव था वह क्रीडा, रंग प्रदर्शन,
प्रिय लोक - नृत्य - गीतों का युग - पर्व मनाते थे जन !

मुक्ता फुहार बरसा घन फहरा स्मित सुरधनु केतन,
रच तड़ित् दीप दिग् तोरण, करते भू का अभिनन्दन !
गा चल बलाक कण्ठों से दिशि भरतीं मंगल मर्मर,
लगता अनन्त करतल वत् खुल नील छत्र - सा अम्बर !

वंशी एकान्त अजिर में बैठा था, युग चिन्तन रत,
चिर वांछित मुक्ति - दिवस अब हँसता सम्मुख जन अभिमत!
स्वातन्त्र्य न सिद्धि स्वयं में, कहता उसका सर्जक मन,
वह रक्त स्वेद अभिषेकित भू - जीवन रचना साधन!

दायित्व स्वर्ग वह दुष्कर, मन वचन कर्म कर अर्पण
उद्यत जाग्रत् रह उसका करना पड़ता संरक्षण!
आर्थिक विमुक्ति हो तान्त्रिक वे बाह्य उपकरण निश्चित,
जीवन सर्जन सुविधा ही आत्मा विमुक्ति की जीवित!

स्वर्णिम जीवन शतदल हो भू पर समग्र संयोजित,
इन्द्रिय, मन, उर, आत्मा हों बहिरन्तर विभव समन्वित!
जीवनोल्लास, जन - मंगल जन - भू के अंग बनें नित,
हो प्रेम प्रकाश जगत का, शुभ रचना - शान्ति प्रतिष्ठित!

चरितार्थ कामनाएँ हों प्राणों के सुख से झंकृत,
शोभा का स्मित वक्षःस्थल रस शुभ्र प्रीति से गुंजित!
नव जीवन - मूल्यांकन हो जन - स्वर्ग धरा पर स्थापित,
वह देश जातियों से बढ़ मानवता हो महिमान्वित!

उपनिषदों की ज्योतिर्मय चेतना कहाँ अब खोयी?
उर में प्रकाश उतरा जब तब धरती थी क्या सोयी?
जग जीवन में वह आभा क्यों नहीं हुई दिङ् मूर्तित?
स्वर्णिम प्रकाश से जन - भू क्यों रही सदा से वंचित!

वह कथा पुरातन, कविते, बीते सहस्र युग वत्सर,
भारत का आध्यात्मिक युग जब रहा विकास - शिखर पर!
जीवन प्रभात ने भू के पलने में खोले लोचन,
वाणिज्य कला संस्कृति का वह रहा स्वर्ग - सुख - दर्पण!

आलोक जागरण - युग वह जग हित था दिव्य निदर्शन,
विचरण करते भारत में सुर वन्दित द्रष्टा ऋषिगण!
तुम मध्य बिन्दु बन करना अध्यात्म वृत्त के दर्शन,
भू मनः शृंग पर उतरा जब ऊर्ध्व ज्योति का प्लावन!

जन - प्रांगण में थी विहँसी सभ्यता प्रथम दिक् कुसुमित,
श्री राम कृष्ण में धर तन कृषि विभव मुकुट से मण्डित!
भगवत् लीला - भू की गुण - गरिमा गाने में अक्षम
तुम करो नमन प्राक्तन को पद मुखर, गिरे, धर संयम!

शाश्वत नन्दन वन में अब दिग् धूसर पतझर का क्रन्दन,
विचरा अद्भुत स्वर्ग जहाँ, अब पहरा दे रहा नरक तम!! —
वंशी ने सजल नयन से आहत तन - मन में देखा
गृह - कलह राष्ट्र - मस्तक पर थी अमिट कालिमा - रेखा

भारत का करुण विभाजन था जुड़ा न पाया जन - मन,
नगरों का कटु कोलाहल भरता - उर में उद्वेलन !
जिस सत्य अहिंसा तप से भू ने पशु - बल पर पा जय
साम्राज्यवाद रवि का मद निस्तेज किया, हर जन - भय !—

लोहित कर्दम में लथपथ सित आत्म - शक्ति वह श्री - हत,
कटु नारकीय कृत्यों से भू का गौरव - मस्तक नत !
कहता मन, शतियों से संग सोये जागे जो प्रतिक्षण,
वे एक नहीं हो पाये, क्या इसका दारुण कारण !

बँट दो विपक्ष शिविरों में रह सके युगों तक दो जन,
मिल सके न वे भीतर से—कैसा उनका गोपन व्रण ?
क्यों मानव करुणा ममता खो बैठी निज आकर्षण ?
कटु घृणा द्वेष कर्दम में सन गये धर्म दीक्षित मन !

भू एक, एक सहृदय नभ, जीवन स्थितियों से प्रेरित
बाहर के काल - सुहृद वे आत्मा से रहे अपरिचित !
जन शिल्प कला संस्कृति में जो हुए बाह्य रूपान्तर
आन्तर प्रयत्न से समधिक वे सृजन - प्रेरणा के वर !

कुछ हिंस्र नृशंस नरों ने मुख पहन धर्म का भीषण
आक्रमण किया हत - भू पर क्या इससे विमुख हुआ मन ?
गजनी गोरी नादिर - से भेड़िये निरीह जनों पर
टूटे, लूटे स्त्री सुत घर, जन नगर किये वन खँडहर !

कर भग्न कला - प्रतिमाएँ खण्डित मन्दिर पुर - प्रांगण
ले गये लाद ऊँटों पर वे स्वर्ण धरा का मणि -धन !
दुर्भाग्य हुआ क्यों सम्भव ? क्या विकल पंगु थे जनगण ?
इस सिंह - वाहिनी भू पर स्यारों का ताण्डव नर्तन ?

दृग सम्मुख मध्य युगों का लड़खड़ा उठा भू पंजर,
चेतना - शून्य, बहुमत रत, शत रूढ़ि रीति कृमि जर्जर !
निर्बल असंख्य राज्यों में खण्डित भू, हतबल जन - मन,
कटु राग द्वेष कुत्सा के भू उर में पूय भरे व्रण !

आपस में लड़ ओछे नृप करते अरि का आवाहन,
बाहरी दस्युओं से घिर भू बनी हिंस्र रण - प्रांगण !
मुट्ठी - भर सैनिक लेकर टूटते बर्बरों के दल
जीतते छूटते भू को, लूटते कला वैभव बल !

कृषि वृत्त चरम विकसित हो जब क्रमशः हुआ समापन
छाया हत - भाग्य धरा पर जड़ ह्रास, विकृति, तम, विघटन !
कवि सोच रहा था कैसे जन - मन में पैठा वर्जन,
क्यों त्याग, निषेध, विरति के मरु में भटका मानव - मन !

क्यों सिद्धि बन गये रीते साधन,—सार्थकता खोकर,
सात्विक सामाजिक रचना क्यों रही अपूर्ण धरा पर!
कब आत्म-मुक्ति जीवन का बन गयी लक्ष्य अभिशापित,
आकाश-कुसुम की लौ में उर-ज्योति हुई निर्वापित!

क्यों जीवन-विमुख मनुज ने संन्यास लिया आँगन से,
छल स्वर्ग नरक के भय ने वन-वास दिया जीवन से?
प्रति वैयक्तिक मूल्यों में कब सिमट गया विधि-प्रेरित
सामूहिक जन-जीवन का विस्तृत यथार्थ श्रम-संचित!

विच्छिन्न जगत्-जीवन से मन-प्राणों से भी वंचित,
आत्मा के स्तर पर भगवत् अनुभव आंशिक था निश्चित!
मिथ्या बन गया जगत्-पट, माया भू-जीवन का वर,
इह-पर की कल्पित खाई बढ़ती ही गयी निरन्तर!

दुखमय, भंगुर जग-जीवन, प्रिय सृष्टि अविद्या आश्रित,
पर-लोक, शून्य-कामी मन जन-भू से हुआ प्रवासित!
विधि यज्ञ कर्म-काण्डों के कृश ढाँचे में जकड़े जन
अन्धे विश्वासों, थोथी आस्थाओं में खोये मन!—

वह पाप-पुण्य सन्तापित अपवर्ग स्वर्ग सुख कातर,
गत जन्म कर्म-फल बन्धन-शृंखला त्रस्त कायर नर!
शत जाति-पाँति वर्णों में, भेड़ों, कीड़ों-से पुंजित,
नत शीश, भग्न रीढ़ों पर लघु राग द्वेष भय खण्डित!

स्मृति जीर्ण व्यवस्थाओं की कारा में बन्दी, स्तम्भित,
सामूहिक जीवन के प्रति बंजर विरक्ति से कुण्ठित!
कटु मुण्ड मतों, गुट धर्मों वादों में क्रूर विभाजित,
संस्कृति के कठपुतलों-से मृत अभ्यासों से चालित!

प्रेरणा-शक्ति से वंचित जन रहे न आविष्कारक,
मन वस्तु-दृष्टि से विरहित भावात्मक, आत्म-प्रतारक!
अन्तर्मन स्तर पर सीमित बन गया योग-बल चिच्छल,
भव कर्म दृष्टि से वर्जित रह गया न वह कृति-कौशल!

फ्रायड के-से नर-नारी गत रीति-काव्य में मूर्तित
उपवन कुंजों में करते निज काम ग्रन्थियाँ मुंचित!
वह देह-भोग यौवन का मित व्यक्ति प्रणय के आश्रित,
सामूहिक मानस स्पन्दन तब था न प्रेम में जागृत!

बाहर से जब परिवर्तन जीवन को रहा अपेक्षित,
घोंघे-सी अपने में खिंच जन-संज्ञा रही तिरोहित!
युग-युग में महा-पुरुष बहु विचरे, अनुपम था वह क्रम,
छायी थी ह्रास-तमिस्रा, मिट सका न जन-भू का तम!

ज्ञानान्धकार का युग तब चलता था मूढ़ धरा पर,
भय, वैमनस्य, संशय से जन - भू - जीवन था जर्जर !
सामन्ती युग की पद्धति, संस्कृति, विचार, विधि, दर्शन
निःसार हो चुके थे सब जीवन - विकास के साधन !

आध्यात्मिक दुर्बलता से संकीर्ण मतों में खण्डित
लघु स्वार्थों में रत थे जन भव - विदाद दृष्टि से वंचित !
निष्प्रभ, निर्जीव, घिनौना, कट्टर हिन्दुत्व उभरकर
लँगड़ाता निष्क्रिय भू पर बौने भद्दे युग डग धर !

भू - मानस का कल्मष था वह मध्य युगों का भारत,
श्लथ, पराधीन शतियों तक, मृत, आत्म - पराजित, आहत !
निज संरक्षण हित पैठा वह छिप अपने ही भीतर,
जग के हित आँखें मूँदे, मन में चर्वित चर्वण कर !

शंकर चैतन्य अलौकिक थे ज्ञान भक्ति - रस निर्झर,
तुलसी कबीर युग - मानस रच गये, सिन्धु - तम मथकर !
विचरे वहु सन्त मनस्वी भास्कर, वल्लभ, रामानुज,
जड़ दैन्य पंक के ऊपर उठ सका न भू - उर अम्बुज !

गुरुओं ने दलित धरा का करना चाहा संरक्षण
स्वामीजी ने आर्यों का फहराया वैदिक केतन !
श्री रामकृष्ण लाये सँग युग का पहला अरुणोदय,
आध्यात्मिक ज्योति जगत् में फैली, कर धर्म समन्वय !

कवि देख रहा था—भू का सक्रिय चैतन्य सिमटकर
था पथरा चुका—निरर्थक जन - मन था शब्दाडम्बर !
जिस भू की संस्कृति में खप पच गयी जातियाँ अगणित,
परिपाक न वह कर पायी इस्लाम धर्म का किंचित !

गुण - ग्रहण - शीलता उसकी निःशेष हो गयी या मृत,
जड़ रूढ़ि - रीति - सैकत में चित् स्रोत खो गया जीवित !
वह सर्व भूत - गत आत्मा, वसुधैव कुटुम्बक का रव
डूबा अरण्य - रोदन बन, रह गया जातियों का शव !

प्रार्थना, दान, तीर्थाटन उपवास नियम व्रत साधन,
दोनों ही धर्मों में था नैतिक जीवन मूल्यांकन !
दोनों एकेश्वर - वादी श्रद्धा आस्था से दीपित,—
प्रतिमा पूजक भंजक थे दोनों ही आस्तिक, अर्पित !

मिल सकी न ऊर्ध्व मनोगति समदिक् प्राणिक जीवन से,
अति वैयक्तिक, उपरत रुचि जन धर्म - तन्त्र रत मन से !
अन्तर्मुख बहिर्मुखी जन युगपत् कुण्ठा से पीड़ित
घुल सके न लवण - जलधि - से, निर्बल, स्वाग्रही - पराजित !

विद्वेष घृणा विष मूर्छित जातीय अहं में सीमित
वे रहे विरुद्ध, विमुख नित, शत आचारों में खण्डित!
दोनों बौने कुबड़े कृमि रेंगते रहे युग - भू पर,
सामन्ती कूप - तमस में निज रक्षा हित चिर तत्पर!

अति आन्तर, अति वैयक्तिक परलोक - दृष्टि हित निश्चित
दैवी प्रतिशोध रहा वह,—(जीवन हो पूर्ण समन्वित!)
इस्लाम धरा पर उतरा—प्रभु जीव तृप्त हो, विकसित,
ईश्वर - आस्था हो भू - बल, जन धर्म - तन्त्र - संरक्षित!

प्रिय कवि को नबी मुहम्मद एकेश्वर पर श्रद्धा रत,
मानव - समता के पोषक, आस्था के पथ से तद्गत!
वह देख रहा ज्योतिर्वपु, मस्तक प्रभु - चरणों पर नत,
सित चित् किरणों में लिपटा स्वर्गिक गन्धों का पर्वत!

दुर्भाग्य समेट न पायी निज विस्तृत बाँहों में भर
यह भूमि मुसलमानो को तमसावृत था जन - अन्तर!
चैतन्य वृन्त से च्युत हो विधि नियमों में रत जड मन
तब विश्व - योनि का प्रतिनिधि रह गया न था! धिक् लाछन!

अब बीते धर्मो के दिन, चेतना उन्हें दे नव वर,
धर्मो के खँडहर से उठ निखरे आध्यात्मिक युग - नर!
वैज्ञानिक युग के विद्युत् संस्पर्शों से अनुप्राणित
निष्क्रिय सामन्ती स्थितियाँ हो रही जागरित, विकसित!

गत जाति धर्म कर्दम से बाहर निकले युग - मानव,
भव मानवता का स्वर्णिम भू - स्वर्ग रचे वह अभिनव!
लोकोदय की रचना हो बहिरन्तर सत्य समन्वित,
भू - जन की सित समता पर जग में हो ऐक्य प्रतिष्ठित!

(विघटन)

देखा वंशी ने हत - दृग् दारिद्रय आक्षितिज फैला,
नगरों की मा ग्राम्या का आँचल कर्दम से मैला!
दारिद्रय मनों के भीतर, दारिद्रय जनों में बाहर,
त्वच रक्त मांस मज्जा मे दारिद्रय घुसा अति दुस्तर!

दारिद्रय, अविद्या मणि धर ज्यों शत सहस्र फण विषधर,
फेंटों में जकड़े भू को हो निगल रहा कस - असकर!
पर्वताकार उस तम से निज अन्तर में आशंकित
खोजने लगा आशा की कवि किरण, प्राण हों दीपित!

देखा उसने आँगन में हरि सिरी खड़े थे निःस्वर,—
हों सोच रहे—चिन्तन मे बाधा दी हमने आकर!
वासन्ती रँग की साड़ी सूही अँगिया प्रिय तन पर,—
चम्पक त्वच, नव मधु - श्री - सी लगती थी सिरी मनोहर!

वंशी ने स्मित स्वागत कर द्रुत उन्हें बुलाया भीतर,
मन्त्रणा सखा से की फिर जन - भावी को सम्मुख धर!
बोला हरि, स्वतन्त्रता को अब होते चौदह वत्सर
इतने में दानव - भय हर लौटे घर विजयी रघुवर!

हम कुम्भकर्ण - से अब भी सोये प्रमाद में सोये,
युग - जीवन की गंगा में भू ने निज पाप न धोये!
सामाजिकता के प्रति जन हो सके न अब भी जाग्रत्,
निष्प्राण, रिक्त केंचुल - से, प्रेरणा - शून्य, तामस - रत!

मन रूढ़ि - रीतियों का वन कटु जाति - पाँति तम गुम्फित,
शत पाप - पुण्य के वन - पशु रखते जन - उर आशंकित!
खल छुआछूत का नाहर, क्षत - विक्षत जिससे तन - मन,
जन झाड़ - फूस विवरों में कृमि - जीवन करते यापन!

दारिद्रय अशिक्षा दुख के दानव जन पर मुँह बाये,
जिनके उदरों में सद्गुण सुख श्रेय समस्त समाये!
अब निज निर्वाचित शासन निज वित्त न्याय मन्त्रीगण,
बढ़ता ही जाता प्रति दिन भू पर चारित्रिक विघटन!

अब शुद्ध दूध घी मक्खन दुष्प्राप्य, तेल रज मिश्रित,
मँहगी ही मात्र प्रगति पर हाँ, अनाचार भी निश्चित!
कर्तव्य - मूढ़ - से जनगण निज भावी के प्रति शंकित,
प्रिय राम - राज्य के सपने मन से हो रहे तिरोहित!

दुर्लभ अब जीवन - साधन,—गृह - अन्न - वस्त्र, वन - गो - धन
मन्त्रियों पदों तक सीमित,—वंचित सुख - सुविधा से जन!
कर्दम कदन्न में पलते, मलते कर जन - साधारण,
परतन्त्र देश से दुष्कर स्वाधीन धरा का जीवन!

यह गाँधी का गौरव - युग, गण लोक - तन्त्र का प्रांगण,
हत बिलों घरौंदों में घुस रेंगता लोक कृमि - जीवन!
बसते ऊँचे महलों में स्वार्थी नर, लोक - प्रतारक,
जन - रक्षक से भक्षक बन, सेवक से प्रभु, भू - शासक!

चिर दमित मध्य युग का मन खुल खेल रहा आ बाहर,
गत जाति - वर्ग प्रान्तों में बँट रहा भग्न भू - खँडहर!
जन - मन को बाँध न पाता राष्ट्रियता का आकर्षण,
ऐसा कुछ कहीं नहीं जो फूँके जन में नव जीवन!

वरदान मिला था हमको स्वातन्त्र्य,—न पौरुष अर्जित,
हम लोक राष्ट्र रचना हित जीवन न कर सके अर्पित!
दायित्व रख गये पावन प्रिय राष्ट्र - पिता जो हम पर
वह पूर्ण न कर पाये हम बन आत्मलिप्त, पद पाकर!

जन - सेवक अब शासक बन रहते नगरों में सुख से,
सोधों में सधे, सुरक्षित, नाता न जनों के दुख से!
पकड़े दाँतों पंजों से भारत - मा का शव जर्जर,—
जन हित कारा क्या भोगी करते वसूल उसका कर!

हमने भी लाठी खायी कारा की मौमत झेली,
कंकड़ फूटे, चक्की नित पीसी, घानी भी पेली!
हमने न उगाहा जन से श्रम तप का मूल्य—अधेला,
निष्काम लोक - सेवा वह, युग - जीवन का था मेला!

बस राजा बने रहें हम—मन इस चिन्ता से कातर,
हम देश - प्रगति के बाधक समझौतों के हित तत्पर!
सात्विक मानव थे बापू जो लोष्ट समझते जन - धन
हम चवा ठठरियाँ भू की साधे जड़ शव पर आसन!

मल - मूत्र सनी जन - धरणी रुग्णा निरुपाय कलपती,
हिम में अवसन तन कँपती, मन के निदाघ में तपती!
सामन्ती दर्प भरे नर अब करते उस पर शासन,
मर्दित जिनके पद - मद से हत - भाग्य धरा का यौवन!

सहयोग, ग्राम पंचायत लगते कोरे युग प्रहसन,
समुचित नेतृत्व बिना क्या आ सकता उनमें जीवन?
चारित्रिक पतन न ऐसा देखा इन भू ने भीषण,
मुट्ठी - भर की सुविधा हित पिसते निरीह अगणित जन!

भारी उद्योग खड़े कर कर्तव्य न पूरा होता,
ज्यों देश अनाथालय हो जन - मन भीतर से रोता!
भू - भाग और भी जग में संगठित जहाँ जन - जीवन,
श्री सुन्दर वहाँ धरा - मुख, प्रिय मूल्यवान जीवन क्षण!

भू यहाँ कुरूप उपेक्षित, दुर्गन्ध भरे जन - प्रागण,
दूषित खाद्यान्न, सरुज तन, नैराश्य विषाद गुहा मन!
मानुषी ऊष्णता विरहित, सहृदयता - शून्य, विमुख जन,
जीवन पदार्थ घूरे - सा बिखरा, श्री गरिमा निर्धन!

आया तृतीय निर्वाचन पुर - पथ में फहरा केतन,
यन्त्रों - नारों से करते नर - झींगुर निज विज्ञापन!
अपने प्रभुत्व - पद के हित जन से कर भिक्षा याचन
चाहते शक्ति - मद - कामी भेड़ों पर करना शासन!

सिद्धान्त छोड़, पशु - बल पर उतरे अब प्रतिपक्षी दल,
झण्डे उखाड़, घूँसे जड़, साँडों - से भिड़ उच्छृंखल!
बैलों की जोड़ी भड़की, झोपड़ी जली धू - धूकर,
घर फूँक, दीप से बचना—हँसते गुण्डे हुल्लड़ भर!

ताकते एकटक पशु - से मन्त्राभिभूत हत जनगण,
हो श्रोट, वोट दें पत्थर, कहते क्रुद्ध, हँस मन ही मन!
त्योहार! फबतियाँ कस लो, श्रायी चुनाव की होली,
कीचड उछाल, गाली बक, भर दो वोटों से झोली!

गाँवों में प्रथम हमें था निर्मित करना जन - जीवन,
जो दैन्य श्रविद्या दुख के गड्ढे में गिरे चिरन्तन!
भू पर कुरूपता के जो कुत्सित नारकी निदर्शन,
तन - मन की दरिद्रता के पाटों में मर्दित प्रतिक्षण!

नव शिलान्यास हो जन में भू - जीवन का दिग् उर्वर,
गाँवों की श्री सम्पद् दे नगरों को नव संस्कृति वर!
पश्चिम की कच्ची प्रतिकृति नगरो का कृत्रिम जीवन,
प्रेरणा न उससे पाता भू प्रतिनिधि जनगण का मन!

हम जोह दूसरों का मुख श्रनुकरण कर रहे गर्हित,
जन - भू की मौलिक प्रतिभा हो रही न विकसित किंचित्!
पश्चिम के रँग में रँगकर हम भूल गये श्रपनापन,—
मरणोन्मुख श्रब वह संस्कृति, घटना जिसमें नित विघटन!

यान्त्रिक उद्योग श्रपेक्षित भारत को, किन्तु समान्तर
गृह - धन्धों की उन्नति से श्रम - रत रहते नारी - नर!
इस कृषि ऊर्जित भू का हो श्रौद्योगीकरण विकेन्द्रित,
सात्विक सुन्दर जन - जीवन मन हो श्रन्तर्मुख केन्द्रित!

मानसिक दासता कुण्ठित हम स्वाभिमान से विरहित,
पर - भाषा - जीवी बुध जन माँगी विद्या, पर गर्वित!
पर - भाव - विभव में लिपटे कहते श्रपने को पण्डित,
पर - कला - बोध लादे हम, दिखते बाहर से संस्कृत!

राष्ट्रिय एकता न सम्भव सांस्कृतिक ऐक्य भी दुष्कर,
पर - संस्कृति में पोषित मन भू - जन से विरत,—भयकर!
कैसे हम राष्ट्र बनें तब देशाभिमान से वंचित,
जन छिन्न - मूल पादप - से, गाँवों से पुर न समन्वित!

बंजर भीतर मन की भू, हम पर - मानस - जीवी जन,
चित् खाद्य न उपजा सकते,—कब से परान्न - सेवी मन!
हम पोष्य पुत्र, निज मा से चिर विमुख, विमाता लालित,
घन श्रन्धकार श्रन्तर में, बाह्याभासों मे पालित!

इस नैतिक दरिद्रता का कवि, श्रन्त कहीं क्या दुस्तर?
दृढ़ राष्ट्रिय स्तम्भों पर ही श्रन्तर्राष्ट्रियता निर्भर!
मधु - चक्र तुल्य जग - जीवन बहु भू - भागों से संचित,
मानुषी एकता का पट बहुमुख सूत्रों से गुम्फित!

भाषा न शब्द - संग्रह भर राष्ट्रिय आत्मा का दर्पण,
सामूहिक जीवन से छन बनते विचार, विधि, दर्शन!
औरों के जीवन - मन को माने अपना जीवन - मन,
हम लगा दूसरो का मुख ढोते रीते जीवन - क्षण!

पर - चेतस का स्पन्दन कर निज हृत् - तन्त्री में झंकृत
जन - भू - आत्मा के घातक हम रहते कृत्रिम जीवित!
उत्कृष्ट विदेशी पट तज हमने खादी अपनायी,
तब वस्त्र - कला भारत में सम्यक् विकास कर पायी!

यदि छोड़ सकें परकीया भाषा की हम शठ ममता,
जन - भू गृहिणी वाणी की बढ सके, क्षेत्र पा क्षमता!
वैज्ञानिक दृष्टि नही यह हम हों पर - भाषा पोषित,
तान्त्रिक स्वतन्त्रता पा हम अब मानस - स्तर पर शोषित!

भारत - प्रतिभा - निर्झर से अब नही विश्व - मन प्लावित,
निज शिखरों से विरहित हम छाया - जल - स्रोत प्रवाहित!
चैतन्य रज्जु भाषा की कर सकती युक्त हृदय मन
प्रान्तों में बँटे जनों को फिर बाँध राष्ट्र मे नूतन!

भाषा एका के पथ में बाधक आर्थिक संघर्षण,
विद्वेष, मोह, प्रान्तिकता, अक्षम, अवसर - प्रिय शासन!
पूर्व - ग्रह मध्य युगों के, भ्रामक बौद्धिक मूल्यांकन,
शुक विद्या संस्कृत जन का हत हीन - भाव पीड़ित मन!

आकाश - बेल अंग्रेजी छायी जन - मन - पादप पर,
जीवन - विकास क्रम जिससे कुण्ठित हो रहा निरन्तर!
इस पीढ़ी के मस्तक से कब छूटेगा यह लाछन?
इतिहास पुकार कहेगा जन - घातक थे नेतागण!

यह प्रान्तों की वाणी का जन - मानस हो रस - संगम,
सांस्कृतिक दैन्य की खाई फिर पटे युगों की दुर्गम!
उत्तर - दक्षिण छोरों पर नव सेतु - बन्ध हो निर्मित,
इस जन विशाल भू में हो राष्ट्रिय एकता प्रतिष्ठित!

दिग् भ्रष्ट, प्रगति के भ्रम में रख कई पीढ़ियाँ रेहन
निर्माण न हम कर पाये, निरुपाय धरा का यौवन!
भू - देशों को दुहकर भी हम हुए समृद्ध न किंचित्
जन - लौह - शक्ति मोर्चा खा, कब से निर्जीव, उपेक्षित!

माँगे पैसे बो - बोकर सम्भव क्या जन - वैभव - बल?
भू - रचना हित आवश्यक श्रम - कुशल करों का कौशल!
जागृति का डोला आता उद्यत सशक्त कन्धों पर,
प्रेरणा मूर्त हो श्रम में, सम्पद् जन - श्रम की अनुचर!

ऋण - पर्वत कन्धों पर धर कैसे उठता जीवन - स्तर
तीसरी योजना चलती—जन - भू हड्डी का पंजर!
संचित समस्त युग सम्पद् धनपतियों में मुट्ठी - भर,
अब मध्य निम्न वर्गों के जन निर्धन से निर्धनतर!

गत नाप - तोल - मुद्राएँ बदलीं, पुर पन्थ पुरातन,
बदली न दृष्टि, चेतनता, बदले न मूल्य, मत, चिन्तन!
बदले न मनुष्य—अशिक्षा दारिद्रय पीठ पर भीषण,
यह प्रगति, अगति या दुर्गति? कुछ समझ नही पाता मन!

जन - श्रम ही सच्ची सम्पद् वैज्ञानिक युग का घोषण,
प्रेरणा - शून्य यदि भू - मन निष्फल विकास - आयोजन!
कैसी उन्नति वह जिसमें हो मानव - द्रव्य न विकसित,
देखना पड़े दीपक से यदि भौतिक मंगल वर्धित!

जन - श्रम से होता कल्पित यदि नये राष्ट्र का जीवन
बँधता गति - लय में जन - मन जाग्रत् युग प्रति होते जन!
युग - स्थिति से लाभ उठा हम कब तक रह सकते जीवित?
अवसरवादी न कहे जग हम भव - संकट से पोषित!

सामयिक समस्याओं का सित पंचशील शुभ साधन,
जो हुआ न सफल धरा पर निर्बल कृतित्व के कारण!
यदि राष्ट्र रिक्त भीतर से, कैसे हो पूर्ण प्रयोजन?
लघु का क्षण - गौरव सम्भव पा महत् कृपा के कुछ कण!

नव मानवता के पथ पर बाधाएँ बनीं हिमालय,
विस्तृत हो जो मानव - मन, बाहर जड़ बन्धन हो क्षय!
दीखता महत् हिमगिरि से मानुष्य शिखर स्वर्गोन्नत,
बरसाता हँस प्रेमाऽमृत चोटी पर, स्वर भर भारत!

संक्रान्ति - पर्व : जाते मिल गंगा नहान को जनगण
आबाल - वृद्ध चल कोसों पैदल, श्रद्धा भीगे मन!
जन - मन - प्रेरक सित आस्था अब मात्र रूढ़िगत पंजर,
विस्मृत जीवन - रस धारा जिससे जन - धरणी उर्वर!

जन - मन में हमको भरना अब नयी प्रेरणा का बल,
भू - जीवन प्रति दे आस्था, जिससे हो मानव - मंगल!
जीवनी शक्ति प्राणों मे जो स्फुरित हो रही प्रतिक्षण
हरि - पद से निकली गंगा वह अपने मे चिर पावन!

हरि वंशी युग - गति - विधि से सन्तुष्ट न थे, चित् स्पन्दित,
अन्तर जीवन के प्रतिनिधि, उर रहता नित आन्दोलित!
बहिरंग मात्र मानव का विज्ञान - स्पर्श से विरचित,
अन्तर - मानव विकसित हो,—दोनों को सतत अपेक्षित!

जन - मुक्ति भूमिका केवल वंशी का मत था निश्चित,
युग - प्रश्न मुख्य—मानवता किन तत्वों से हो निर्मित?
हरि था नैतिक दुख मन्थित, श्री युग - जीवन प्रति जागृत,
युग - कवि - उर उद्वेलित था रस गूढ़ चेतना प्रेरित!

(विकास)

वंशी ने हरि के आहत वचनों का किया समर्थन,
उसकी ओजस्वी वाणी युग - तथ्यों की थी दर्पण!
बोला युग - कवि,—शतियों से भू के प्राणों का स्पन्दन
निश्चेष्ट रहा, धीरे ही लौटेगा उसमें जीवन!

यह सच, गत दमित अहन्ता जन - भू की जग, आ बाहर,
खेलती मुक्त, क्षय होने निज अभिव्यक्ति पथ पाकर!
मृत रूढ़ि - रीतियों का मन सन्तुलन ग्रहण कर जीवित
नव राष्ट्र चेतना वपु में होगा क्रमशः संयोजित!

जन - तान्त्रिक ढांचे में बँध भारत की आत्मा अक्षय
बहुरूप एकता अपनी चरितार्थ करेगी निश्चय!
बहुमुखी सूत्र जीवन के फिर गूँथ राष्ट्र - पट में नव
वह सहज सँजो पायेगी निज अनेकान्त उर अनुभव!

नव युग - जीवन - गंगा को मत दान अर्घ्य कर अर्पित,
चुन कर्मठ लोक - पुरोधा जन करें सुकृत फल संचित!
नव मन : संगठन का जल जन हित हो कर्म प्रवाहित,
नव लोक - तन्त्र संगम पर आस्था हो जन की वर्धित!

नव सेतु - बन्ध रचना कर तरना जन को तम - सागर,
पाटें निज मत के कन से दारिद्र्य अविद्या दुस्तर!
प्रति पाँच वर्ष में जन - भू करती युग - मानस - मन्थन,
नव रत्नों से भूषित कर फिर धरा - मुकुट,—जन - शासन!

हम क्रूर हिंस्र भू - पथ में मनुजोचित दृष्टि न खोयें,
सुख - सम्पद् सँग जन - मन में मानुषी मूल्य भी बोयें!
दुःसाध्य समस्या जन की, योजना अनेक क्रियान्वित,
पाटना गर्त शतियों का हो उठती बुद्धि चमत्कृत!

अब नहर बाँध, बहु जल - कल नव कूप - ताल सिंचन हित,
जन - गृह, आवागम साधन, परिवहन, सेतु, पथ विस्तृत,
उद्योग - यन्त्र, विद्युत् - गृह, इस्पात, सिमण्ट यथोचित,
हो रहा लोक - जीवन सँग उत्पादन गोधन विकसित!

खाद्यान्न परम आवश्यक जन हित, सन्देह न किंचित्,
पर, शिल्प - कला - संस्कृति से वंचित नर पशुवत् जीवित!
चारित्रिक उन्नति के हित ज्यों नैतिक बल वर साधन,
सामाजिक जीवन - पट में सौन्दर्य - बोध मणि - कांचन!

गत जाति - पाँति - वर्ण के विष से विमुक्त कर जन - मन,
जड़ रूढ़ि - रीति का तम हर, युग दीपित कर भू - प्रांगण,—
हमको निर्मित करना नव राष्ट्रिय मानस दिग् विस्तृत,
चैतन्य धरा - जीवन का मन का कर पूर्ण समन्वित !

धीरे, सतर्क बढ़ने में स्थायित्व,—न इसमें संशय,
अति सूक्ष्म विधान मनुज का द्रुत गति में गिरने का भय !
वैयक्तिक विचित्रतामय हो जन - समाज रचना नित,
बहु एक, एक बहु के संग हों जलधि वीचि - से गुम्फित !

यह सत्य, नग्न निर्धनता भारत - मस्तक की पातक,
जन - मन नैराश्य अशिक्षा जीवन - विकास हित घातक !
भू की कुरूपता पहिले धोनी हमको निःसंशय,
बाहर हो नरक - तिमिर से जन साँस ले सकें निर्भय !

तुम वस्तु - दृष्टि उन्मेषित करते युग का विश्लेषण,
यह ठीक, लोक - जीवन - तम दीपित कर सका न शासन !
निर्मम युग - सीमाएँ ये—कैसे हो त्रुटि संशोधन,
शासक शासित में भरना हमको सक्रिय संयोजन !

यह भी अनिवार्य, हमें अब ऊँचा करना अपना स्वर,
नव लोक - क्रान्ति की भेरी जन - मन में पैठ, करे घर !
यदि स्वस्थ सबल प्रतिपक्षी न धरेगा रश्मि नियन्त्रण,
श्लथ प्रजा - तन्त्र - युग का रथ होगा पथ - भ्रष्ट प्रतिक्षण !

सामाजिक क्रान्ति अपेक्षित भारत जन के मंगल हित,
हो जाति - वर्ण में बिखरी चेतना राष्ट्र में केन्द्रित !
गत अन्ध रूढ़ि - पिंजर में बन्दी निर्बल निष्क्रिय मन
उड़ मुक्त - प्राण चिद् नभ में फिर चुगे स्वर्ग - पावक - कण !

ठहरी थी आध्यात्मिकता विज्ञान - शक्ति हित कातर,
वह मूर्त हो सके भू पर पा समदिग् जीवन का वर !
वह समाधिस्थ हो निःस्वर सित ऊर्ध्व गगन में थी स्थित,
अब सर्व भूत रत, भू पर जन स्वर्ग करे वह निर्मित !

भौतिक मद के अश्वों को करना नर को अनुशासित,
यान्त्रिक न बने भव जीवन हों यन्त्र मनुज के आश्रित !
विज्ञान ध्वंस के बदले युग रचना में हो योजित,
हो मानवीय निष्ठुर - भू नव प्रकृति विभव सम्पोषित !

वैज्ञानिक युग में विकसित बहु उत्पादन के साधन,
अब वाष्प तड़ित अणु - बल से ऊर्जस्वित जन - भू जीवन !
आदिम बौने मानव को करना निज से संघर्षण,
वह बने न बाधक,—भू के वैभव का हो सम वितरण !

अवचेतन कुण्ठाओं से मर्दित प्रच्छन्न मनुज मन,
दो दारुण विश्व - रणों से कँप चुका ध्वस्त भू - प्रागण !
अब रक्त - तृषित आदिम - नर निज सर्वनाश हित तत्पर,—
निश्चेतन का उद्वेलन नव सृजन - वेदना - कातर !

बाहर का युद्ध समापन,—अन्तर मानव हो विकसित,
सब ओर - छोर जन - भू के हों शोभा सम्पद् मण्डित !
जीवन शिल्पी मानव के जन वास बनें दिक् कुसुमित,
मित सात्विक बहिर्विभव हो, अन्तर ऐश्वर्य अपरिमित !

वैज्ञानिक यन्त्रों से हो भारत मे कृषि - फल अर्जन,
सामूहिक कृषि मे युगपत् वर्धित हो शस्य - हरित धन !
संगीत बनें जन - भू - श्रम, हों कृषक श्रमिक अनुप्राणित,
बहिरन्तर जीवन - शोभा संयम पर हो आधारित !

घर - द्वार बेचकर भी जन आतुर, बनने को साक्षर,
नगरों की मौन चुनौती स्वीकृत करता भू - अन्तर !
बौद्धिकता के सित तम में खोया अब सभ्य धरा - मन,
संस्कृत बनना ही शिक्षित, सात्विक विनम्र हो भू - जन !

कृमियों - सी बढ़ जन - सन्तति भू - भार बढ़ाती प्रतिक्षण,
सम्पन्न धरा सम्भव तब जब हो परिवार नियोजन !
सुन्दर हो धरणी का मुख, शिक्षित संस्कृत जनगण मन,
सौन्दर्य सृजन सुख मे रत, जन कला - शिल्प हों नूतन !

हरि, सह - अस्तित्व धरा पर ऋण समाधान भर निश्चित,
वैयक्तिक सामूहिक गुण जन - भू पर अभी अविकसित !
दो प्रतिस्पर्धी शिविरों मे जन - मन जीवन बल खण्डित,
उन्नीत चेतना ही में हो सकते उभय समन्वित !

लो, सुनो, बजी रण - भेरी हिम - शृगों को नादित कर,
दिग् ध्वनित हुआ जगती मे आक्रमण चीन का बर्बर !
उत्तर प्राचीर हिमालय अरि चापों से अब कम्पित,
भारत का अविजित प्रहरी होगा न कभी पद - मर्दित !

इतिहास रहेगा साक्षी प्राचीन पड़ोसी, सहचर,
सांस्कृतिक शिष्य भारत का जन - रक्त - पात को तत्पर !
हर - गिरि को पुनः हिलाता युग - रावण उन्मद दुर्धर,
वह शक्ति अन्ध, भव - द्रोही, अभिशाप न बने उसे वर !

क्या नहीं किया भारत ने उसके हित इन वर्षों में
अब भी तटस्थ, शान्तिप्रिय, अविचल निज आदर्शों में !
फिर जाग उठी चिर सोयी जन - धरणी बन युग चेतन,
वह युद्ध - नद्ध, अप्रतिहत, दृढ़ वज्र देह, पर्वत पण !

दक्षिण पूरब पश्चिम से बढ़ते उत्तर को उठ पग,
सागर लहरों - से दुर्दम चढ़ते अबाध भूधर हग!
पाकर आघात असत् का सत हुआ धरा का जागृत,
झंझा का झोंका खा ज्यों हो उठता पावक जीवित!

तन - मन - धन - यौवन - जीवन जन करें धरा को अर्पित,
सींचने विजय - श्री का पथ मा माँग रही सुत - शोणित!
दो रक्त - दान माता को अमरत्व जी उठे भू पर,
दो रक्त - धार धरती को हो शौर्य वीर्य से उर्वर!

किस लिए रुधिर दे भारत, क्या विजित चीन को करने?
धिक्, भू का कल्मष हरने, युग कलश सत्य से भरने!
किस लिए लड़े जन भारत शासन करने पृथ्वी पर?
ना, अरि को मानवता का, भू - संस्कृति का देने वर!

आर्थिक या राजनयिक जय भारत को कभी न वांछित,
जन - मन पर विजयी हो वह, हो शान्ति विश्व में स्थापित!
निश्चय ही उसको करना जन - भू पर स्वर्ग प्रतिष्ठित,—
वह शोणित अंजलि से हो या तपस्त्याग से अर्जित!

क्यों चीन लड़ रहा? भ्रामक उसका जीवन - मूल्यांकन,
पशु - आकांक्षा तक सीमित उसका जन - जीवन दर्शन!
फुंकार छोड़ फैला फन अहि दैत्य मारता दंशन,
अणु - युग में विवर व्रती को सूझा ताण्डव रण नर्तन!

नख दंष्ट्रा वन - मानुप का प्रस्तुत कर क्रूर निदर्शन,
आस्था सब भू - देशों की खो रहा चीन हत चेतन!
कवि - मन युग - विस्फोटों का जब गूढ खोजता कारण,
भू - उर में ज्वालामुखियाँ तब उसे दीखतीं भीषण!

प्रस्तर - युग का खर आदिम बर्बर वनचर नर भीतर
अब भी निज नीड़ बसाये—जन - अन्तर तम का गह्वर!
भौतिक युग में एकांगी मानव विकास सम्पादित,
सर्वांग उन्नयन उसका भू - मंगल हेतु अपेक्षित!

मन के अन्धे कोनो को होना सित प्रज्ञा दीपित,
गत देश जाति में खण्डित मानव चेतस् को विकसित!
आर्थिक तान्त्रिक वैभव ही पर्याप्त न जन - गरिमा हित,
ऋत सम्पद् से जीवन का करना भू - स्वर्ग प्रतिष्ठित!

उपचेतन मन के दारुण शूलों का कर उन्मूलन,
चित् शिखरों की किरणों से आलोकित करना भू - मन!
तब तक अजस्र संघर्पण करना जन - भू को अ - विरत
समदिक् कुण्ठित मन जब तक हो सकें न ऊर्ध्व समुन्नत!

जन रक्त - पात, बर्बर रण होंगे तब तक न समापन
जब तक विकास शिखरों पर भू - मन न करेगा रोहण!
इसलिए, सत्य की जय हित जन युद्ध करें विगत ज्वर,
मानवता आत्मजयी हो, रण - विमुख न हो डर अन्तर!

जन लड़ें—एक जन - भू हित, पा विजय भेद - द्वन्द्वों पर,
धो शोणित से भू - तम मुख नव युग प्रभात ला सुन्दर!
मरकर ही मर्त्य अमर को अमरत्व दिव्य देता वर,—
यदि मरे लोक - मंगल हित अर्पित हो मृत्युंजय नर!

अपनी कुरूपता पर ही अति मुग्ध दीखता मानव
अज्ञान, अहंता ही को समझे नर - जीवन गौरव!
भू के अतीत से अविरत संघर्षण कर ही, अभिनव
स्थापित कर सकता भू के मन में भावी जन वैभव!

भू लोक अस्मिता निश्चय गत स्थितियों में थी सीमित,
शत राग - द्वेष भय मद के षड् रिपुओं से उत्पीड़ित!
नव कल्प गुणों में उसको होना अब विकसित वर्धित,
यह वैश्व संचरण,—जिसकी सामूहिक परिणति निश्चित!

अध्यात्म सत्य से कर नव विज्ञान तथ्य संयोजित
आसुर यन्त्रों को करना जन सेवा हित अभिमन्त्रित!
पश्चिम से शिक्षा लें जन,—भौतिक मद से सम्मोहित
हम गिरें न अन्ध तमस में विध्वंस गर्त कर निर्मित!

मानव के केवल तन - मन भौतिक युग में संवर्धित,
वह हृदय - हीन, हिंसा-प्रिय, जन - भू - विनाश हित प्रेरित!
अति तार्किक, आस्था विरहित, स्थितियों का दास, सशंकित,
प्रेरणा शून्य, क्षण - जीवी, आत्मा से निपट अपरिचित!

सक्रिय हो मानव - आत्मा, हृद् दीप स्वर्ग - लौ दीपित,
सर्वांग समन्वित निखरे नव मनुष्यत्व अन्तःस्मित!
विचरे भू - प्रेमी मानव सित [illegible] श्रेणियों में नित,
पशु हों देवों का वाहन, जन - [illegible] मन अन्तःस्थित!

भू - जीवन मूल्यांकन हित [illegible] पीठिका [illegible]
चाहिए,—सृजन - मूल्यों की [illegible] हो अन्तर्मुख [illegible]
जन - भू पर आत्मिक मूल्य की [illegible] हो, स्वर्ग [illegible]
प्राणों की भू पर [illegible]

गत स्वर्ग मर्त्य की [illegible]
लौकिक आध्यात्मिक में हो [illegible] जन - [illegible]
जड़ भू से चिन्मय [illegible]
संशय न मूढ़,—[illegible] जन - भू [illegible]

वैयक्तिक मुक्ति निरर्थक, वह आंशिक, आत्मिक स्तर पर,
सामूहिक गरिमा मे ही मूर्तित जग - जीवन ईश्वर !
आनन्द मधुरिमा मंगल भू - मानस शतदल में झर
आलोक प्रीति शोभा का भू - स्वर्ग रचें जन सुखकर !

कवि स्वप्नों से सुख पुलकित, नत, कहा सिरी ने सादर,
स्त्री कला - शिविर ही का तब क्यों न हो स्वर्ण रूपान्तर ?
सांस्कृतिक प्रयोगो की वह मणि - पीठ बन सके निर्भय,
जन समझ सकें युग - कवि के जीवन - स्वप्नों का आशय !

हम कला - शिविर छात्राएँ तन - मन - जीवन कर अर्पित
नव सत्य साधना में रत होंगी मन ही मन उपकृत !
जड़ मिट्टी में स्वप्नों को गढ़, करें आप युग मूर्तित,
पात्रता हमें देने में होगी रज प्रकृति परीक्षित !

सुन्दरपुर—महा नगर का उपकण्ठ,—निसर्ग मनोहर,
यह रजत शान्ति कवि मन की साधना भूमि हो उर्वर !
सांस्कृतिक पीठ हो जन हित नव युग ईश्वर की सित वर,
जनपद - जीवन नगरों को दे स्नेह निमन्त्रण निःस्वर !

वंशी ने किया सिरी की इस सहज सूझ का स्वागत,
वह स्वतः योग्य पात्री थी जन - जीवन - मंगल में रत !
हँस, एवमस्तु ! बोला कवि, यह स्वल्प सांस्कृतिक उपक्रम
भू पर नव युग वाहक हो, दीपित हो प्राणों का तम !

जनपद विहीन भारत - पट भू त्वक् पंजर भर निश्चित,
शोषित पीड़ित से विरहित युग - चित्र अधूरा निश्चित !
गाँवों ही के अंचल में सांस्कृतिक स्वर्ग, हरि, सम्भव,
जीवन - मृत भू - नगरों में ह्रासोन्मुख मानस वैभव !

इस समारम्भ में, सम्भव, दे नरक स्वर्ग आलिंगन
कर सकें अचेतन से उठ नव चेतन में आरोहण !
गाँवों के वाह्य नरक में अव्यक्त स्वर्ग अन्तर्हित,
नगरों के स्वर्गिक सुख में नर - रचित नरक अवगुण्ठित !

कैसे हो सार्थक जग में भू - स्वर्ग स्वप्न जीवित बन,
अन्तर अनुभव से प्रेरित करना हमको युग - चिन्तन !
सांस्कृतिक चेतना का नव भू पर करना आवाहन,
जो रचे शुभ्र जीवन - पथ अतिक्रम कर युग - मानव - मन !

आर्थिक तान्त्रिक आन्दोलन पीछे जायें जब,—सम्मुख
सास्कृतिक संचरण आये तब उज्ज्वल हो जीवन - मुख !
गृह अन्न - वस्त्र दुर्लभता हो भले श्रेय पथ बाधक,
पद - शक्ति लालसा समधिक संस्कृत जीवन हित घातक !

जन देह प्राण मन को कर भू प्रीति सूत्र में गुम्फित,
वैयक्तिक रुचियों को कर सामूहिक रुचि मे विकसित,
नव विश्व - चेतना - पट में हमको करना संयोजित,—
मंगल मधुमय जीवन का भू पर हो स्वर्ग प्रतिष्ठित !

प्राक्तन युग में आध्यात्मिक आस्था पर था जग आश्रित,
भौतिक मूल्यों से सम्प्रति भू का जीवन संचालित !
जन मध्य युगों में नैतिक सत्यों से थे अनुप्राणित,—
तीनों को अतिक्रम कर नव सांस्कृतिक वृत्त हो विकसित ।

प्राची पौरुष की प्रतिनिधि, तप योग ज्ञान मे दृढ व्रत,
पश्चिमा प्रकृति अन्वेषक, विज्ञान साधनों मे रत;—
हो दोनो पक्ष समन्वित नव युग करता आमन्त्रित,
चिद् नभ की शुभ्र विभा हो भू सृजन - कर्म मे मूर्तित !

हमको अदृश्य पावक से गढ़नी भू - प्रतिमा जीवित,
जड धरा योनि हो स्वर्णिम अध्यात्म रश्मि से गर्भित !
जड ?—सुप्त वीज, जिसमें हो स्वार्णांकुर दिव्य प्ररोहित,
जड ?—गुह्य वीज, जिससे हो नव शक्ति - तत्व फिर जागत ।

वीहड़ युग - मन की भू पर रचना भू - स्वर्ग नवोत्तर,
ले प्रकृति उपकरण मौलिक, अनगढ जन - शिल्प - कला भर !
साहस, श्रम, धैर्य, विनय से पथ के शूलो पर पग धर,
युग - स्वप्न मूर्त करना नव,—सुन्दर शिव सत्य सँजोकर !

चिद् वीज हमें वोने सित, प्रस्तुत न मनोभू उर्वर,
आच्छादित उसे किये बहु गत सस्कारों के तृण खर !
रज योनि स्वर्ण अँकुओं से करनी पावक हास्य - स्मित,
हँस उठे तमस प्राणो का चेतना रश्मि से गर्भित !

मानव - प्राणो के तम मे फिर खुले स्वर्ग - वातायन,
प्रमुदित हों इन्द्रिय पंकज आये चैतन्य किरण छन !
सामूहिक भू - जीवन हित आध्यात्मिक निधि हो अर्पण,—
मानव जीवन गरिमा सें दिक् प्रहसित हो भू - प्रांगण !

निश्चेतन दैन्य निशा से वाहर निकले सुन्दरपुर,
संस्कृत हो मानव - पशु मुख, विकसित हों भू पर चल सुर !
स्वर्गीय प्रेरणाओ से आन्दोलित युग कवि अन्तर,
सम्भाव्य ध्वंस हो जग हित नव रचना मंगल का वर !

मैं नही,—अहंता मेरी हो चुकी कभी की मज्जित,
नव कल्प उतरता भू पर निज कवि को लेकर निश्चित !
हरि, महापुरुष प्रभु प्रतिनिधि, द्रष्टा से लोग न परिचित,
कवि रहस् सत्य जीवन का कर जाता शोभा - मूर्तित !

तत्वतः रुद्ध भू-प्रांगण सुन्दर का पुर निःसंशय,
मानव ही सत्य, द्विधा भय वह छोड़ बने मंगलमय!
इन्द्रिय-जीवन स्तर पर ही आत्मा का स्वर्ग प्रतिष्ठित,
सामूहिक भू-पथ से ही उन्नयन मनुज का निश्चित!

लघु क्षुधा-काम के डग धर हरि, घूम वृत्त में फिर-फिर
भू-जीवन दिवा-निशा में कुछ बढ़ा, घटा कुछ, उठ-गिर!
आनन्द प्रेम पंखों पर अब लाँघ प्रकाश दिगन्तर
होता समग्र विकसित वह सुन्दर से बन सुन्दरतर!

हम रहे नाम ही रटते ज्यों नाम मात्र हो ईश्वर,
प्रभु-रूप देखना हमको अब रच जन-भू दिक् सुन्दर!
इस नाम-रूप के शाश्वत ताने-बाने में अक्षर
पर में ही अपर, अपर में रहता पर तत्व निरन्तर!

पार कर विश्व मनस को, प्राण, करो आरोहण ऊपर और,
स्वच्छ अन्त.सलिलो मे पैठ गिरे, खोजो रस-भू चिद्-गौर!
जीर्ण युग पतझर वन से झाँक गूँजते रजत स्वर्ण मणि मौर,
मरन्दो की पी सौरभ साँस स्वर्ग मधु हित आकुल जन भौंर!

३. मधु स्पर्श

आओ, श्रद्धा सँग बैठें युग मनु प्रसाद, पथ सहचर,
यह प्रेम गोत्रजा जो अब चलती शिखरों से भू पर !
समरस जड़ - चेतन के तट प्लावित करती जीवन - गति,
लौटा लाया मानव को, यह सखे, त्रिपुर की परिणति !

तुम मनः स्वर्ग के शिल्पी, नव कविता वनिता के वर,
फिर श्रद्धा - कर से नूतन जन - लोक रचो दिक् सुन्दर !
नव युग छिप आँख - मिचौनी लो, खेल रहा जन - मन में !
मधु ऋतु का शोभा पावक अब दौड़ रहा वन - वन में !

मृदु फूल देह, मलयज का रेशमी परिच्छद कोमल,
सौरभ साँसें, स्मित मुख पर प्रिय कनक मरन्द अलक चल !
वह चिर नवीन, जन - भू की आकांक्षा का गोपन धन,
प्राणों की ऊष्मा का रवि, भू के शोणित का यौवन !

स्वप्नों का शशि, आशा की रुपहरी तरी पर शोभित,—
वन नव वसन्त, कवि का उर रखता रस व्यथा मथित नित !
अनुराग - अग्नि तूली से भू अम्बर उर पर अंकित,
कलियाँ नव लपटों के दल फैलाती इच्छा मोहित !

नत नभ अनिमेप नयन अब, दिक् - श्री मांसल आलिगन,
सज्जा - प्रिय मुग्धा - सी भू, धीरोद्धत गन्ध समीरण !
ज्वाला की अँगड़ाई ले जीवन इच्छा से विह्वल
फूले चटकीले टेसू रंगों का भर कोलाहल !

कचियाई नव महुआरी महँक मादक, मृदु [illegible]
वन फूलों की गन्धों से गुंफित ऋतु मारुत [illegible]
चख आम्र - मंजरी का मुग मधु पीते गीत मधु[illegible]
शोभा रस पावक में अब गाता पागल कवि [illegible]

कचनार कली रँग भीनी उमगीं निर्दल डालों पर,
कहता वंशी विस्मित उर यह कौन शक्ति मधु - पतझर!
बीता निसर्ग अंचल में उसका शोभा - प्रिय बचपन,
जन - नगरों में शिक्षा - रत विकसा रुचि - संस्कृत यौवन!

वर्बर भू से मानव ने किस भाँति किया संघर्षण,
किस भाँति सभ्यता संस्कृति स्थापित की,—समझ सका मन!
किस भाँति खण्ड भू - जीवन हो मनुज - स्वर्ग में परिणत,—
युग - स्थितियों से मर्माहत रहता वह भय - चिन्तन - रत!

जिस भारत - भू के सिर पर चित् शुभ्र ज्ञान मणि शोभित,
जन - जीवन वहाँ युगों से भय दु:ख गर्त में मज्जित!
भू को दरिद्र कर, प्रभु पर आस्था - भर दी ऋषिजन ने,
कैसे हो उस आस्था का उपयोग,—सोचता मन में!

गाँवों की दैन्य निशा में अब रहता वह सन्तापित,
अधरों की रस प्रिय मुरली डँसती अहि - सी अभिशापित!
पतझर के उर - पंजर से नव फूट रहा मधु पावक,
निज स्वप्न - नीड़ में गाता कवि का मन,—वन - पिक शावक!

झरते मरकत आँगन में उड़ साथ सहस्रों तरु दल,
लगता कवि को, लहराता विधि सृष्टि कला का अंचल!
बिछ जाती नीम तले कँप स्वर्णिम मर्मर की चादर,
वन तरु रेखा छवि बनती छन स्वर्ग - चाँदनी भू पर!

कहता वंशी का कवि मन खग नहीं अनघ नर कोयल,
बरसाता मधु - रस - ज्वाला बिजली का भावुक बादल!
स्वर्णिम अँगार—जिसके स्वर फैला रस लपटों के पर
प्यासे शोभा पावक से झुलसाते हृदय दिगन्तर!

कहता वह, अग्नि - शयन यह मधुऋतु शोभा का उपवन,
भव, मर्म वेदना रचना, भू, प्रणय चेतना प्रांगण!
ओ क्वारे पावक के गिरि, स्वर्णिम ज्वाला से आवृत,
तुम मानव के अन्तर में जलते रहते निःस्वर नित!

श्री शक्ति प्रीति रस सुख के नव स्वर्ग - दूत तुम निश्चित,
भू - स्वप्न - नीड़ को करते नव स्वर्ग - रश्मि से दीपित!
ऋतु वैभव करता उसके अन्तर यौवन को जागृत,
लगते समस्त जड़ - चेतन अब एक सत्य संचालित!

आनन्द प्रीति शोभामय मधु आत्मा से उन्मेषित
नव भू - जीवन - स्वप्नों से हो उठता उर उद्वेलित!
तब उसे स्मरण हो आता निज जन्म - भूमि का अंचल,
नित जहाँ निसर्ग विभव का बरसा करता मधु मंगल!

यह स्वर्ग - खण्ड, हिमवत् का था हरित शुभ्र दिक् प्रांगण,
शोभा की अप्सरियों संग बीता कवि का प्रिय बचपन!
जब स्वप्न ध्वनित हो उठता मधु आगम से वन प्रान्तर,
शत रंगों की छायाएँ भर देतीं गन्ध दिगन्तर!

बहता उसके प्राणों में संगीत स्वर्ग - भू मादन,
लावण्य लोक सुन पड़ता अन्तर में अपलक लोचन!
चित्रित रोमिल पंखों पर उड़ता कलरव अम्बर में
गाते शतमुख गिरि - वन - पथ विहगों के बहु रँग स्वर में!

गिरि कोयल, वन भृंगों सँग गा उठता उर का स्पन्दन,
तन्मय रखता अन्तर को नीरव निसर्ग सम्मोहन!
चिल्ला उठतीं चट्टानें सौन्दर्य स्पर्श पा नि.स्वर,
कँपता रहता क्षितिजों पर रँग - रँग का किसलय मर्मर!

खुलते कलि कुसुमों के मुख शत रंग छटाओं से भर,
हिम पवन झुलाता मन्थर, शशि किरण जुड़ातीं अन्तर!
विस्मय - विमूढ़ रहता वह जब पलक खोलती कोपल,
पुलकों से लद जाता वन, वे रूप - सृजन के हों क्षण!

स्वप्नावस्थित - सा सुनता वह रस - धारा की कल - कल,
जो पुष्प - शिराओं में वह रँगती पंखड़ियों के दल!
मुकुलों के खिलने की ध्वनि सुनता उसका तन्मय मन,
बज उठती स्वर्णिम पायल उड़ती जब सौरभ निःस्वन!

भौंरों की गुंजारें सुन रँग उठते कलियों के मुख,
रस भुवनों - से पकते फल, गाती अप्सरियाँ उन्मुख!
झरनों के फेनों में हँस, हिम लड़ियों से माँगें भर,
फिरती शिखरों की परियाँ सुरधनु छाया लिपटाकर!

मधुऋतु दिशि वन पर्वत को चेतना ज्वाल से छूकर
रंगों, गन्धों, गूँजों का रस - पर्व मनाती सुन्दर!
फहरा उठते शृंगों पर सौरभ पराग के केतन,
मुकुलों के मुख - परिमल का बहता हिम - ग्रथित समीरण!

विद्रुम ईंगुर किसलय के खोलते क्षितिज नव लोचन,
नीले - पीले दीपों में जल उठते अपलक तरु - वन!
बहती मरकत घाटी में मोती की फेनिल कल - कल,
झरते मुखरित शिखरों से हीरक जल निर्झर उज्ज्वल!

निर्जन नीलम ढालों पर सतरँग छायाओं में ढल
सन्ध्या फहरा स्वर्णांचल होती क्षितिजों में ओझल!
कँपते रहते मर्मर भर गहरी छायाओं के वन,
हरियाली के सागर - से तरु - शिखरों को मथ प्रतिक्षण!

उस हिम - प्रदेश में रहती मधुऋतु शाश्वत श्री शोभित,
शत गन्ध - वर्ण - रस गुंजित मुकुलित मृदु अंग, उर पुलकित !
सौन्दर्य स्वर्ग वह उसके शिशु - मानस में था अंकित,
आनन्द - स्पर्श, जो उसकी आत्मा को करता प्रेरित !

निःसीम, नील पक्षी - सा बैठा लगता चोटी पर,
सतरंग छाया - वाष्पों के उभरे रहते रोमिल पर !
वन राजि भरे गिरि रहते दिग् हरित हर्ष रोमांचित,
लोमश पशुओं से भाते, चीड़ों के तरु - वन पुंजित !

सिन्दूरी रवि पावक के रूपा मणि - घट भर लाती,
पाटल प्रकाश के निर्झर गिरि शृंगों पर बरसाती !
उस नीलारुण किरणो के श्री स्वर्ण हरित प्रान्तर में
मन स्वप्न - तरी पर बैठा तिरता शोभा - सागर में !

उसके अन्तर - दर्पण - सा शोभित सम्मुख हिम पर्वत
स्वर्गोन्मुख रखता उसकी उर - आकांक्षा को अविरत !
अपलक रहतीं आँखें नित उर में अवाक् भर विस्मय,
उस शुभ्र शान्ति सत्ता में डूबा रहता मन तन्मय !

जग में न सत्य था वैसा शाश्वत, असीम, ध्रुव, अक्षय,
बाँधे ही जो भू - नभ को आलिंगन में मंगलमय !
इन्द्रिय मन को अतिक्रम कर वह हो भू का आरोहण,
उन स्वर्गिक शृंगों में जग जड़ तम हो उठता चेतन !

दुर्गम, असीम असि - पथ - सी उठती गिरि - श्रेणी भाती
धरती निश्चल हिल्लोलित नभ को छूने को जाती !
उस दिग् विराट् गरिमा से संस्पर्शित उसका अन्तर
कब लीन हो गया जाने शाश्वत शोभा में निःस्वर !

निज में नगण्य था उसका जीवन,—कवि का था अन्तर,
रस गुह्य सूर्य उर भीतर बरसाता स्वर्णिम निर्झर !
गिरि की अप्सरियों के संग बीते किशोर वय के क्षण,
मधु - स्वप्नों की छाया में शोभा - का पकड़े था मन !

यौवनोन्मेष : अनजाने अनिमेष खो गये लोचन,
कब मधुर प्रकृति - शोभा ने धर लिया मुग्ध नारी - तन !
कब चाँद बन गया प्रिय मुख, गिरि - शिखर उरोज मनोहर,
पृथु शैल - माल जंघाएँ श्री हरित तटी कटि सुन्दर !

उड़ते हिम - खग चंचल दृग, अधखुले मुकुल अरुणाधर,
मुख श्वास आर्द्र वन - सौरभ, नव प्रणय वचन पिक के स्वर !
रज पीत अनिल अंचल उड़ करता प्राणों को पुलकित,
गिरि स्रोत रुपहले चलते स्वर्णिम नूपुर कर झंकृत !

ऊषा नखशिख लज्जा में लिपटी अब गिरि पर आती,
सन्ध्या ढलते, मृदु तम की श्यामल वेणी लहराती !
देखा कवि ने शोभा का भावाकुल गौर सरोवर
मुग्धा वय के मधु मारुत स्पर्शों से कम्पित थर - थर !

चम्पक अंगों की चंचल लेटी हो सरित अनावृत,
यौवन - प्रवेग में बहती मधु - स्वप्न - पुलिन कर प्लावित !
त्वच छूपछाँह - सा कोमल,—लीला लावण्य तरल - जल,
पृथु फूल - कूल - जघनों से सरका - सा फेनिल अंचल !

उठती दबती लहरों का हो शुभ्र हंस वक्षस्थल,
कोमल मृणाल की बाँहें, उत्फुल्ल कमल मुख - मण्डल !
नव रक्त पद्म पँखुरी - से मृदु अधर तुहिन मुक्ता स्मित,
खग - माला मुखरित कटि - तट स्वर्णिम काची - से झंकृत !

अति गुह्य अंग - सा जल मे चल भँवर लालसा विह्वल,
श्यामल निश्चेतन तम के खोले लोहित पावक दल !
वह कूद पडा हत चेतन रस अतल रूप - सागर में,
हाला लहरो पर उठ - गिर मधु ज्वाला भर अन्तर में !

रति की फूलों की शय्या कर सकी न मन को मोहित,
वह स्नेह - शून्य रज तन की क्षण दीप - शिखा थी कम्पित !
क्षण रूप, प्रेम हित तुमको होना सम्पूर्ण समर्पित,
तुम प्राणहीन छाया - से कब तक रह सकते जीवित !

वंशी शोभा - प्रेमी था, शोभा, जो आभा कल्पित,
जिसके पट में प्राणों का तम पावक गिरि अवगुण्ठित !
मुग्धा धारा उसका मन रस प्लावन में कर मज्जित,
कब खिसक गयी छाया - सी स्वप्नों की वीथी में स्मित !

फूलों की केंचुल - सी स्मृति वह उर में छोड़ भयानक,
नागिन - सी सरक गयी द्रुत सुख को डँस, [illegible] अचानक !
वह नही जानता था - तब क्या प्राणों [illegible] आकर्षण,
क्यों प्रणयाऽमृत हालाहल, मृदु [illegible] - [illegible] [illegible] - दंशन !

यौवन की चल जल सरिता वह, [illegible] [illegible] पर [illegible]
स्थिर प्रेम सँभाल न पाया [illegible] [illegible] की [illegible]
उर मे उस प्रथम प्रणय का [illegible] [illegible] - [illegible]
बीते नव विरही कवि के [illegible] [illegible] [illegible]

देखो, भावी युग [illegible]
देखा शोभा का [illegible]
जग में [illegible]
जब तक न [illegible]

नर नारी दो भुवनों में हों बँटे क्षुद्र जिस जग में
प्राणों के स्वप्न पथिक को रुकना पड़ता पग - पग में!
वह सोच न पाता कैसे मानव का शोभा - प्रिय मन
चरितार्थ करेगा भू पर चिन्मय का श्रद्धा रोहण!

अह, प्रेम संचरण अब तक बन सका न जन - भू जीवन,
रज तन की दुर्बलता पर आश्रित उसका मूल्यांकन!
वह लगता आकुल उन्मन, पग - पग पर आत्म - प्रताड़ित,
नैतिक निषेध - विष पीड़ित, सौन्दर्य प्रेम हित लांछित!

लगता उसको तम कवलित संकीर्ण धरा उर प्रांगण,
भू - जीवन वर्जन से मृत जन करते आत्म - पलायन!
इन्द्रिय कुण्ठित, वंचित मन पर - जीवन - द्वेषी निश्चित,
मिथ्या आदर्शों में रत, गत रूढ़ि रीति पद मर्दित!

युग - युग की मृत छायाएँ प्रेतों - सी जग में पूजित,
पर - निन्दक, अहं निरत मति थोथे मूल्यों में पोषित!
आवेश नया उठ मन में भरता शत विद्युत् - दंशन,
घुमड़ा करता अन्तर में नव मानवता का यौवन!

लगता, यदि निज अंगद पद वह पटके बधिर धरा पर,
धँस जायेगी धरती कँप तम के सागर में दुस्तर!
या वह हठ - वश अम्बर से टकराये, सिर ऊँचा कर,
फट जायेगा नभ का उर स्वर्णिम प्रकाश भू में भर!

जग से विरक्त उसका मन अपने ही में रहता लय,
नित दिवा - स्वप्न दर्शन में भावुक कवि रहता तन्मय!
देखा उसने, वह जाग्रत अब किसी अतीन्द्रिय जग में,
चाँदनी जहाँ बरसाती सौरभ मरन्द पग - पग में!

शाश्वत वसन्त का ग्रह वह स्वर्गिक मधु जल से सिंचित,
शोभा चरणों पर लेटा आनन्द वहाँ रस - मोहित!
स्वप्निल छायाओं के वन नव भाव - खगों से मुखरित,
सन्ध्या ऊषाएँ फिरतीं आभा अंगों में मूर्तित!

संगीत लहरियों में उठ जीवन - धारा कल बहती,
मैं साँस प्रीति के मुख की—सौरभ समीर से कहती!
द्राभाएँ निज अंचल में रवि - शशि किरणें कर गुम्फित
परिमल पराग सूत्रों के पट बुनतीं जन - भू के हित!

गन्धों के पर फैलाकर फूलों के रँग अँगड़ाते,
मुख चूम, झूम, मधु पी अलि प्रिय का सन्देश सुनाते!
यौवन सरिता के तट पर जीवन मधु - वेणु बजाता,
चाँदनी लजा रुक जाती, मारुत सुन नहीं अघाता!

इन्द्रिय - जग को अतिक्रम कर देखते सूक्ष्म - जग लोचन,
किरणों के रँग से विरचित चेतना पृष्ठ पर मोहन !
वह अभिव्यक्ति पाने को हो रुका, धरा पर नूतन,
जड़ रूपों से सुन्दरतर नव ज्योति रूप वह गोपन !

खग पर खग, सुमन सुमन पर दिखते छायाभा - चित्रित,
विश्री लगता जग बाहर भीतर श्री सुषमा मण्डित !
वह प्रीति हर्ष, शोभा के मधु स्वप्न - लोक में जीवित,—
शत नारी - आकृतियों की सुन्दरता से था परिवृत !

गाहा प्रकाश - भग उसने, रति रचता रस तन्मय मन,
रोमांचित हो उठते अँग सुख तड़ित् स्पर्श से प्रतिक्षण !
झरते पावक मधु निर्झर कँपता तन तृण - सा थर - थर,
लावण्य स्वर्ग मुकुलित हो भर देता प्राण दिगन्तर !

सहसा उसने क्या देखा,—युग - भू की दारुण छाया
घन नील रक्त वर्णों की फैलाती मांसल माया !
द्रुत बदल गये सर्पों में मुग्धाओं के शोभा - तन,
काले, भूरे, चितकबरे, खोले चल जिह्व गरल फन !

सिसकारें, ऊष्मा, आँधी—कँपता, तपता हत तन - मन,
हों अंग - अंग से लिपटी अब अग्नि - रज्जुएँ भीषण !
शत रीढ़ - भग्न इच्छाएँ थीं रेंग रहीं कीचड़ में,
चेतना दंश - मूर्छित थी विष फन की फेनिल झड़ में !

वे सर्प रस्सियों - से बट बन गये भयानक अजगर,
जो जग को अज - सावक - सा जकड़े थे भुज - मद में भर !
सूँघे अहि ने कवि के अँग खींचा बाहर इन्द्रिय- मन,
निज उन्मद पावक फन से प्राणों में भर विष दंशन !

उस मदिर दंश ज्वाला से रति विह्वल उसका अन्तर
लोटा करता शोभा की दरियों में तृषित निरन्तर !
उसको न ज्ञात था, कैसे सुख की अतृप्ति पर पा जय
आकुल अशान्त सलिलों में खोजे वह सत् का आश्रय !

दुर्बल था जन भू का मन रस - घात न वह सह पाया,
नव शक्ति पात था दुर्वह भू स्वर्ग उतर था आया !
रस - ज्योति प्राण - तम में घुल लहकी लपटों में मांसल,
अवचेतन ज्वाला गिरि को बनना था चेतन, शीतल !

स्वर्गीय प्रीति का मुख था भू पंक सना, श्री विरहित,
शोभा बन्दी कोने में छाया - सी पड़ी उपेक्षित !
उपहास द्वेष लांछन भय, वासना रूप का परिणय
अवलोक उसे हो आया जग - जीवन के प्रति संशय !

रज गन्ध पंक में तन के सन गया, शुभ्र उसका मन,
इन्द्रिय आकांक्षा भू पर बन सकी न थी रस पावन!
घूमा उसकी आँखों में गत वृत्त प्रेम का भीषण,
भीतों मे चुने गये जब वहु निरपराध प्रणयीजन!

नव प्रेम जन्म कब लेगा भू पर,—कहता उसका मन,
स्वर्गिक श्री शोभा दीपित कब होगा जन-भू प्रांगण!
सुन्दर होगा सुन्दरतर, नव प्रीति पूर्णतर, निर्भय,
भू-मानस आरोहण कर आलोकित होगा निश्चय!

वह पूर्ण-प्रेम शोभा का प्रेमी होगा, रस तन्मय,
रज तन से नहीं बँधेगा जन-भू का हृदय अनामय!
रस-भूमि छोड भटका कवि मन के ऊसर में भीतर,
चित् सलिल धुली रेती-से मति के थे शुष्क जहाँ स्तर!

वह पैठा अन्तर-जग में पढ़ योग तन्त्र षड् दर्शन,
मानम, नृतत्व-शास्त्रों का भाया गभीर विश्लेषण!
विज्ञान बहिर्जग का तम दीपित करने में था रत,
जन-भू-समाज रचना का सम्भव था महत् भविष्यत्!

युग स्थितियों का कवि-उर को आघात लगा था निर्मम,
दीखते धरा पर चलते दारिद्रय, दुःख, भय, तम, भ्रम!
पथराये गत भू-मन का करना था नव रूपान्तर,
कैसे हो शोभा मण्डित युग-युग का जीवन खँडहर!

गम्भीर प्रश्न था सम्मुख,—जड़ अभ्यासों में रत जन
बहु धर्म-कर्म में खण्डित गत शव का करते पूजन!
बौने चलते जन-भू पर मन हो प्रस्तर युग पाहन,
विज्ञान सृजन के बदले था बना ध्वंस का वाहन!

दीखे कवि को यति तापस, गैरिक वस्त्रों में भूषित,
संयम तप के स्तम्भों-से, मुख विरस शान्ति से मण्डित!
बहु स्वर्ग-दूत उतरे फिर करुणा प्रेरित जन-भू पर,
हो महा पुरुष प्रज्ञा स्मित केसरी, श्वेत, नीलाम्बर!

जल स्थल समीर नभ में था स्वर्गिक संगीत प्रवाहित,
स्वर्णारुण पीत हरित सित आभाओं से दिशि मण्डित!
पावक-कपोत-से कवि को उन स्वर्दूतों ने छूकर
द्रुत उड़ा दिया चिद् नभ में आलोक जहाँ स्तर पर स्तर!

वह शुभ्र शान्ति के पर-सा सात्विक प्रकाश का अम्बर
चिन्मय जीवों से कुसुमित लगता था मौन मनोहर!
फल-रहित फूल-से सुन्दर सत्कर्मों के ग्रह सुरभित,—
शीतल था इच्छा पावक, पीयूष स्वाद से विरहित!

पूजा के पुष्पों-से थे अर्पित जन के जीवन-मन,
वैराग्य ज्ञान निधि प्रेरक, तप त्याग पुण्य पैतृक धन!
भाया कवि को प्रज्ञा का वह दीप्त लोक अन्तः स्मित,
था जहाँ अगम आत्मा का व्यापक सित सत्य अखण्डित!

निर्मम विराग-भू पर वह विचरा असंग अन्तः स्थित,
दृग मूँद, खींच मन भीतर,—इन्द्रिय वृन्तों पर कुसुमित!
साधना निरत रहता नित अध्ययन-मनन का जीवन,
अन्तः शिखरों पर करता उर ऊर्ध्व-प्राण आरोहण!

वह ध्यान-भूमियाँ मन की कर पार, ज्ञान नभ में लय,
देखता, मुक्त आत्मा का वह शुभ्र रजत नग चिन्मय!
स्थिर, राजहंस-सा उड़ता सित स्फटिक शान्ति-अम्बर में
दीखा उसको हिमवत्-सा चैतन्य लोक अन्तर में!

वह चिद् गिरि भी अब उर की आँखों से हो अन्तर्हित,
अविगत अरूप आभा में लय होने को था किंचित्!
उठने को थे भू से पग, होने को प्राण समाधित,
पाया कवि ने अपने को अप्सरियों से अभिनन्दित!

कब सिद्धि स्वर्ण-हंसी-सी आ पास हुई दृग ओझल
स्मित रूपसियाँ सुर प्रेरित उतरीं चिद् नभ से उज्ज्वल!
श्री शोभा लज्जा सज्जा मृदु हाव-भाव कर सुखकर
साकार हुईं दृग सम्मुख, मानस-विभूतियाँ तन धर!

रस प्रीति रीति स्मिति आशा, लीला रति-धृति स्मृति व्रीडा,
तनिमा भंगिमा मधुरिमा करतीं सदेह मधु क्रीड़ा!
नयनों मे जग लहराता शोभा का कम्पित-उर सर,
नासा-पुट में भर जाती सौरभ अनाम स्मृति को हर!

बहता संगीत श्रवण में रसना में स्रोत अमृतमय,
रोमांचित सुख-स्पर्शों का भरता अन्तर में विस्मय!
देखी कवि ने विपर्येन्द्रिय स्वर्णिम प्रकाश से भूपित,
आनन्द भुवन थीं वे सब स्वर्गों की श्रेणी मोहित!

मधु छत्र रसों की मादक प्राणों की शतदल विकसित,
मणि द्वार भाव लोकों की चिन्मय पावक से विरचित!
कोमल मुकुलित अंगों का खिल उठा उषा में मधुवन,
साँसों के सँग तनु सुषमा उड़ सौरभ-सी भरती मन!

मादक अवयव शोभा पी मद मोहित हो जाता मन,
मृदु त्वच चम्पक छवि वन में खो जाते खग-से लोचन!
ज्योत्स्ना-सा चल स्वर्णाचल लिपटा मृदु देह तता पर,—
फूलों के शिखरों से हो झरता मरन्द रस निर्झर!

अपलक चितवन विकसाती नव नील कमल मानस में
स्मित अधर लिपे लाली से—जो घुली अमृत मधु रस में!
मोती की तरल लड़ी-सी बिखरी कल हँसी क्षितिज में,
रस हाव-भाव अभिसिंचित फूटे अंकुर मनसिज मे!

मुग्धा शोभा का जग वह, इन्द्रिय पावक का सागर,—
निस्तल मांसल विस्मृति में तन्मय रहता कवि अन्तर!
ओ कुसुमित अंगों के वन, कहता उसका मन प्रतिक्षण,
तुम विद्युत् झंझा के ग्रह, निपतित जिसमें भू-जन-मन!

देखा कवि ने मृद् तम से छवि रश्मि फूटती भास्वर,
साँपों की केंचुलियों मे अँगड़ाती नारी सुन्दर!
वासना-नील मेघों में स्वर्गिक सुरधनु दिक् सर्जित,
प्राणों के अग्नि-कमल में चैतन्य गन्ध मधु संचित!

देखा कवि ने विस्मय हत, श्री इन्द्र खड़े दृग सम्मुख,
रोहित पावक में लिपटे, मेघों मे स्मित शशि-सा मुख!
भावों के आलोकों का चिन्मणि किरीट था सिर पर,
मन्दार कुसुम रज रंजित तन-उत्तरीय दृग सुन्दर!

प्रेरणा-रश्मि थी कर में अधिमानस का स्वर्णिम रथ,
जो चूम बोध शिखरों को विस्तृत करता जन-मन-पथ!
स्वर्गिक कुसुमों की वेणी ले पुलोमजा का स्मृति-धन
बाँधे निज बायें भुज में, दायें में विद्युत् कंकण!

बोला कवि, उत्तेजित हो, रो, यह सुरेन्द्र की माया?
रच छाया सृष्टि मनोहर जिसने मन को भरमाया!
ओ धरा-स्वर्ग के द्वेषी, संवरण करो निज विभ्रम
मैं रस प्रकाश का प्रेमी, मैं छील चुका मति रज तम!

मधु काम तुम्हारे सहचर जो बरसा फूलों के शर,
बेधा करते यतियों के चित् सूक्ष्म भाव रत अन्तर!
तम के दुःसह पर्वत को मानव नित निज सिर पर धर
तपता ऊपर उठने को, तुम उसे पटकते भू पर!

पद्मासन बाँधे, बिस-सा कृश ध्यान सूत्र,—साधे स्वर,
वह दुरारोह चिद् गिरि पर चढ़ता तज प्राण मनः स्तर!
धिक्, ओ भू-जन के द्रोही, उसकी विमुक्त आत्मा पर
इन्द्रिय सम्मोहन बरसा तुम शुद्ध बुद्धि लेते हर!

बोले वासव मुसकाकर,—यह सत्य नहीं, ओ साधक,
मैं नहीं मनुज-विद्वेषी या धरा-स्वर्ग-हित बाधक!
मुनियों की दन्त-कथा तुम पिंजर शुक-से दुहराते,
भू-जन मति-मन्द, असत् को सत् कहते नहीं अघाते!

मुझको दुख, तुम कवि होकर जीवन - वर्जन से पीड़ित,
तुम व्यक्ति - मुक्ति के प्रेमी तम भ्रम रत, शून्य समाधित!
यह सच, मैं मुनियों का मन हर शून्य - ब्रह्म से बाहर
भू - स्वर्ग बसाने के हित, लाता प्राणों के स्तर पर!

मैं दिव्य मनस,—इन्द्रिय मन प्राणों का शाश्वत ईश्वर,
मैं धरा - स्वर्ग का प्रतिनिधि, विद्वेष घृणा से ऊपर!
सात्विक विभूति में लिपटा जन मुझे उपेन्द्र बनाकर
कवि, भजते मध्य युगों से—जीवन वर्जन से जर्जर!

मैं त्रिगुणातीत—धरा पर नव थी शोभा में मूर्तित
जन - जीवन - स्वर्ग बसाने करता प्रबुद्ध को प्रेरित!
काल्पनिक मुक्ति - कामी बन तुम ग्रात्म - शून्य में हो लय,
गत युग के ऋषि - मुनियों - से सोचते प्रकृति पर यह जय?

जीवन का ध्येय नहीं यह, मन ब्रह्म - रन्ध्र से उड़कर
खो जाये रिक्त गगन में खग - सा, झुलसा मति के पर!
मैं जन - धरणी का प्रेमी, तुमसे कहने ग्राया कवि,
निज प्रतिभा - पट पर ग्रांको तुम धरा - स्वर्ग की नव छवि!

यदि ऊपर उठ ग्राये तो नीचे भू पर ले जाग्रो—
शिखरों के स्वर्णोदय से नव मानव - लोक बसाग्रो!
ऋत स्वर्णिम इन्द्रिय पावक रस ग्रन्तर मे संचित कर,
मार्जित संस्कृत जीवन का भू - स्वर्ग रचो लोकोत्तर!

पीढ़ी - पीढ़ी भू - यौवन कुसुमित हो नारी - नर मे,—
विकसित हो नव मानवता शिव सत्य रूप सुन्दर में!
गत मूल्यों मे शत खण्डित ग्रन्तः समग्र हो जीवन,
चेतना - शिखा - वाहक बन भू - प्रीति - ग्रथित हो जन - मन!

ऊपर के सूर्योदय से नव भू - जीवन कर निर्मित,
बहिरन्तर संयोजन भर तुम गढ़ो मुक्ति जन - जन हित!
युग ग्ररुणोदय पावक हो इन्द्रिय - द्वारों में वितरित,
रुचि संस्कृत जीवन - शोभा रज ग्रंगों में मधु मुकुलित!

जन - भू विकास - पथ में चिर,—ग्रनगढ ग्रतीत छाया भर,
भावी ग्रंचल में रक्षित जीवन का स्वर्ग मनोहर!
तुम चाहो, गत द्रष्टा - से हो सकते चिद् नभ में लय,
सच मानो, मानवता की वह भू पर घोर पराजय!

भू - जीवन के प्रश्नों का यदि समाधान वह,—मति भ्रम,
यह रिक्त ऋणात्मक उत्तर, चित् ज्योति नहीं,—उजला तम!
लौटो,—मत शुभ्र तिमिर में खोग्रो, साधक बन निष्क्रिय,
इसको प्रकाश मत समझो,—वह शाश्वत गति, रचना - प्रिय!

लो, मैं तुमको देता नव रस पावक स्वर्णिम शतदल,
नव भू - मानस इन्द्रिय स्मित, चित् किरणों का अन्तस्तल!
यश - मूढ़, प्रेम ही जग का चिर सर्व शक्तिमय ईश्वर,
वह शून्य नहीं, सर्वाश्रय, रस रिक्त न, पूर्ण, परात्पर!

नव मनः क्षितिज बन वासव आभा में हुए तिरोहित,
खोले कवि ने अन्तर्दृग,—नव सत्य लोक में जागृत!
अपने कुटीर में बैठा वह था एकाकी उन्मन,
गत यौवन की स्मृतियों से उद्वेलित था मधु में मन!

उसके नासा - पुट में उड पैठी सुगन्ध भू - मादन,
फूली थीं मधुर करौंदी महके थे मद भीने वन!
सहिजन शिरीष आँगन में थव दुग्ध फेन - से कुसुमित,—
कवि की शिरीष कोमलता रस - वज्र गढ़े नव युग हित!

नयन खोजते कवि के आभा - देही को नित,
शोभा - लहरी में हो प्रीति - समुद्र तरंगित!
राग - चेतना भू की हो विकसित रस - संस्कृत,
नर - नारी - जीवन हो मधु प्रांगण दिङ् मुकुलित!

मध्य बिन्दु

(ज्ञान)

परम व्योम से बरस रहे अश्रुत स्वर
शाश्वत रस धारा में···राधा···रा···धा···,
सुनते तद्गत अन्तर मुग्ध चराचर
हृदय - गुहा की गिरा अगम्य अगाधा !
आराधना निरत जन - भू - मंगल हित
दिव्य चेतना ने जीवन - व्रत साधा,
रजत नील में बज उठती वंशी ध्वनि—
विश्व क्रान्ति ! जन-प्रिये, हरो भव-बाधा !

वह हरित स्वर्ण रव गूँज रहा कण - कण में
रूपान्तर कर जन - भू - मन का गोपन में !
लहराता आकुल राग - ऊर्मि रस सागर
स्वर्णारुण किरणें छूतीं प्राणों के स्तर !
स्वप्नों की अपलक बरस रही शोभा - झर
आनन्द तड़ित् हत सुलग उठा मन का घर !
अप्सरियों - सी फड़का शशि किरणों के पर
ले रहीं प्रेरणाएँ करवट उर भीतर !
भावना स्वर्ण - भृंगों - सी भर मणि - गुंजन
संचय करती अन्तर - वैभव के मधु - कण,
चेतना चन्द्रिका, सीप पंख - सा अंचल,
स्वर्णिम हंसों का शोभा का वक्षःस्थल !
खोलतीं पलक प्रज्ञा पंखड़ियाँ प्रतिपल
फैला अरूप स्पर्शों के मौन रहस दल !
जीवनोल्लास से कँप - कँप उठती थर - थर
रस सृष्टि, प्रेम का पा उन्मुक्त अभय वर !
अब खोल स्वप्न के द्वार सत्य धरता पग
शत धूपछाँह सुरधनुओं में लिपटा जग !
मुख से स्वर्णिम पट उठा रही दिव आभा,
प्राणों की सरसी में धँस न्हाती द्वाभा !

अनिमेष दृष्टि के सम्मुख झरते निःस्वर
किरणों के फानसाई प्रकाश के निर्झर!
आती स्वर्दूती क्षितिज पार से उड़कर
उर में आनन्द मधुरिमा श्री शोभा भर!
ऊषाएँ नखशिख शुभ्र लाज से लोहित—
निश्छल सुन्दरता भाती नित अनलंकृत!
गाते अरुणोदय के खग जीवन मंगल
आभा - मण्डल के भीतर आभा - मण्डल!
कल्पना सत्य हो रही पूरा मानव की
मंगलमय हो अध्यात्म पीठिका भव की!
भू पर करते साकार स्वर्ग - क्षण विचरण,
सुख वहँ भा' पुलकित सामूहिक जीवन!
अन्तःशृंगों पर प्रतिध्वनित हीरक स्वन
नव धरा स्वर्ग स्तव सुनता कवि तन्मय मन!
वह प्रथम लोक - चारण, भू - जीवन का कवि,
दिग् हरित तिमिर गह्वर का स्वर्णमुकुट रवि!
वह कोमल - उर जल के पावक का रस पवि
रचता भावी का रत्न सेतु सुरधनु छवि!
वह गुह्य नील ध्वनि का गायक सित कोयल,
ऋत नित् के स्पर्शों से झंकृत अन्तस्तल!
बौद्धिकता की द्वाभाओं को अतिक्रम कर
निःसीम शान्ति से अनुप्राणित हो अन्तर
पा रहा स्पर्श शाश्वत सत्ता के निःस्वर,—
चुनता प्रकाश जिसको उसको देता वर!
वंशी का बनने मर्म प्रतीक मधुरतर
साधना - निरत रहते कवि - प्राण निरन्तर!
रस - सर्जन स्वर - संगति में बँधने निःस्वर
खोजा करता वह शाश्वत ज्योति दिगन्तर!
तपता वह विश्व - व्यथा में बनने कांचन
धो राग द्वेष कल्मष का जीवन - प्रांगण!—
भू पर बरसाने रस - प्रकाश वह प्रतिक्षण
अन्तर्यामी को करता तन - मन अर्पण!
भू - मन की ईर्ष्या स्पर्धा से हो आहत
गोपन रखता प्राणों का अन्तर्मुख क्षत!
श्रुतियों, सन्तों, सद्ग्रन्थों से चुन चित्कण
संचय करता अक्षय देवों का भोजन!
नव उन्मेषों से रहता कवि आन्दोलित
स्वर्णिम सोपानों पर रोहण करता नित!
मन्थित कर गत भू ज्ञान सिन्धु पावक घन,
नव शशि सूर्यों का करता वह अन्वेषण!
दिव पथ से करते पुष्प वृष्टि स्मित सुरगण
झरते प्रकाश पंखड़ियों के सतरँग क्षण!

ये सूक्ष्म चेतनाएँ, धरती जो नव तन,
किरणों का रुधिर शिराओं में गाता छन!
सित स्वप्न मांस - देही ये भावी मानव
गत देश जाति बन्धन विमुक्त, युग सम्भव!
कटु मनो ग्रन्थियों कुण्ठाओं से विरहित
राष्ट्रों के भय संशय स्पर्धा से वंचित!
विद्रवित हो रहा युग - युग का निर्मम मन
भू - जीवन नव श्रद्धा आस्था का प्रांगण!
आ रहे निकट सब देश - विदेशों के जन,
स्त्री - पुरुष निकटतर, मुक्त काम-अहिदंशन!
लघु गृह पुर आँगन लाँघ, युवक नारी - नर
सामाजिक शतदल के - से अवयव सुन्दर
सांस्कृतिक पीठिका पर नव युग की शोभित,
श्रम लग्न, सौम्य, रचना मंगल में योजित!
रंग पावक से धो कनक काम का आनन
कर दिया प्रेम ने अमृत करों से पावन!
साधना खोल गैरिक तप व्रत के मण्डन
पा गयी साध्य, अतिक्रम कर सुख-दुख का मन!
शुचि राजहंस - सी श्रेयस के फैला पर
निःस्वर गति शान्ति उतरती भू - मानस पर!
निःशब्द, हिमाद्रि शिखर - सी वह अन्त: स्थित,
क्षीरोदधि - सी सित निस्तरंग, दिग् विस्तृत!
शत स्वर्णिम सुर वीणा कर उर में झंकृत
आनन्द तडित् करती प्राणों को पुलकित!
किरणों के निर्झर - सी शाश्वत से झर - झर
तन्मय करती वह रस अर्पित कवि - अन्तर!
ऊषाओं के मुख का सौन्दर्य अनामय
भू - स्वर्ग सृजन पावक - सा सित ज्योतिर्मय
अवतरित हो रहा पलकों पर, हर भव भय,
चेतना शिखर का - सा अन्तः सूर्योदय!
आनन्द शान्ति श्री शोभा में संयोजित
पीयूष - सिन्धु - सा, अपने ही में मज्जित,
स्वर्गीय प्रेम करता अन्तर उन्मेषित
रस तप्त स्वर्ण वह, चित् मरन्द से सुरभित!

दिग् दीप्त प्रसारों में फिरता कवि का मन
माणिक प्रकाश के झरते निर्झर प्रतिक्षण!
कुसुमों के स्फुरित मुखों पर मधु रँग खिलते
कोकिल स्वर में अश्रुत अन्तःस्वर मिलते!
भावों के भीतर खुलते भावों के स्तर
किरणों के हों सतरँग छवि भुवन अगोचर!

सम्बोधि, दुग्ध - धाराओं - सी पड़ती झर
विद्युत् लहरी - सी निःस्वर झंकारें भर!
स्वर्णिम रेखाओं में - सी सम्मुख अंकित
चेतना हो रही नव रूपों में विकसित!
रस रहा ऊर्ध्व, समदिग् जीवन में वितरित
छायाभा के ताने - बानों में गुम्फित!
देखा कवि ने घुस प्राण - गुहा के भीतर
पतझर वन भरता रह - रह निर्मम मर्मर!
नैराश्य ग्लानि विद्वेष प्रमादों का घर
वह भेद - विभेदों से था भू - उर जर्जर!
उद्दाम गन्ध से हो उठती मोहित मति,
पग-पग पर विस्मृति, रुक जाती जीवन-गति!
हो तिमिर बाहरी छिलका भू - जीवन का,
लगता प्रकाश भी छिलका अन्तर - मन का!
रस - तत्त्व खोजती कवि की दृष्टि महत्तर
जो हो प्रकाश के भीतर, तम के बाहर!
नक्षत्र रास रचते तम अन्तर में स्मित,—
थी पूर्ण कला - सी नयी चेतना जागृत!
निश्चेतन तम में जगता जीवन ईश्वर
घन कृष्ण नील तन, मदिरारुण अभ्यन्तर!
वह तम का पर्वत, स्फुरित तड़ित् रुचि मण्डित,
अँधियाली के स्वप्निल प्रकाश - सा चित्रित!
नव शक्ति - पात वह भू के मनः शिखर पर
आन्दोलित सब सुर - असुर, सशंक चराचर!
मैं शक्ति - देव, वह कहता, युग - अधिनायक,
मेरे कर में सर्वस्व - नाश अणु - सायक!
मैं पीता जीवन - ज्वाला, भौतिक हाला,
मैं मृत्यु - गरल फेनिल मिट्टी का प्याला!
भावी मनुष्य के सम्मुख दिग् दारुण रण,
टूटते मुकुट शत, लुटते नृप - सिंहासन!
भू - कम्प मनो भू पर आने को भीषण,
मूल्यों में घटने को मौलिक परिवर्तन!
गत रूढ़ि रीति की कारा से कढ़ जन - मन
नव युग भू पर करने को मुक्त पदार्पण!
मैं काल, ज्ञात मुझको जीवन का इति - अथ,
उड़ने को दिव पथ में भू - मानव का रथ!
सुनता कवि - मन भू - अन्तर का गुरु मर्मर,
नव प्रसव वेदना मन्थित था तम - गह्वर!
कवि युग प्रबुद्ध था, विश्व नियति का ज्ञाता,
द्रष्टा, भू - जीवन का अज्ञात विधाता!
था ज्ञात, विश्व - सभ्यता कहाँ पर अब स्थित,
कैसे होंगी गत संस्कृतियाँ संयोजित!

परिचित वह, आज कहाँ पर रुका मनुज-मन,
कैसा उसका संकट, उर का गोपन व्रण ?
वह अवगत था, यह भू - विकास-युग का क्षण,
नव क्षितिजों में करना मन को आरोहण।
स्वर्णाभ पतत्र गरुड - सा झपट युगान्तर
दुर्वह जव, आ बैठा उसके कन्धों पर!
अन्तर्दीपित वह, बहिर्तिमिर परिवेष्टित
जागृत था भीतर, मौन प्रणत जग के हित!
यश, धन, स्त्री सुत के लिए न आता युग कवि,
आता वह मन में भरने प्रभु की नव छवि!
देखने प्रेम की आँखों से भू - आनन
निज अन्तःसौरभ से भरने जन - प्रांगण!
कहता उसका मन, प्रेम सृष्टि का ईश्वर,
सौन्दर्य शान्ति, आनन्द क्षेम का निर्झर!
वह देख रहा था, लाँघ रुद्ध जन - भू - मन,
अवतरित हो रहा चित् प्रकाश था नूतन!
आलोक - स्पर्श उसके हित था शापित वर,
संघर्ष निरन्तर जन - भू तम से दुस्तर!
आवाहन उसने किया चेतना का नव
भू - मन के स्तर पर था नव जीवन सम्भव!

जागो, हे जागो, धरा - चेतने, जागो,
युग - युग की ईर्ष्या, कुण्ठा, स्पर्धा त्यागो!
अब दिशा - काल उड़कर आ रहे निकटतर,
यह देश - जाति में बँटने का क्या अवसर?
आ रहे निकट वह भू - भागों के जनगण
गत धर्मों संस्कृतियों का हो सम्मिश्रण!
भू निखरे राष्ट्रों की सीमा अतिक्रम कर
मानवता भोगे धरा - स्वर्ग जीवन वर!
विज्ञान बने जन - भू रचना का साधन,
अब मिटें राजनीतिक आर्थिक संघर्षण!
युग वैभव का हो जीवन में सम वितरण,
विस्तृत हो बर्बर, आदिम, सामन्ती मन!
दो प्रतिस्पर्धी शिविरों में भक्त धरा - जन
निज सर्वनाश के गढ़ते नित आयोजन!
यह वैयक्तिक सामूहिक मूल्यों का रण
नव स्वर्ण चेतना में सम्भव संयोजन!
जन - भू कुरूप, दारिद्रय तमिस्रा आवृत,
अन्धी आस्था, अस्मिता, अविद्या शासित!
मन राग - द्वेष, तन रोग - शोक से मर्दित,—
हो सृजन प्राण नर सर्व श्रेय हित अर्पित!

विहँसें चिन्मुकुलों - से मनुजों के ग्रानन,
सुन्दर से सुन्दरतर हों जन - जीवन क्षण !
जागो हे भू की राग - चेतने, जागो,
निज काम द्वेष, वैधव्य वेश श्रय त्यागो !
छाया - कुंजों मे मध्य युगों से सोयी
तुमने श्राँसू की - लड़ियाँ तप्त पिरोयी !
तव विरह वह्नि में देह - लता कुम्हलायी
तम गुण्ठित मन, तुम रहीं मात्र परछाईं !
ज्योत्स्ना में शोभा - राका - सी सित सज्जित
संकेत - स्थली को कर श्रभिसार सशंकित,
प्रिय को न देखकर होती रही विमूर्छित
तुम रूप - गर्विता, मानवती बन खण्डित !
चिर पिंजर - बद्ध शुकी - सी प्रिय-प्रिय रटती
तुम लौह स्वर्ण शृंखल वन्धन में खँटती;
स्वर्णिम उडान कब भूल गये गति प्रिय पर,—
मन क्षितिज पार गाता सुनील में स्वर भर !
लघु द्वार देहरी कुल गोत्रों में बँटकर
भू बनी न स्वर्ग, रही जड तामस खँडहर !
युगों की निर्मम सीमाओं के भीतर
बढ़ सकी न सुर - सम्पद्, चैतन्य धरोहर !
तन - तृप्ति स्वर्ग हो पशु का,—मानव का मन
सौन्दर्य तृप्ति के स्वर्ग खोजता नूतन !
वह प्रीति स्वर्ग, ग्रानन्द स्वर्ग श्रभिलाषी,
तन की भू पर अन्तश्चैतन्य विलासी !
लघु व्यक्ति-प्रणय पा सित सामाजिक तोरण
नव क्षितिजों पर कर सकें मुक्त आरोहण,—
उर में शोभा के खुलें स्वप्न वातायन,
जिनसे प्रकाश अनुराग किरण आयें छन !
शत अग्नि - परीक्षाएँ दे, सह निर्वासन,
अपहरण, लोक - अपवाद, मृत्यु - भय, लांछन,
तुम जीवन करती रही पंक मे यापन,
विकसित न अभी तक भू का अन्तश्चेतन !
वंशी - ध्वनि सुन तुम हो उठती थी विस्मृत
वन-हरिणी-सी स्वर मोहित, तन्मय, मूर्छित !
अब प्रकृति पुरुष को होना नव संयोजित,
लय की जागृति में करनी युग - भू निर्मित !
तुम चिर वियोगिनी नहीं—नित्य संयोगिनि,
शाश्वत अनन्त रस की अनन्य सम्भोगिनि !
विरहानल में तप होता प्रेम न शोधित,
वह स्वर्ण मिलन की तन्मयता में पोषित !
सित - काम-मुक्ति वैराग्य न, वह तन पीड़न,
यतियों की कृच्छ्र तपस्या, जीवन - वर्जन,—

यह राग - भावना का सामाजिक वितरण,
सन्तुलन शुद्ध हो प्राणेच्छा का प्रागण !
सौन्दर्य भोग कर सकें मुक्त - मन भू - जन,
हो प्रीति - अग्नि - रस पावन मानव-जीवन !
स्त्री रज तन से लिपटा छाया-सा नर-मन—
यह प्रेम नहीं,—तृष्णा भुजंग का बन्धन !
पुष्पों के वक्षों पर मँडराते मधुकर
यौवन के स्वप्न करें शोभा - उर मे घर !
सौन्दर्य वह्नि में निखर—गढ़ें भू - जीवन
प्रकृतिस्थ किशोर किशोरी, मुक्त हृदय मन !
अनिवार्य, स्वतन्त्र बनें प्रणयी नारी - नर,
कटु काम-द्वेष से दग्ध न हो जन-अन्तर !
भू-स्वर्ग सत्य बन विचरें जीवन - मूर्तित
सित स्नेह-मुक्त स्त्री-पुरुष शील से अर्जित !
मधु दीप - शिखे, कर रोम हर्ष - उद्दीपित
शोभा तन्त्री आनन्द करों से झंकृत,
उर करो मधुरिमा से रस पुलक निमज्जित
आभा का वैभव हो प्राणों मे वितरित !
आओ, विद्युत् पायल झंकृत कर जाओ,
शोभा की चम्पक-ज्वाला में लिपटाओ !
पावक घन-सी रस में झर उर नहलाओ,
शत सुरधनुओं का सम्मोहन बरसाओ !

कामना-मुक्ति से अन्य न भू - जीवन - पथ,
रज द्वेष मुक्त हो राग, प्रीति मे परिणत !
जागो हे भू की प्राण - चेतने, जागो,
जीवन के मधु में मन के पंख न पागो !
गत स्थितियों की कटु सीमाओ से पीड़ित
बन सका न भू-जीवन सुखमय, उर इच्छित !
जड भू-तम से करना था मानव को रण
जाग्रत् था मन, पर निद्रित अन्तश्चेतन !
अपने ही सुख-दुख में रत जिनका अन्तर
वे देख नही पाते यह जग प्रभु का वर !
जीवन - विकास - क्रम को निज कर मे लेकर
मानव को निर्मित करनी भावी शुभतर !
गत वृत्त व्यक्ति - केन्द्रिक विधान था भू पर
हो सका न मूर्त धरा पर जीवन ईश्वर !
कहते आये सब दर्शन धर्म निरन्तर
यह विश्व ब्रह्म का नीड़, अमरता का घर !
कहते आये बुध, कनक काम का तम हर
जन रहे, मोह ममता तृष्णा से ऊपर !

मन स्वार्थ-विरत हो, सर्व भूत हित में रत,
यम नियम, त्याग, पर-सेवा हो जीवन - व्रत !
निश्चय न व्यक्ति केन्द्रिक जीवन में सम्भव
सब भूतों में आत्मा का करना अनुभव !
सामूहिक स्तर पर हो न सका तब स्थापित
अन्तर्वैभव, थे व्यक्ति - मूल्य आराधित !
अब भू-मंगल हित मानव विधि को स्वीकृत
जग में हो नूतन जीवन-वृत्त प्रतिष्ठित !
वैज्ञानिक युग को मिला आत्म - संजीवन
अन्तश्चेतन मानव कर रहा पदार्पण !
आर्थिक तान्त्रिक सामूहिकता की भू पर
नव मनुष्यत्व अवतरित हो रहा भास्वर !
गत युग की जैविक सीमाएँ कर विस्तृत
आता सामाजिक मानव अन्तर्विकसित !
सामूहिकता का भौतिक जड़ युग दर्शन
गढ रहा लौह पीठिका,—शान्त हो युग-रण !
छू अन्तरैक्य की पारस मणि से पावन
जड़ लोहे को अब करना सुरभित कांचन !

फूलों को देखो, वे तन्मय जीवन - क्षण,
रोको न अशुभ को, शुभ को भरने दो मन !
वे धन्य नम्र जो सहज, प्रकृति के सहचर,
जन-भू प्रिय, प्रभु इच्छा से युक्त निरन्तर !
भू - मन को बनना अन्तश्चेतन दर्पण
बिम्बित हो जिसमें नव ईश्वर का आनन !
जागो, जागो, जन मनश्चेतने, जागो,
देखो मुड़ अन्तर्मुख, यह विधि, मत भागो !
तुम बौद्धिकता के शुभ्र तमस में फँसकर
मत गिरो सुनहले ध्वंस गर्त में दुस्तर !
जड़, वहिर्मुखी विज्ञान, सत्य आंशिक भर,
सम्पूर्ण सत्य का स्वर्ग गुह्य अभ्यन्तर !
कहते समस्त द्रष्टा, कवि का भी अनुभव,
मन वाणी से पर नित्य तत्व, चिर अभिनव !
छू पाता उसको नहीं तर्क विश्लेषण,
तद्गत जीवन-मन की स्थिति उसका दर्पण !
इन्द्रिय - मन करता बाह्य उपकरण संचित,
चल छाया पट-सा जो प्रतिपल परिवर्तित—
मति करती मानस-ऊर्ण व्यवस्थित, गुम्फित,
वह अन्तर्मुख मुड़ हो उठती चिद्दीपित !
आनन्द सूर्य रे भीतर स्वयं प्रकाशित,
मंगलमय, शाश्वत, एकाकी, आत्मस्थित !

अनुपम, अनन्त, शोभा-समुद्र अतरंगित,
अगणित स्वर्गों में सजित, एक, अखण्डित !
छायी हिरण्यमय ज्योति, रत्न रज भास्वर,
निज स्वर्ण पंख छायाएँ बरसा भू पर !
जन-भू की अक्षय सम्पद् दिव में पूजित,
जिसको जीवन मे होना विकसित, मूर्तित !

चित् स्वर्ग प्रतीक्षा-रत, वह भू पर विचरे,
मानव अपने अन्त:प्रकाश मे निखरे !
जागो, भू की अध्यात्म-चेतने, जागो,
गत संस्कारों, धर्मों के गुण्ठन त्यागो !
तुमको दुर्बोध रहस्यों में लिपटाकर
दुर्लभ कर दिया बुधों ने, जन हित दुस्तर !
उतरो अब धीरे विस्तृत भू पर पग धर
विचरो, दीपित कर तन-मन-प्राणों के स्तर !
इस मरकत भू से विशद कौन-सा मन्दिर
शत रश्मि स्फुरित स्वर्णाभ नील जिसका सिर !
जिसका प्रांगण सौन्दर्य-प्रेम से पावन,
प्रभु जहाँ जन्म लेते उर्वर रज मे सन !
जिस पर चैतन्य विचरता शतमुख कर-पद,
सुर-वर कृतार्थ होते पा मानव का पद !
जिसके आनन से धो गत युग के लांछन
जन-मन को बनाना स्वच्छ, सुघर प्रभु-दर्पण !
नर-नारी से बढ और कौन स्वर्गिक धन,
उन्नयन-शील नित जिनका अन्तश्चेतन !
जनगण-मंगल हित श्रम पूजन कर अर्पण
श्रद्धा में प्राण प्रतिष्ठा करती नूतन !
तप त्याग तपस्या अर्पित कर जन-भू हित
मानव-जीवन करना तुमको नव निर्मित !
देखोगी तुम साकार ब्रह्म दिङ् मुकुलित,
ईश्वर की सत्ता एकमेव सबमें स्थित !
आत्मिक स्तर पर कर एकांगी प्रभु दर्शन
तुम बना न पायी भू को भगवत् प्रांगण !
प्रस्तर मे कर चिन्मय को प्राण प्रतिष्ठित
मति देख न पायी मानव ईश्वर जीवित !
ईश्वर की प्रतिमा अन्य कहीं क्या सम्भव ?
जन धरणी के अतिरिक्त, मूर्त चिद् वैभव !
सजित ईश्वर भव, युग-युग में हो विकसित
प्रभु को करता अभिव्यक्त,—हृदय मे जो स्थित !
भू-रचना श्रम से श्रेष्ठ कौन स्तव पूजन ?
सचराचर का जिसमें श्रेयस् संवर्धन !

भू-जन का उन्नत भावों से हो पोषण
वे ग्राप्त-काम, प्रभु के प्रतिनिधि हों प्रतिक्षण!
जन-भू को छोड़ न स्वर्ग कहीं रे ऊपर
ग्रानन्द मधुरिमा मंगल का जग हो घर!
बहिरन्तर सामूहिक जीवन कर निर्मित
भू पर हो सकती मुक्ति सर्व हित अर्जित!
गत रिक्त-मुक्ति-ग्रादर्श मृत्यु था जन हित
परलोक-मुखी, जीवन-निषेध विष पीड़ित!
वास्तविक मुक्ति वह, जब जन-भू का प्रांगण
हो शुभ्र शान्ति सुख स्वर्ग, सृजन-श्रम-रत मन!
हम नयी पीढ़ियों के वाहक जन-भू पर,
उनके हित जीवन स्वर्ग रचें श्री सुखकर!
हों दान त्याग चरितार्थ, तृप्त हों सुर-वर,
जो मानव-मंगल-धाम बने भू सुन्दर!
जीवन की ही रे पूर्ण चेतना ईश्वर
जो व्याप्त निखिल जीवों में,—शाश्वत, निर्जर,
ग्रमरत्व मृत्यु पलने में झूल निरन्तर
लेता नव जन्म, ग्रपाप-विद्ध, सित ग्रक्षर!
मन वाणी से जो परे, परात्पर, ग्रविदित,
वह रुका धरा जीवन में होने मूर्तित!
जीवन इन्द्रिय से ही वह सुलभ, न संशय,
जो ग्रवाङ् मनस गोचर, ग्रव्यक्त, ग्रनामय!
स्थितियों में स्वर-मुखरित चिति बनती दर्शन,
तुमको नव युग-जीवन का बनना दर्पण!
उपनिषदों में तुम ज्योति प्ररोहों में जग
दीपित कर पायी गुहा,—न भू-जीवन-मग!

श्रुति ऊर्ध्व ग्रगोचर वैभव से ग्रालोकित
ग्रात्मा की गौरव-गाथा से चिन् मुखरित!
ग्रज्ञेय सत्य का कर प्रत्यक्ष निरूपण
वे दीपित करती ग्रन्त:सत्ता गोपन!
शाश्वत प्रकाश की भी प्रकाश नि:संशय
भावी संस्कृति की नींव बनें वे ग्रक्षय!
वे मानव की जिज्ञासा शुभ्र सनातन—
जिन पर ग्रास्था रख परम शान्ति पाता मन!
उनमें प्रसार ग्रात्मा के शिखरों का स्मित,
ग्रन्तर्दर्शन ऐश्वर्य, रहस्य ग्रनावृत!
शाश्वत मुख का सौन्दर्य, प्रहर्ष चिरन्तन,
जिसको बनना भावी में जन-भू-जीवन!
मैं देख रहा हूँ, शुभ्र ज्योति दिग् तोरण,—
ग्रन्तर के स्वर्ण कपाट खुल रहे ग्रनुक्षण!

लो, बरस रहा माणिक प्रकाश का प्लावन
आनन्द मधुरिमा शोभा मज्जित भू - मन !
जब गत मानस का करता सिंहालोकन
मैं पाता सीमित जड़-चेतन का वितरण !
जिस महत् सत्य का मुकुर रहा अधिदर्शन
रूपायित उसे न कर पाया भू-जीवन !
धर्मों ने विधि नियमों में कर अवगुण्ठित
प्रभु को दुरूह कर दिया, अगम्य, तिरोहित !
बहु मन्त्र - तन्त्र, वादों - पन्थों में खण्डित
मानव मानव के निकट न आया किंचित् !
थोथी आस्थाओं विश्वासों से कुण्ठित
जन-जीवन ईषत् हुआ न विकसित, संस्कृत,
विचरे बहु द्रष्टा, साधक, सन्त धरा पर
दो छोर विभक्त रहे जग के—नर, ईश्वर !
उद्देश्य न भू - जीवन का था संवर्धन,
परलोक, पुनर्जीवन में भटका जन - मन !
गत कर्मों का फल, लौह नियति का बन्धन,—
जग बना अविद्या-स्थल, मृग-तृष्णा प्रांगण !
बुध भूल विश्वमय ईश्वर को निःसंशय
व्यक्ति से परात्पर आभा में हो तन्मय—
माया कह बहिर्जगत को—रहे प्रवंचित,
दारिद्र्य तमस में जन-भू को कर मज्जित !
इन्द्रिय मन प्राणों के वैभव से वंचित
चिति विगत कल्प में रही मात्र आत्मस्थित !
अब जन - जीवन में बहिरन्तर संयोजित
उसको समग्रता में निज होना विकसित !
आनन्द अखण्ड सृजन गति लय में शब्दित,—
रचना मंगल से उन्मेषित नित सत् चित् !
भू के प्रति आँखें मूँद, अधर में स्थित मन,
पा सकते सत्य न ज्ञान अन्ध, उपरत जन !
अपवर्ग, स्वर्ग, परलोक ध्येय से प्रेरित
मन चतुर्वर्ग में रहे न मूढ - विभाजित,
हो सर्व मुक्ति से अर्थ काम अनुप्राणित,
ईश्वर न स्वर्ग में, जन-भू पर हो स्थापित !
जिस जग में जन को सुलभ न स्नेह समादर
पशु-कृमि - से विवश जहाँ रेंगा करते नर,
कैसे हो वहाँ मनुजता का संवर्धन,
चाहिए धरा को मनः संगठन नूतन !
जीवन इन्द्रिय हो विकसित, आत्म-प्रकाशित,
मन प्राण बुद्धि हो जिसको सित श्रद्धार्पित !
चित् हरित शक्ति से हो भू-जीवन निर्मित,
आनन्द नील में मानव - मन अन्तःस्थित !

क्या सत्य ? प्रश्न अति गूढ़, व्यक्ति मन से पर,
वह शून्य न सूक्ष्मीकरण न तद्गत अन्तर—
प्राणों से स्पन्दित वह चिद् जीवन भास्वर—
सौन्दर्य प्रेम आनन्द सृजन रस निर्झर !

वह भंगुर के गुण्ठन में नित्य चिरन्तन,
शासित जिससे जंगम जीवन-क्रम अनुक्षण !
ऋत स्वर्ण शृंखला में गुम्फित गति, स्थिति, लय,
यह विश्व व्यवस्थित पूर्ण, सत्य महदाशय !

वह स्वतः सिद्ध, जीवन में सतत प्रतीक्षित
सम्भाव्य लक्ष्य, सबके ही सहज निकट स्थित !
वह सर्व, विश्व का सार, बुद्धि से अतिशय,
चिर साध्य, सिद्धि जिसकी जग हित मंगलमय !

स्वर्ग - स्मित पावक, आत्म प्रज्वलित, प्रोज्वल,
जिसके रहस्य-अंकुर-से ज्योतित उडु - दल !
अद्भुत - प्रकाश से अपलक अन्तर्लोचन,
सुनते अशब्द स्वर रोम-कूप हँस प्रतिक्षण !

वह सत्य सूर्य ही परम साध्य, सित साधन,
मन प्राणों में भरना उसका चित् जीवन !
जन-भू स्तर पर ही हो सकता ऋत मूर्तित,
ज्यों दीप दीप से रे समग्र आलोकित !

वह चिदुन्मेष करता जीवन उद्भासित,
प्राणोज्वल हो ज्यों भगवत् श्वास प्रवाहित !
वह मात्र प्रबोध न, अमृत स्पर्श अति जीवित,
खिल उठता बहिरन्तर प्रसून-सा प्रहसित !

इंगित से उसके रस प्रहर्ष पड़ता झर,
रोमांचित शोभा मूर्त - रूप लेती धर !
वह ज्योति ज्योतियों की जिससे जग भास्वर
वह महत् सृष्टि आशय, भू स्वर्ग निछावर !

अन्तर-पथ से कर व्यक्ति ऊर्ध्व आरोहण
उस परम सत्य के पथ पर करते विचरण,
जो बहिरन्तर हो भू - जीवन संयोजन
बन सके धरा उस पूर्ण सत्य का प्रांगण !

तप त्याग यज्ञ ही सत्य सिद्धि के साधन,
जन मंगल हित जो हो श्रम तप आवाहन,
तो लोक-यज्ञ सार्थक हो युक्त-धरा पर
सर्वात्म श्रेय ही भू - मानव का ईश्वर !

वह स्वयं-प्रकाश हिरण्मय द्युति से आवृत,
निज आधिदैवत्व गति में रहता अन्तर्हित !
जन को हिरण्य किरणों के पट में गुण्ठित
सविता को जग में करना प्राण प्रतिष्ठित !

भगवत् सुख का आनन्द विमुख कर मन को
भय संघर्षण से विरत बनाता जन को !

लगता अपूर्ण दुःस्वप्न जगत्, जीवन भ्रम,
यह धरा नरक ही सृजन स्वर्ग का उपक्रम !
भौतिक आध्यात्मिक का विरोध—दुख कारण,
भगवत् प्रकाश से दीप्त न जीवन-प्रागण !
वैराग्य नही भव - दुख - विनाश का साधन,
अनुराग - मूर्त हो सामूहिक जन - जीवन !
विधि लक्ष्य न आत्मिक शुद्धि मात्र,—यम संयम,—
मन के सँग भू-प्रांगण का भी हरना तम !
जग-जीवन ही मे सम्भव ईश्वर दर्शन,
सुन्दर से सुन्दरतर हो जन - भू - प्रांगण !
शाश्वत का पा आनन्द - स्पर्श मानव-मन
क्षण इन्द्रिय सुख अतिक्रम कर बन नव चेतन,
सीमाएँ वहिर्जगत की कर चिन्मज्जित
अन्तर्जग मे पाता रस भुवन तिरोहित !
आत्मा जिसको चुनती, देती अक्षय वर,
प्रभु का प्रसाद, जड़ मुख हो उठता भास्वर !
अनुभूति आत्म वैज्ञानिक की,—चिद्वैभव
भू जीवन मंगल में परिणत हो अभिनव !
मन तदाकार बन करता जिसके दर्शन
शब्दों मे अँटता उसका गुह्य न वर्णन !
यह अन्तश्चेतन पथ का सत्य निरूपण—
भू-स्वर्ग गढे विज्ञान,—मूर्त कर चिद् घन !
भव प्रगति न सम्प्रति में, भविष्य में सीमित,
निःसीम प्रेम, पग - पग पर पूर्ण, अखण्डित !
सोपान विश्व,—स्थिति-शोभा प्रति श्रेणी पर,
सर्वांग पूर्ण,—बहु पूर्ण पूर्ण के भीतर !
चिर कालातीत जलधि में काल निमज्जित
ज्यो लवणसिन्धु में,—विश्वकाल करतल स्थित !
वह प्रेम तत्व ! बहु एक,—बुद्धि मन कल्पित,
सीमा असीम, शाश्वत अनित्य तन्मय नित !
भू सामूहिक - जीवन की हो यज्ञस्थल,
बन्धन विमुक्त हो अर्पित कर्मों का फल,
तो सर्व भूतगत आत्मिक अनुभव उज्ज्वल
चरितार्थ धरा पर हो, जन - जीवन मंगल !
यदि ब्रह्म सत्य तो जग भी सत्य असंशय;
मिथ्या से मिल सकता न सत्य का परिचय !
भव प्रगतिशील चित् सत्य अंश ही का स्तर,
प्रभु का मुख निश्चित देखेगा जगकर नर !
सामूहिक जीवन की विमुक्ति कर निर्मित
आत्मा के नभ में विचर व्यक्ति ध्यानस्थित,
अन्तःप्रकाश में हो सकता रस मज्जित,
आनन्द - स्पर्श से शाश्वत के रोमांचित !

सर्वात्म भाव कर जन-समाज में मूर्तित
जन हों कृत्रिम वर्जन निषेध से मुंचित !
इच्छाएँ पाश न रह, बन स्वर्णिम तोरण
हों सामाजिक जीवन - वैभव की वाहन !

भू - मंगल को हों जो जीवन - श्रम अर्पित,
जीवन का केन्द्र बने तब ईश्वर निश्चित !
प्रभु में सामूहिक मुक्ति सहज हो सक्रिय
ईश्वर ले जग में जन्म,—स्वर्ग सर्जन प्रिय !

हो क्षुद्र स्वार्थ-रत व्यक्ति-अहं उन्मूलित,
सामूहिक गरिमा में हो अन्तर केन्द्रित !
आत्मा, सामाजिक सीमाएँ अतिक्रम कर,
सच्चिदानन्द घन बन, बरसे जन-भू पर !

आनन्द अन्न, चिति के सर्वोच्च अध: स्तर,
अन्तरस्थ प्रेम - गुण में जो बँधें परस्पर !
मन - प्राण - देह का सृजन - यन्त्र कर निर्मित
जीवन-विकास-क्रम में आत्मा अन्तः स्थित !

लघु व्यक्ति - चेतना - कोष - बद्ध भू-मानव
अपने को लाँघ करे विकास-क्रम सम्भव !
हो विश्व मनस् से व्यक्ति मनस् संचालित,
आत्मा से जीवन, जीवन से मन शासित !

जन - भू - मंगल ही धर्म, लोक - श्रम पूजन,
गत अन्ध तमस से रूढ़ि-मुक्त हो जन-मन !
ध्यानस्थ, सत्य सम्मुख स्थित, देखें बुध जन
बहिरन्तर भव सच्चिदानन्द का प्रांगण !

स्थिर, निस्तरंग, सित दुग्ध सिन्धु - सा अन्तर
शाश्वत स्मिति की नि:सीम ज्योति से भास्वर—
कर देता उर निर्भ्रान्त,—बताता नि:स्वर
जड़ जीवन मन का सत्य एक ही ईश्वर !

अति पुरा काल में देख यज्ञ विधि बन्धन
जिज्ञासा मन्थित हुआ आर्ष जन का मन !
श्रवणों में श्रुतियाँ जगीं, ज्ञान कह गोपन,
ऋक् मनो दृगों में तड़ित् स्फुरित, अति चेतन !

विज्ञान गौण क्षर बोध सृष्टि सम्बन्धित,
मौलिक कारण का ज्ञान ज्ञान रे निश्चित !
जड़ शव हो फिर से शिव, चित् शक्ति समन्वित,
विज्ञान तमस जो ज्ञान-रश्मि हो दीपित !

वह आदि हेतु ही अपने को कर सीमित,
सित स्वर्ण-गर्भ मे हुआ स्वयं भव-सर्जित !
लेटा था स्त्री-सा असत् प्रसव दुख पीड़ित
टाँगें फैलाये,—तपस्तेज से गर्भित !

उद्‌भव कारण था काम—अनन्त तपोबल,
सोया था नीचे अप्रकेत जल निश्चल!
अनिमेष देखता था साक्षीवत् ईश्वर,
कँपता अव्यक्त असत्, सागर-सा थर-थर!
वह स्वर्णिम डिम्ब हिरण्य गर्भ ही बँटकर
बन गया स्वर्ग, भू-सूक्ष्म स्थूल—सुर-वर नर!
वह विश्वात्मा रे स्वर्ण रश्मि से आवृत
परमेश्वर का सित मुकुर, स्वरूप प्रकाशित!
वह परब्रह्म ईश्वर निःसीम, अखण्डित,
नव सम्भावित संगतियों मे नित विकसित!
निज सृजन मुक्ति में रचना-रत जगदीश्वर
शिव शक्ति ग्रथित, प्रज्ञान मेघ वह भास्वर!
इस भाँति परम, ईश्वर, हिरण्य आत्मा, भव,
आलोक श्रेणियाँ ब्रह्म योनि की सम्भव!
आत्मा जीवन श्वासा, विराट् में प्रसरित,
भव का विकास-क्रम करती जो संचालित!
जब आदि शान्ति मे मूल प्रकृति रहती लय,
तब नाद ब्रह्म वंशी मे स्वर भर तन्मय—
रचता अनन्त मे काल-हीन रस ताण्डव,
आनन्द स्फुरित शत झरते मर्त्य अमर भव!
प्रभु सृष्टि न रचते, स्वयं सृष्टि बन जाते,
निज से ही निज में अभिव्यक्ति वह पाते!
वह उधर परात्पर, व्याप्त इधर अग-जग में,
आनन्द महत् ही भव-विकास के मग में!
भव-प्रकृति परम चेतन का यन्त्र असंशय,
परिवर्तन व्यर्थ न, लिये गूढ़ महदाशय!—
शाश्वत ही से भंगुर पदार्थ का उद्‌भव,
सम्प्रति में गुण्ठित मुख भविष्य का चिर नव!
विरचित अधःस्थ सोपान उच्च श्रेणी हित,
सीमा निज सीमा अतिक्रम करती निश्चित!
सक्रिय अग-जग में पूर्ण चेतना अविरत,
बाधा बनती पथ, सत्पथ सिद्धि अनागत!
जग भगवत् सृजन-कला, असीम सुख प्रेरित,
सब-कुछ प्रतिपल होता रहता परिवर्तित!
भव द्वन्द्व-विरोधों मे होता नित विकसित,
स्वर्गिक संगति से सलिल-प्रलय गति गुम्फित!
भू-स्वर्ग - पीठ प्रभु के चरणों की अक्षय,
द्वन्द्वों का संघर्षण न चिरन्तन निश्चय!
जड़, चित्, भू, स्वर्ग,—परम ही सबका उद्‌गम,
भू का सुवर्ण रुपान्तर विरचित विधि-क्रम!
जड़ में चेतन ही स्वप्न शयित अविनश्वर,
जागेगा वह, प्रभु की इच्छा सार्थक कर!

अग-जग सूत्रात्मा प्रेम, स्वयम्भू ईश्वर,
चिद् बीजों का भव स्रक्, वह सूत्र परात्पर !
मिथ्या न जगत्, वह ईश्वर का घर-आँगन,
क्षण के लघु पग धर करता शाश्वत विचरण !
आनन्द अन्न बन होता ज्योति प्ररोहित,
सीमा असीम के पंखों पर उड़ती नित !
नित व्यक्ति विश्व से पूर्ण,—मनुज निज भीतर,
वह निज असीम में मुक्त, प्राण मन से पर,
भव स्वर संगति का भी वह मौन मुखर स्वर
निज उर-सौरभ से मनुज विश्व देगा भर !
विश्वात्मा सत्य, जगद्-विकास के पथ पर,
अन्तश्चेतन अभिव्यक्ति लक्ष्य अविनश्वर !
ईश्वर भव सुख-दुख सहता सबके भीतर,
उसका ही शोभा-धाम बनेगा अन्तर !

वह परम न जीवन-शून्य,—अखण्ड, परात्पर,
भव जीवन का न विनाश, क्रमिक रूपान्तर !
वह जीवन का जीवन, आनन्द अमृत घन,
सत्यों का सत्य, अकारण, जग का कारण !
उस परम सत्य के पलने में पालित जग,
वह अमृत प्रसव, उद्भव विकास गर्भित भग !
कुछ भी न विश्व में जो न ईश से भास्वर,
जड भी रहस्य कहते उसका, छू अन्तर !
यह जगत् सत्य रे, नित्य-ब्रह्म अवलम्बित,
अपने में मिथ्या, बाह्य द्वन्द्व से मन्थित !
ईश्वर अनन्त यौवन कवि, चित् रस प्रेरित,
जग दिव्य काव्य, चिर सृजन हर्ष में छन्दित !
भव प्रतिपल सृजन प्रलय सन्तुलित निरन्तर,
शाश्वत, विकास पथ में,—निश्चित रूपान्तर !
वह प्रेम, हर्ष में सृजन-भुवन पड़ते झर,
मृण्मुरली में वह भरता चित् पावक स्वर !
झाँकता अरूप अखिल रूपों में गुण्ठित,
नामों में वह गुण एक सत्य ही के स्थित !
निःसीम—अरूप अनाम,—न भव में सीमित,
जड़ पुलिन चेतना करती रहती मज्जित !
जग ईश्वर पर, सापेक्ष परम पर आधृत,
वे स्वयं न निज कारण, प्रतिकृति-भर निश्चित !
फिर ब्रह्म बीज से विश्व-चेतना गर्भित
नव कल्प संचरण में होती नव सर्जित !
वह जीव, साँस के सूतों से जो गुम्फित,
सित पुरुष, हृदय-पुर के शतदल में निवमित !

प्राणो से उपचेतन जीवन निर्धारित,
मन चेतन गतियों को करता संचालित !
ध्रुव पंच-तत्व निर्मित मानव—प्रभु का वर,
आनन्द, अन्न, विज्ञान, प्राण, मन आकर !
मन प्राण सूक्ष्म तन, अन्न प्राण पृथु जड़ तन,
विज्ञान करण, आनन्द महत् विश्वात्मन् !
विज्ञान (बुद्धि) सत् का विपयाश्रित दर्पण,
सित पुरुष अतीन्द्रिय ज्योति, आत्मगत लोचन !
निज को अतिक्रम कर सकता जीव सनातन,
वह विश्व-चेतना, आत्मा का पावक कण !
सामूहिक जीवन यदि न पूर्ण संयोजित,
आत्मा विश्वात्मा से रह जाती वंचित !
तत्वतः एक वे, पृथक् सृष्टि संक्रम में,
फिर उभय युक्त हों विश्व ऐक्य उपक्रम मे !
यह मानव का दायित्व, जीव वह विकसित,
भू पर हो मौलिक दिव्य एकता स्थापित !
शंकर, रामानुज, मध्व आदि मुख-चर्चित
एकता चराचर की करनी भव - अर्जित !
प्रभु विश्व-प्रकृति के मध्य पंच रे मानव,
जीवन-विकास-क्रम जिसके कर से सम्भव !
भव दुःख शूल हर, सत्य मूल कर सिंचित,
उसको अज्ञान निशा करनी आलोकित !
हम विश्व - चेतना के सदस्य अविनश्वर
अज्ञान, पशु-प्रकृति,—पाप मनुज हित दुस्तर !
भू हमे सँजोनी, आत्म - दीप बन भास्वर,
मृण्मय ही रे चिन्मय का ज्योतिर्मय घर !
आत्मस्थ सत्य से ही बिछोह—दुख तम भ्रम
नव पुनर्मिलन हो धरा-स्वर्ग का उपक्रम !
क्षुर धारा-पथ-सा कृच्छ्र व्यक्ति आरोहण,
मधु सिन्धु सन्तरण सामूहिक संयोजन !
इस विश्व-चक्र को कर करुणावश अधिकृत
शाश्वत का ध्येय जगत् में होना विकसित !
होने ही को जानना बताते बुध जन
प्रभु ज्ञान न तर्क, (जगन्मय प्रभु !) वह दर्शन !

सुनहले गगन मे गूँज रहे अश्रुत स्वर
वह पूर्ण, पूर्ण यह,—पूर्ण पूर्ण से लेकर
अवशेष पूर्ण ही : पूर्ण पूर्ण का आकर !
ईश्वर अखण्ड, दीपो का दीपक भास्वर !
जग में जो कुछ, सबमें व्यापक ईश्वर स्थित,
भोगो जग को, निज को कर प्रभु को अर्पित !

मत उसे बाँट, सोचो मेरा तेरा धन,
ईश्वर, जग, तुम जब एक,—न कर्म ग्रसित मन !
वह जग असूर्य तम भुवन, जहाँ खण्डित मन,
आत्महन् मनुज रहते कर बुद्धि विभाजन !
सब भूतों का एकत्व जहाँ अंगीकृत
उस भू के जन भय मोह शोक से वंचित !
वह इन्द्रिय प्राण मनोजव से अति गति मय,
वह दूर निकट, बाहर भीतर, गति स्थिति लय,—
प्राणिक संगति चल सलिल वृत्ति से अतिशय,
नित मातरिश्व करता उसमें जल संचय !
घन अन्ध तमस में गिरते विद्या-रत मन,
उससे घन तम में, बाह्य अविद्या-रत जन !
विद्याऽविद्या वह एक—युक्त प्रभु में वर,
अमरत्व प्राप्त जन करें मृत्यु-सागर तर !
ओ सत्य-सूर्य, निज रश्मि-समूह हटाओ,
मुझको अपना कल्याण स्वरूप दिखाओ !
अग-जग में बहुमुख व्याप्त एक जो भास्वर
मैं [ही आदित्य पुरुष वह, अन्य नहीं पर !
हे अग्नि, सत्य पावक, सत्पथ बतलाओ,
जड़ भेद भस्म कर, चित् प्रकाश बरसाओ !
तुम ज्ञान कर्म ज्ञाता, प्रणम्य, स्व-प्रकाशित,
बहुमुख प्रदीप हों एक ज्योति से दीपित !
जिसकी इच्छा से प्राण बुद्धि मन प्रेरित,
जिससे नित वाणी श्रोत्र चक्षु उन्मेषित,—
वह मन का मन, इन्द्रिय की इन्द्रिय अविदित,
उस अमृत तत्व से जीवन-मन सम्पोषित !
जा पाते वहाँ न श्रोत्र चक्षु वाणी मन,
वह परे विदित अविदित से, शक्य न वर्णन !
जीवन इन्द्रिय से सार्थक उसके दर्शन,
मूर्तित हो वह भू पर, कृतार्थ हो जीवन !
मन प्राण श्रोत्र वाणी से जो न प्रकाशित,
जिससे मन वाणी प्राण श्रोत्र अनुप्राणित !
वह सत्य,—न जोइन्द्रिय से नित्य उपासित,
उस मूल सत्य से हो जीवन संयोजित !
वह अविज्ञात पूर्णतः, ज्ञात-भर किंचित्,
वह ज्ञात जिन्हें उनको न ज्ञात, यह सुविदित !
वह चिद् विकास सोपान-अखण्ड, अपरिमित,
भू जीवन में होना शाश्वत को विकसित !
जड़ प्रकृति यक्ष का तृण रे, जिसके भीतर
अपनी अजेय गरिमा में गुण्ठित ईश्वर !
फिर, अग्नि वायु-सा बाह्य बोध विजयी नर
सोचता दर्प से, सत्य कहाँ जड़ के पर ?

तुमको पुकारते आज अजस्र दिशा क्षण,
टेरते मौन, उत्कण्ठित भू-रज के कण,—
जागे तुममें जग-जीवन, जन भू ईश्वर,
बदले नर,—बौना, अन्ध अहं रत, बर्बर !
जन साथ रहें मिल, साथ बढ़ें संरक्षित,
सब साथ पलें, खेले कूदें हो शिक्षित !
विद्वेष रहित हो मन, तेजस्वी, संस्कृत,
निर्मित हो नव भू मानवता दिक् कुसुमित !
हम सुनें श्रवण से भद्र लोक मंगल स्वर,
नयनों से देखें जन भू आनन सुन्दर !
हो सर्व श्रेय हित जनगण का श्रम अर्जित,
भू पर विचरें सुर, दिशि हों वैभव मण्डित !
युग श्रेय प्रेय का फिर गुरु प्रश्न उपस्थित,
जन-भू को नवल समूहीकरण अपेक्षित !
स्त्री पुत्र वित्त का मोह, मनोगति निन्दित,
भगवत् सम्पद् हो लोक श्रेय हित अर्पित !
जो अहंभाव से स्फीत, अविद्या-रत जन,
अति आत्म विज्ञ, तार्किक मति, रँगे चतुर मन,
भव तम में गिर वे भटका करते प्रतिक्षण,
अन्धा अन्धों का करता मार्ग-प्रदर्शन !
जो सुलभ न सबको, सुनकर भी जिसको जन
कर सकते ग्रहण न,—पाते विरल सरल मन !
उसके ज्ञाता वक्ता रे अद्भुत, निश्चय,
यह भव उसमें ही, वह इस भव में तन्मय !
दुर्दर्श, गुहा-गह्वर में पा गूढ़-स्थित
अध्यात्म योग से उसको,—मौन विपश्चित !
वे हर्ष शोक से परे, नित्य आनन्दित,—
कहते, ईश्वर पर ही भव जीवन आधृत !
रे उसे जानना सत्य ज्ञान का अर्जन,
उसको न जानना महानाश का कारण !
भूतों में स्वर्णिम ऐक्य बोध कर अर्जित
जड़ भू पर शाश्वत जीवन करना निर्मित !
अणु से अणुतर, महतों से अधिक महत्तर,
आत्मा चिर जाग्रत् हृदय गुहा के भीतर !
वह साक्षी ही न रहे, सक्रिय हो भू पर,
निज स्वर्ग धरोहर पहचाने जन अन्तर !
वह प्रवचन से, मेधा या श्रवण-मनन से
दुर्लभ, वह सुलभ अनवरत आत्म-वरण से !
वह विरज, अकर्ता, अविषय,—कहते प्राक्तन,
वह सरज, सृजन रस घन,—गाता युग-कवि मन !
यह आत्मा अमर रथी, नर तन जीवन रथ,
सारथि सद्बुद्धि, मनस् प्रग्रह, भू असि पथ,—

वह अनिर्वाच्य सुख, आत्मा का सच्चिद् घन,
ज्योतित हो उससे जन-भू-मन का प्रांगण !
जलते न वहाँ रवि शशि, विद्युत्, तारागण,
सबका प्रकाश उसके प्रकाश ही का कण !

रे ऊर्ध्व मूल अश्वत्थ, अधः शाखा तन,
वह शुक्र, अमृत, ज्योतिर्मय ब्रह्म सनातन !
सम्पूर्ण जगत्-पट प्राण ब्रह्म के आश्रित
रवि अग्नि इन्द्र मारुत यम भय से शासित !

उस अवाङ्-मनसगोचर अरूप आत्मा पर
दृढ़ आस्था की उपलब्धि परम श्रेयस्कर !
हो तत्व-भाव धीरे आस्था के अभिमुख
हृद् ग्रन्थि छेद, नर को देता अक्षय सुख !

ज्यों ऊर्णनाभ रचता प्रिय आशा-बन्धन,
भू ओषधि बनती, रोम राजि बनता तन,
अक्षर ही क्षर बन करता जग में विचरण
बहु नाम रूप, मन अन्न प्राण कर धारण !

प्रज्वलित अग्नि से उठ तद्वत् पावक कण
उड़कर ज्यों होते लीन उसी में तत्क्षण,
एकात्मा ही आत्माओं की महदाशय
तब व्यक्ति-मुक्ति का प्रश्न मात्र भ्रम निश्चय !

पावक मूर्द्धा, दिशि श्रवण, सूर्य शशि दृग्वत्,
वाक् ज्ञान, विश्व उर-प्राण वायु, पृथ्वी पद्—
दिग् भास्वर अन्तर आत्मा हृदय गुहाचर
व्यापक, स्थित ऊपर नीचे, भीतर बाहर !

सम्पूर्ण विश्व चिर ज्ञान कर्म इच्छा-रत,
हृदयस्थ पुरुष नित अमृत रूप, शुभ, शाश्वत,
वह छेद अविद्या ग्रन्थि, भेद मति बन्धन,
भू पर चलता धर नव विकास पग प्रतिक्षण !

सित विश्व बोध चिद् धनुष, शुभ्र आत्मा शर,
शाश्वत ध्रुव लक्ष्य, अकाम प्रीति मौर्वी वर,
तद्गत हो शर-सा बढ़ते रहना अनुक्षण
सद्गति में स्थिति ही परम लक्ष्य का वेधन !

दो पक्षी रहते एक वृक्ष पर शाश्वत
चखता पीपल फल एक, स्वाद रस में रत !
दूसरा देखता, भोग-मुक्त मन, अनशन,
जीव ही ईश, जो भव हित प्रभु-अर्पित मन !

नित सत्य ज्ञान श्रम तप से आत्मा अर्जित,
सत्य ही जयी जग में न अनृत,—यह निश्चित !
जो सर्व श्रेय पथ, देवयान वह विस्तृत,
होता समप्रतः ही जग-जीवन विकसित !

बलहीन, प्रमाद ग्रसित को आत्मा दुर्लभ,
श्रम रहित ज्ञान,—ज्यों सूर्य रश्मि वंचित नभ !

जिनके इन्द्रिय हय सत्सारथि संचालित,
वे आप्त काम,—भव-कूप-मग्न दुर्मति नित !

ऋतविद् बतलाते बुद्धि गुहा के भीतर
छायातपवत् रहते दो तत्व निरन्तर !
वे आत्मा जीव, अभिन्न, प्रीति आलिंगित,
रचते मिल रस भव,–पृथक् ज्योति तम सीमित !

इन्द्रिय से पर नित विषय, विषय से पर मन,
मन से पर बुद्धि, परे उससे आत्मा घन !
आत्मा से पर अव्यक्त, पुरुष अति परतर,
सूक्ष्माति सूक्ष्म, काष्ठा, अन्तिम गति—दुस्तर !

अस्पर्श, अशब्द, अरूप, अरस, अव्यय नित
आद्यन्त रहित आत्मा, अजरामर निश्चित !
वह शुभ्र पृष्ठ-पट, जिस पर सतरँग चित्रित
भव,—जन्म मरण, छायातप संगति विरचित !

जिसमें रे होता उदय अस्त भास्कर नित
उससे न अन्य,—सब देव उसी के आश्रित !
जो उसके बहुमुख रूपों से ही परिचित
वह मृतक,—एकता ज्ञाता ही मृत्युंजित् !

अंगुष्ठ मात्र, निर्धूम ज्योतिवत् वह स्थित
उस शुभ्र पुरुष से देह प्राण मन शासित !
वह अक्षर, भूत भविष्य सद्य का ईश्वर,
जिसके प्रकाश से दीपित बाहर भीतर !

पर्वत जल होता निम्न स्थलों में संचित,
बहुदर्शी बहुरूपों में बहु विधि खण्डित !
एकत्व बोध से बनती आत्मा उज्ज्वल,
ज्यों शुद्ध सरोवर में मिलकर अंजलि जल !

एकादश स्वर्णिम द्वार,—दिव्य अज का पुर,
आते जाते गोपन अन्तः पथ से सुर !
चढ-उतर सूक्ष्म साँसों के सोपानों पर
सीमा असीम मिल, होते लीन निरन्तर !

एक ही अग्नि या वायु—भुवन में वितरित
रूपो के ही अनुरूप रूप धरती नित !
ज्यों एक सर्वगत भूतात्मा, अन्तर्हित,
रूपों में पा वह रूप, बाह्य रहता स्थित !

ज्यों लोक चक्षु रवि चक्षु-दोष से विरहित,
आत्मा न लिप्त भव दुख में,—बाह्य प्रतिष्ठित !
वह विश्व जलधि का गुह्य अतल स्तर निश्चित,
जिससे प्रहर्ष लीला तरंग जग प्रेरित !

वह एक अन्तरात्मा सबको कर अधिकृत
बहुशः बन, करता सर्व कामना पूरित !
वह नित्य अनित्यों मे, चेतन मे चेतन,
उसको पा शाश्वत सिन्धु-शान्ति पाता मन !

वह अनिर्वाच्य सुख, आत्मा का सच्चिद् घन,
ज्योतित हो उससे जन-भू-मन का प्रांगण !
जलते न वहाँ रवि शशि, विद्युत्, तारागण,
सबका प्रकाश उसके प्रकाश ही का कण !

रे ऊर्ध्व मूल अश्वत्थ, अध: शाखा तन,
वह शुक्र, अमृत, ज्योतिर्मय ब्रह्म सनातन !
सम्पूर्ण जगत्-पट प्राण ब्रह्म के आश्रित
रवि अग्नि इन्द्र मारुत यम भय से शासित !

उस अवाङ्-मनसगोचर अरूप आत्मा पर
दृढ़ आस्था की उपलब्धि परम श्रेयस्कर !
हो तत्व-भाव धीरे आस्था के अभिमुख
हृद् ग्रन्थि छेद, नर को देता अक्षय सुख !

ज्यों ऊर्णनाभ रचता प्रिय आशा-बन्धन,
भू ओषधि बनती, रोम राजि बनता तन,
अक्षर ही क्षर बन करता जग में विचरण
वह नाम रूप, मन अन्न प्राण कर धारण !

प्रज्वलित अग्नि से उठ तद्वत् पावक कण
उड़कर ज्यों होते लीन उसी में तत्क्षण,
एकात्मा ही आत्माओं की महदाशय
तब व्यक्ति-मुक्ति का प्रश्न मात्र भ्रम निश्चय !

पावक मूर्द्धा, दिशि श्रवण, सूर्य शशि दृग्वत्,
वाक् ज्ञान, विश्व उर-प्राण वायु, पृथ्वी पद्—
दिग् भास्वर अन्तर आत्मा हृदय गुहाचर
व्यापक, स्थित ऊपर नीचे, भीतर बाहर !

सम्पूर्ण विश्व चिर ज्ञान कर्म इच्छा-रत,
हृदयस्थ पुरुष नित अमृत रूप, शुभ, शाश्वत,
वह छेद अविद्या ग्रन्थि, भेद मति बन्धन,
भू पर चलता धर नव विकास पग प्रतिक्षण !

सित विश्व बोध चिद् धनुष, शुभ्र आत्मा शर,
शाश्वत ध्रुव लक्ष्य, अकाम प्रीति मौर्वी वर,
तद्गत हो शर-सा बढ़ते रहना अनुक्षण
सद्गति में स्थिति ही परम लक्ष्य का वेधन !

दो पक्षी रहते एक वृक्ष पर शाश्वत
चखता पीपल फल एक, स्वाद रस में रत !
दूसरा देखता, भोग-मुक्त मन, अनशन,
जीव ही ईश, जो भव हित प्रभु-अर्पित मन !

नित सत्य ज्ञान श्रम तप से आत्मा अर्जित,
सत्य ही जयी जग में न अनृत,—यह निश्चित !
जो सर्व श्रेय पथ, देवयान वह विस्तृत,
होता समग्रत: ही जग-जीवन विकसित !

बलहीन, प्रमाद ग्रसित को आत्मा दुर्लभ,
श्रम रहित ज्ञान,—ज्यों सूर्य रश्मि वंचित नभ !

आत्मा को पा, कृतकृत्य, तुष्ट होता मन,
वह व्याप्त सर्व मे, जग-जीवन की जीवन !
नदियाँ ज्यों सागर में बह होतीं अवसित
त्यों मुक्त पुरुष भी नाम रूप रज विरहित—
उस दिव्य परात्पर चिद् द्युति में होता लय
भव-क्रम-विकास में खुलता जिसका आशय !
यह प्राण अमृत घन, जिसके रस से सिंचित
इन्द्रिय तन्मात्राएँ,—आनन्द प्ररोहित !
ज्यों विहग बसेरा लेते तरु पर, निश्चित
आत्मा के छायाहीन वृक्ष पर जग स्थित !
पति स्त्री के हित पति स्त्री प्रिय नहीं—असंशय
धन जन सुत देव न उनके हित प्रिय, निश्चय !
आत्मा के हित प्रिय सर्व—स्वर्ग हो भूतल,
आत्मा ही दर्शन मनन योग्य परमोज्वल !
जग जीवन विरहित ब्रह्म निरर्थक शुक-स्वर,
वह रिक्त ज्योति, जिसमें न सप्त रँग के स्तर !
जो सर्व शून्य सत्ता में उर करते लय
वे दीप शलभ, शाश्वत वंचित, होते क्षय !
अन्न ही ब्रह्म, अग्रज, जीवों का आश्रय,
सर्वोषधि,—इसमें ही उद्भव, पालन, लय !
चिर प्राण शक्ति से ओत-प्रोत इसका तन,
सर्वायुप,—अनुप्राणित जिससे भव - जीवन !
इस प्राण कोष मे व्याप्त प्रकाश मनोमय,
विज्ञान रूप जिसकी सित आत्मा निश्चय !
सत्कर्म बुद्धि को करता जो संचालित,
जिसके भीतर आनन्द ब्रह्म अन्तर्हित !
उस असत् ब्रह्म से नाम रूप—सत् आया,
वह सुकृत, रसो वै सः, सर्वत्र समाया !
इच्छा बल से ही एक विविध में वितरित,
आनन्द उसे करता प्रेरित, संवर्धित !
मन वाणी लौट वहाँ से आते निश्चय—
आनन्द ब्रह्मविद् को न सताते दुख-भय !—
वह पाप - पुण्य - चिन्ता से रहता विरहित
दोनों ही उसके आत्म रूप में मज्जित !
अन्न ही ब्रह्म, जिसमें भव उद्भव स्थिति लय,
प्राण ही ब्रह्म, जो महत् अन्न का आश्रय !
मन ब्रह्म—उभय ही अन्न-प्राण का आलय,
विज्ञान ब्रह्म, जो इन सबका महदाशय !
आनन्द ब्रह्म—आनन्द निखिल भव उद्भव,
आनन्द विश्व स्थिति, उसमें ही लय सम्भव ?
निन्दित न अन्न, यह जाग्रत अन्न ही स्थित,
हों अन्न प्राण विज्ञान मनस प्रभु-अर्पित ?

केंचुली झाड़ ज्यों सर्प निकलता बाहर,
गत को अतिक्रम कर प्रगतिशील हो युग नर !
जो नहीं मनुज प्रेमी, रचना श्रम साधक,
वह नया मनुष्य नहीं,—विकास पथ बाधक !
चुन ज्ञान कोष से मुक्तावलि चिद् भास्वर,
कवि ने ज्यों जन भावी हित अंजलि में भर—
मानव ईश्वर को अर्पित की,—कह सादर,
प्रभु धरा - स्वर्ग में हों श्रम-मूर्त निरन्तर !

देखा युग कवि ने, सबसे कम आध्यात्मिक,
पृथ्वी पर ज्ञान-प्रसू भारत-भू, अब, धिक् !!
वह भग्न रीढ़, जीवन मन की जड़ खँडहर,
ज्ञानान्ध कूप तम में निमग्न रस ईश्वर !!
आवाहन उसने किया साश्रु जल लोचन,
पिघले कटु व्यक्ति अहं कुण्ठित मानव मन !
हों विनत प्राज्ञ, उन्नत पशु-कृमिवत् जनगण,
नव आस्था दीपित मन, शुभ प्रेरित जीवन !
जागो, जागो, जन सृजन चेतने, जागो,
निज जन्म सत्व—अनुराग-मुक्ति तुम माँगो !
सौन्दर्य प्रेम का भू पर कर आराधन
आनन्द - दीप्त तुम करो जनों के तन-मन !
प्रिय हो मानव, प्रिय भू, प्रिय शशि गृह अम्बर,
प्रिय फूल विहग, प्रिय ऋतु, प्रिय गिरि सरि सागर !
प्रिय शिशुओं के मुख, प्रिय हों स्नेही सहचर,
अनुराग-मधुर हो वधुओं के प्रति अन्तर !
जग-जीवन के प्रति हो अनन्य आकर्षण,
मानवता - प्रेमी, मंगल - कामी हो मन !
तुम कर्म - चेतना,—हों कृतार्थ जीवन-क्षण,
भू-रचना-जीवी हों अजस्र श्रम-रत जन !
सामाजिक जीवन ही भगवत् वैभव धन,
नित व्यक्ति सिद्धियाँ सम्भव जिसमें नूतन !
जल-बिन्दु सिन्धु में बन जाता दिग् विस्तृत,
भव यान पार लगता जिसमें नभ चुम्बित !
आ नयी पीढ़ियाँ सुख से जीवन यापन
जन भू पर करें, वरें कुसुमित दिक् - प्रांगण !
भोगें जीवन मधु ज्वार युवक-युवती गण,
रस संस्कृत हों मन, शोभा अनिमिष लोचन !
नव हृदय जन्म ले रिक्त मनुज के भीतर—
नव मनुष्यत्व का अमृत - भुवन रस-सुन्दर !
जिसके स्वर्णिम शतदल में उतरे ईश्वर
नव रचना मंगल का दे जन-भू को वर !

सांस्कृतिक क्रान्ति हो जीवन में बहिरन्तर
चिप्लावक सागर में न्हायें नारी - नर !
नव जीवन - स्वप्नों से हों दीप्त दिगन्तर,
मानव मानव के आये और निकटतर !
फिर अन्तरतम संगीत लोक हो झंकृत
बरसे आनन्द अमृत, जन-भू हो जागृत !
शशि कलश सौध—विज्ञान-करों से निर्मित
मानव आत्मा की महिमा से हो मण्डित !
खोलें ऊपाएँ नये स्वर्ग वातायन,
आध्यात्मिक वैभव से कुसुमित हों दिशि-क्षण !
देखें जन अन्तर - अन्तरिक्ष में उड़कर
दिव लोक—अमित शाश्वत प्रकाश से भास्वर !
सामन्ती सीमाओं से मुक्त धरा जन
भौतिक निशीथ में भटक रहे अब भीषण !
गत धार्मिक द्वाभा ग्रस्त हृदय प्रांगण में,
भय, तर्कवाद, सन्देह, गरजते मन में !
बौद्धिक विकास से दिग् विस्तृत जन अन्तर,—
घुट रहा हृदय,—आस्था हत, निर्मम पत्थर !
भौतिक प्राणिक दर्शन से पा उद्दीपन
अवचेतन कर्दम में धँसता भू - जीवन !
उर की आभा वासना - गर्त में मज्जित,
भावों की शोभा मलिन,—द्वन्द्व - भू-लुण्ठित !
अन्तश्चेतन आनन्द - ज्योति का अम्बर
धूमों से छादित, शुभ्र प्रीति का अन्तर !
अनिवार्य अतः, नव राग भावना बनकर
उतरो तुम, विचरे जीवन - स्वर्ग धरा पर !
श्री शोभा प्रीति प्रतीति दिगन्तर नि:स्वर
मानव अन्तर में खुलें ज्योति रस अम्बर !
गत सम्प्रदाय धर्मों वर्णों के ऊपर
मानवता का भू - स्वर्ग रचें नारी - नर !
जिसके उर में हो सृजन हर्ष रत ईश्वर
बाहर जीवन - शोभा, जन मंगल का वर !
बाइबिल - कुरान मे, श्रुति - पुराण में निश्चय
एक ही लोक - ईश्वर मंगल - ज्योतिर्मय !
श्रुति शिखरों का जो खग, प्रकाश की श्वासा,
ईसा के दिव्य हृदय में उसका वासा !
उपनिषद् व्योम से झर किरणों के निर्झर
बाइबिल में हों बन गये अमृत चित् रस सर !
वह प्राणों का पावक कुरान मे भास्वर
जलता अखण्ड आस्था का बन तूर्य - स्वर !
नव स्वर्ण चेतने, निखरो भू पर पावन,
हो निशा ग्रस्त, आलोक गवाक्ष बनें क्षण !

यह सामूहिक चित् राग संचरण नूतन
अब प्रथम बार करता जन - भू पर विचरण !
इतिहास जानता मर्म न इसका गोपन—
सांस्कृतिक वृत्त ले रहा जन्म नव चेतन !
सहनी होंगी तुमको बाधाएँ निर्मम,
कटु घृणा द्वेष, भय क्रोध उपेक्षा, मति भ्रम !
गरजेगा पिंजर - तुष्ट मनुज - पशु प्रतिक्षण,
उठने देंगे संस्कार न क्रूर पुरातन !
लघु यत्न श्लाघ्य : मत करो मुकुट की आशा,
भू पर कृतार्थ होगी प्रभु की अभिलाषा !
पथ शूल फूल हों : बन्धन बने न भाषा,
शाश्वत जीवन की नहीं अन्य परिभाषा !
धीरे मन की सीमा अतिक्रम कर जीवन
आत्मा का क्षेत्र बनेगा,—ज्योतित प्रांगण !
अनुभूति, भावना मात्र नहीं परमेश्वर,
उसको यथार्थ स्तर पर होना दृग् गोचर !
आभ्यन्तर ही में नहीं, बहिर्जग में भी
हो नाम - वृन्त पर मूर्त रूप - रस - पुष्कर !

संगीत नया ले रहा जन्म गोपन में
झरता अशब्द, शिखरों से मानव - मन में !
रस रहा भावना में मधु - अमृत प्रतिक्षण,
सुन रहे नये स्वर श्रवण, हृदय नव स्पन्दन !
बहु यत्न चल रहे चेतन उपचेतन में
हो सके मूर्त दिव गीत धरा जीवन में !
विज्ञान बहिर्जग प्रांगण करता निर्मित
धरती का रूप सँजो, मुख कर दिक् शोभित !
जन महत् नये युग में कर रहे पदार्पण
जड़ दैत्य प्रकृति से मानव युद्ध समापन !
पर्वताकार तम का दानव जो भीतर
उससे लोहा ले, आत्म - जयी हो युग नर !
अब नयी सुनहली प्रीति हृदय अम्बर में
हो चुकी उदय,—आभा - असि ले, अन्तर में
जूझती क्रूर दानव तम से जो निर्भय,
मन भावी का रण - क्षेत्र मनुज का दुर्जय !
आन्दोलित नव युग दोल, झूलता निःस्वर
नव मानव शिशु जिसमें,—अस्फुट अधरों पर
मँडराता नव संगीत, जिसे स्वर देकर
धरती को स्वर्ग बनायेंगे जन सुखकर !
मैं देख रहा, हँस उठते फूलों के क्षण,
नाचते रजत नूपुर झंकृत कर उडुगण !

गाता शोणित, कर शिरा जाल में नर्तन
त्वच अस्थि मांस आनन्द ज्योति के वाहन !

मैं अमृत सृष्टि गढ़ रहा—प्रेयसी नूतन,
शोभा पावक तन, स्वर्ग प्रीति दीपित मन !
जिसके स्पर्शों में नव प्रकाश अवगाहन,
आनन्द उपस्थिति से झरता नित पावन !

दुर्वह स्तन श्रोणी भार नता गत नारी
ताराओं जड़ी रहस्यमयी अँधियारी—
अब स्वर्ग रश्मि, मधु गन्ध, शरद ज्योत्स्ना बन
सौन्दर्य - प्रीति - आनन्द - ज्योति, हरती मन !

दायित्व महत् भावी रामा के ऊपर,
हो स्वर्ग मूर्त शोभा देही में भू पर !
वह हो स्वर्णिम अन्तःप्रकाश की वाहक
जन - मन में सुलगे आत्मा का रस पावक !

देखा कवि ने सीता को, सित आभा तन,
पाताल पैठ जो निखरी श्री राधा बन !
जन - भू छायाभा में अब सुषमा मण्डित
बन स्वर्ण चेतना, करती जड़ मुख दीपित !

कविते, चित् स्वर्णिम प्रकाश के घन को
जग - जीवन में करो दिगन्त प्ररोहित,
आत्मा का शत जिह्व अमर पावक कण
रहे न अन्तर नभ ही में अन्तर्हित !

धरा उदर में कान लगा सुनता मैं
जन्म - ले - रहे - नये - स्वर्ग की मर्मर,
प्रसव - व्यथा के प्रलय - वारि से निखरे
अमृत पुरुष का स्वर्ण भुवन रस भास्वर !

द्वितीय खण्ड

अन्तश्चैतन्य

सत्यों में हो मनुज सत्य विजयी,
जयी शक्तियों में हो अन्तर्बल,
संकल्पों में जन - भू रचना श्रत,
भव संकट में मनुज ऐक्य सम्बल !

कला-द्वार

१. संस्थान

प्रणत, मुग्ध कवि का मन
प्रभु के प्रिय प्रतिनिधि नर,
मंगलमय हो तुझको
नव भू - जीवन का वर!
पाप - पुण्य से ऊपर
तू अमर्त्य, चिद् भास्वर,
निखर रहा युग - तम से
नव मानव, भू - ईश्वर!

अमर शिल्पी तू, कले प्रवीण,
मुक्त शाश्वत का ले आह्लाद,
चेतना की दे गहरी नींव,
पुनः गढ नव जन - भू प्रासाद!
शून्य तन्त्री स्वर तार विहीन
गूँजती भर अशब्द झंकार,
बरसाता निराकार सौन्दर्य
सृजन स्वप्नों के पंख पसार!
गिरे, रच शुभ्र भावना सेतु,
लाँघ भू मन समुद्र,—उस पार
उतरती रस - सित चिन्मय ज्योति
मर्त्य तम को जो करती प्यार!
कला के लिए कला का राग
वरद कवि वाणी का व्यभिचार,
लोक - जीवन के भीतर पैठ
स्वर्ग - शोभा में उसे सँवार!
श्लील अश्लील मूल्य दो हाथ,
असुन्दर सुन्दर युग स्थिति पात्र,

द्वन्द्व अतिक्रम कर, रच कल्याणि,
सत्य शिवमय भू शोभा गात्र !
सूक्ष्म रस - सृष्टि तूलि का ध्येय
लोक मंगल - सुख प्रेरित मात्र,—
सन्त ऋषि योगी भी अकृतार्थ,
कला के यदि न नम्र ये छात्र !

लक्ष्य कवि का न मात्र आनन्द,
न रस ही उसकी अन्तिम सिद्धि,
उभय अनुभूति - जनित परिणाम
अर्थ - गौरव की करते वृद्धि !
काव्य का तत्व अनिर्वचनीय
हृदय - प्रज्ञा से सम्भव भोग,
व्यक्त करता अन्तः सौन्दर्य
भावना तन्मय कवि का योग !

कल्पने, शब्दों को दे पंख,
बदलता युग पट, दृश्य महान्,
उड़ रहे पक्ष मास, ऋतु वर्ष,
उड़ रहीं शतियाँ, दिशि लयमान !
बदलता रभस वेग से विश्व
मनुज के तन - मन - जीवन - प्राण,
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान !

न माने मन यदि सत्य प्रकाश,
स्वल्प मति समझें कला विलास,
वरण कर नव विकास के तत्व
हरें सहृदय जन - भू तम त्रास !
जीर्ण जीवन के वस्त्र उतार
प्राज्ञ नर खोलें अन्तर - द्वार,—
प्राण मन (यह भू संस्कृति पीठ !)
देह से निखर करें अभिसार !

वर्ष दश : हरि ने कवि उर स्वप्न
किया भू पलकों पर साकार,
दिया सांस्कृतिक वृत्त को रूप
जोड़ जन कला - शिल्प सम्भार !
निभृत गंगा तट, जनपद प्रान्त,
प्रकृत जन - मन को परख सँवार,
निखारी नयी भावना - भूमि
सँजो जीवन - मूल्यों का सार !

प्राप्त कर बृहद् रम्य भू - भाग
वृद्ध राजा ठाकुर से दान,

रचा जन कला लोक प्रासाद
तान कलि मण्डप, वेलि वितान !
मलिन विश्री गाँवों की भूमि,
उठा जीवन शोभा संस्थान,—
कठिन मुट्ठी श्रम - जल में गूँथ
हृदय - सौरभ, आत्मा का गान !

मानसिक, भौतिक, पृथु सम्पत्ति
सुलभ यान्त्रिक बल युग के पास,
ज्ञान, विज्ञान, संगठन शक्ति,
प्राविधिक कौशल, कर्म प्रयास !
न भीतर शान्ति, न वाहर श्रेय,
जगत हित युग - संकट क्षण घोर,
उच्च चेतना विना, अनिवार्य,
न संयोजन सम्भव सब ओर !

चेतना, मात्र न आत्मिक ज्योति,
प्राण इन्द्रिय मन के उस पार—
इन्हें अतिक्रम कर वह अविकार
मुक्त बहती समग्र रस धार !
देह मन आत्मा में वह व्याप्त
देश राष्ट्रों में वह अविभक्त
भूत, सद्यः, भविष्य से युक्त—
पूर्ण भू - जीवन में हो व्यक्त !

सभ्यता को हृत मानव बुद्धि
चरम चिद् विभव कर चुकी दान,
विश्व अब हस्तामलक समान,
विजित दिक्,—अन्तरिक्ष अभियान !
शुष्क जड़ तथ्यों के मरु बीच
भटकते मृग - जल में जन-प्राण,
खोजता नयी भावना - भूमि
मनुज का रिक्त हृदय अनजान !

पाँच वर्षों में जन ने जूझ
बाह्य सन्दर्भ किया निर्माण,
जुगायें कला - भवन के हेतु
वस्तु - साधन, उपकरण, विधान !
सँवारे ललित कला के कक्ष
बुला गायक, वादक, स्वरकार,
छात्र - छात्राएँ, शिक्षक सुज्ञ,
कृतीजन, नर्तक, नट, छविकार !

बना संरक्षक, अंग सदस्य,
बढ़ायी शिविर शक्ति, निधि कोश,
रूप - रेखा विकसित कर स्थूल
मिला हरि उर को क्षण सन्तोष !

धोन् गृह, स्वास्थ्य शिविर, एकान्त,
स्नान-गार, शीकर, शाद्वल तल्प,
रंग - भू, क्रीड़ा - वन, उद्यान,
लता - गृह, तरु - पथ, गुल्म अनल्प !
संवारा मानवीय परिवेश
धरा को उर-शोभा में ढाल,
बढ़ी जिज्ञासा जन में मूक
शिविर का सौष्ठव देख विशाल !
कौन यह अन्तर्जीवन सत्य
लोक - भू का जिसमें गुरु श्रेय ?
मधुर कवि उर का शोभा - स्वप्न,
शुभ हरि भैया का प्रिय ध्येय ?
ज्ञात था नहीं किसी को तथ्य,
समझ उसको हरि का आदेश
सृजन - श्रम में रहते सब लग्न,
समर्पित हरि के लिए अशेष !
सदाशय था हरि का व्यक्तित्व
कर्ममय उसके श्रद्धा त्याग,
सभी आकर्षित उसकी ओर
उसे सब पर था सम अनुराग !
शिविर था केन्द्र - बिन्दु - भर स्वल्प,
निखिल जन - कर्म - क्षेत्र था गाँव,
अकल्पित रचना श्रम की शक्ति,
जनों पर पड़ा अदृश्य प्रभाव !
प्रथम शिक्षा,—हरि कहता, बाह्य
कर्म पर हो निष्ठा विश्वास,
कर्म का प्राण - स्पर्श था गूढ़
जनों का सम्भव मनोविकास !
कर्म - प्रेरणा करें जन प्राप्त
रिक्त जीवन वर्जन से मुक्त,—
कर्म प्रेरणा - शक्ति का स्रोत,
जनों को करे लोह संयुक्त !
भाग्य - बल पर बैठे निरुपाय
पूर्वकृत पापों के अभियुक्त,—
जगे सोया जीवन चैतन्य,
कर्म ईश्वर, जन हों न वियुक्त !
और भी पाँच वर्ष में केन्द्र
पा सका स्वप्न - मूर्त आकार,
जगा जन - मन में स्पन्दन, रुद्ध
धरा - जीवन में गति - संचार !
लोग घर - बाहर करते बात,
बढ़ा नर - नारी उर में चाव

नवल के प्रति आकर्ष - विकर्ष
धरा - मन का प्राचीन स्वभाव !

बाह्य वैभव संचय ही मात्र
रोग का होता यदि उपचार,
न होते सबसे अधिक क्षुधार्त
धरा के धनपति,—जन - भू भार !
महत् के प्रति क्यों नहीं खिंचाव
लोक - मन में ?—हरि को था ज्ञात,
जगत भौतिक मरु : जन को नव्य
चेतना में होना मधु - स्नात !

केन्द्र के पीछे वंशी गुह्य
प्रेरणा का अदम्य था स्रोत,
उपस्थिति से जिसकी चरितार्थ
लोक - जीवन था ओत - प्रोत !
जानता वह, भू - मन में दीप्त
उसे बोनी चिद् नभ की आग,
ज्योति पल्लव स्वप्नों के बीज,
ज्वाल पंखी जीवन - अनुराग !

नम्र था कवि, असंग, आत्मस्थ,
बहिर्जीवन तटस्थ, अति अल्प,
भाव उन्मेषित रहता चित्त
प्राण अन्त: शोभा के तल्प !
समर्पित जीवन था एकाग्र,
प्रणत छाया वह, प्रेम प्रकाश,
धरा पर रचने जीवन - स्वर्ग
चेतना करती सृजन विलास !

अधर पर धर युग कवि मधु वेणु
हृदय में भरता रस झंकार,
भावना में स्वर - संगति फूंक,
दृष्टि - पथ मे नव स्वप्न सँवार !
अचेतन गह्वर मे आलोक,
जगाता प्राणों मे आह्लाद,
खिला जीवन - मुख पर सौन्दर्य
मिटा कटु अवचेतन अवसाद !

वर्ष दश ही में हुआ कृतार्थ
पंच दश वर्षों का विस्तार,
अभीप्सा थी युग - मन मे तीव्र
धरा - उर मे उत्कण्ठ पुकार !
समापन - प्राय पुरातन वृत्त,
उदित नव आशा का संसार,

विश्व संशय भय का तम चीर
शनैः खुलता प्रकाश का द्वार!
भाव चेतना हो सके मुक्त
चाहिए दृढ नैतिक आधार,—
कहा वंशी ने,—हरि, जो इष्ट
तुम्हें जन - भू हो स्वर्ग विहार!
अस्थि पंजर का ले अवलम्ब
देह के मांसल रंग उभार
अंग सौष्ठव करते चरितार्थ—
साधना ही जीवन श्रृंगार!

नही मानसिक संयमन मात्र
कृच्छ्र अर्जित नैतिक आचार,
परिस्थितियाँ रच रुचि अनुकूल
तुम्हे गढ़ना भू - संस्कृति - द्वार!
संगठित हो जो बाह्य समाज
स्वतः हो सुलभ आत्म संस्कार,
समन्वित भू - जीवन की पीठ
व्यक्ति - उर देगी स्वयं सँवार!

बन सके जन - मन जो उन्नीत
स्वर्ग उतरे वसुधा पर काम्य,
विषम भू - जीवन स्थितियों बीच
खोजना तुमको व्यापक साम्य!
भरो भू - जीवन - मन के रन्ध्र
एकता हो जीवित सब ओर,
राग - सागर—मेरा गुरु दाय,
धरा पर ले रस शुभ्र हिलोर!

जाति वर्गों के वेष्ठन खोल
छिन्न कर रुग्ण रूढ़ि के पाश,
घृणित धर्मान्ध द्वेष भय मुक्त,
मनुजता को आना अब पास!
देश - राष्ट्रों की सीमा लाँघ
बढ़ा आन्तर आदान - प्रदान,
बाँध नारी - नर के सित प्राण
स्वर्ग को देना नव आह्वान!

राजनीतिक आर्थिक अवरोध
किये भू - जीवन को म्रियमाण,
मिटा राष्ट्रों का स्पर्धा द्वेष
धरा - मन का करना निर्माण!
केन्द्र रचना का तात्विक अर्थ
देश - भर का युगपत् उत्थान,
सूक्ष्म, अन्तश्चेतन यह वृत्त
इसी में जन - भू का कल्याण!

क्रूर गत भू स्थितियों से रुद्ध
पूर्ण हो सका न मनोविकास,
विचरता बौना क्षुद्र मनुष्य
मनुजता का भू पर उपहास!
जन्म लेता अब नव चैतन्य
विश्व मानस में,—वृत्त महान्,
गुह्य भू - गर्भ तिमिर को चीर
विहँसता कल्प - सूर्य अम्लान!

अतः सांस्कृतिक केन्द्र को मूर्त
समझ भू जीवन का सित कक्ष,
भेद - शृंखल जन - मन के खोल
सूक्ष्म को करो रूप - प्रत्यक्ष!
विरोधों को संगति में बाँध,
भरो जन - मन में रुचि संस्कार,
मनुज हो एक, भाव स्तर उच्च,
कर्म - पथ खोजो सोच - विचार!

सारग्राही थी हरि की बुद्धि,
उतर आया मन में तत्काल
क्रान्तदर्शी कवि उर का सत्य
विश्व - मंगल का स्वप्न विशाल!
शिविर का श्रीगणेश कर शीघ्र,
केन्द्र का समझा स्वर्णिम ध्येय,
किया हरि ने सबको उद्बुद्ध
जगा मन में संकल्प अजेय!

सौम्य, जन - जीवन का था पर्व,
लोक स्तर पर नव सत्य प्रयोग,
सदस्यों में अपूर्व उत्साह,
जनों में था सक्रिय सहयोग!
ज्योति का अन्तरिक्ष उन्मुक्त
खुला हो दृग सम्मुख अनिमेष,
नयी भू पर स्थित थे अब पैर,
प्राण मन में जीवन - उन्मेष!

चन्द्र से अभिप्रेरित ज्यों सिन्धु
केन्द्र से अनुप्राणित था ग्राम,
ज्वार - भाटा - सा घट - बढ नित्य
निखरता जीवन तत्व ललाम!
मुक्त भावना, न मृषा स्वभाव,
कर्म रस तन्मय रहते छात्र,
प्रेरणा पुलकित रखते प्राण
युवक - युवती बन संस्कृत पात्र!

प्रकृतिगत दोषों के प्रति दृष्टि
केन्द्र की थी निर्भीक, उदार,

ग्रन्थियाँ जन - भू - मन की खोल
विकृति लेनी थी सहज सँवार!
असत् को कर समग्र स्वीकार
उसे देना था सत्संस्कार,
पाप को मान पुण्य स्तर निम्न
विषमता का हरना था भार!

सिन्धु विप्लव मे अतल निमग्न
जगा हो भू का श्यामल कूल,
उगा, शोभा ग्रह वन, जन केन्द्र
काल गति थी जीवन अनुकूल!
देश - भर में छायी कृति गन्ध
नागरिक आये लिये उमंग,
देख भू - उर का स्वर्ग - प्रकाश
बने नव मानवता के अंग!

पौर जन का पा प्रिय सहयोग
शिविर का हुआ अभीप्ट विकास,
धर्म का दे संस्कृति को स्थान
रूढ़ि विधि से कर मुक्त प्रकाश!
विश्व मानवता का आदर्श
लोक समता में हो साकार,
बहिर्जग हो ईश्वर का रूप—
केन्द्र ने किया ध्येय स्वीकार!

सरित तट पर जन लोक विशाल,
चतुर्दिक विस्तृत मन - से द्वार,
चेतना - गन्धी रजत समीर
स्वस्थ जीवन करती संचार!
स्वच्छता जन - भू का आदर्श,
स्वच्छ अब हाट - बाट, पुर - ग्राम,
सृजन - सुख का हार्दिक परिवेश,
स्नायुओं को मिलता विश्राम!

प्रथित था हरि का मृदु भू - प्रेम
हरी धरती हो सुघर सुरूप,
सुरँग फूलों में लिपटें अंग
स्वर्ग स्मिति - सी मुख पर प्रिय धूप!
थूकते पुर पथ में जब लोग
कहीं लगता उसको आघात,
सोचता,—होता वह मधु मेघ
दूध से धोता भू का गात!

अभी प्रावस्था मे विज्ञान
पटरियाँ पेंच, कोयला धूम,
किये भू - पंजर नग्न कुरूप
देख करकट सिर जाता घूम!

भाप की सीटी कर चीत्कार
कान के परदे देती फाड़,
लौह डग, भाग रहा युग - दैत्य,
वन्य पशु - सी भर हिंस्र दहाड़!

पौर जन देखा करते स्तब्ध,—
शान्ति स्थित हो भू पर साकार,
सभी अन्तः केन्द्रित मन - प्राण
साधते नियत कर्म व्यापार!
हृदय में हो अजस्र रस - स्रोत
दृगों में आशा का संसार,
ग्राम - जीवन - रचना मे लीन,—
श्रेय संवर्धन हो सुख - सार!

कला - प्रांगण में स्थापित उच्च
चतुर्मुख युग - ब्रह्मा की मूर्ति—
राम सँग बुद्ध मुहम्मद यीशु
विविध रूपों की करते पूर्ति!
चतुर्दल नील पद्म के मध्य
काल का काल - हीन सित हाथ
लिये नव ज्योति - शिखा था ऊर्ध्व—
सत्य का युग - प्रतीक हो साथ!

भिन्न धर्मों के छात्रा - छात्र
विगत युग के निखरे अवशेष
प्रेरणा करते अभिनव प्राप्त
देख युग - प्रतिमा को अनिमेष!
एक सत् चित् आनन्द प्रकाश
निखिल अग - जग जीवन में व्यक्त—
उन्हें लगता,—उसके ही रूप
पृथक् युग - पुरुषों में अविभक्त!

स्तवन करते नर - नारी नम्र
मुक्त कर श्रद्धा - सिक्त विचार,
लोक - जीवन आस्था बन गूढ़
सत्य - आस्था लेती आकार!—
धन्य हे अग - जग के कर्त्तार,
तुम्हारे हमी मूर्त आधार,
तुम्हें वाणी दे मन - वच - कर्म
प्रगति का वहन करें जन भार!

पूर्ण तन्मय हो तुममें, प्रेम,
बनें हम नव विकास के अंग,
शुभ्र श्रद्धा हो सारथि गुज
बुद्धि गति रोध तमस हो नंग!
मुण्ड मति व्यक्ति अहं में कीर्ण
लोक - जीवन घन, रत्नच्छाय

सँजो भू - प्रीति रश्मि सुरचाप
सँभाले युग - मानव का दाय !

जगत् जीवन में हो तुम मूर्त,
धरा पर करे स्वर्ग अभिसार,
एकता का रच स्वर्णिम सेतु
मनुजता हो भव - सागर पार !
देश - राष्ट्रों को कर भू - युक्त
खोल निर्मम जन - अन्तर - द्वार,
जाति - धर्मों से बन्धन - मुक्त
बने मानवता भू - शृंगार !

करो तुम साँस - साँस में लास
भरे अन्तर में सित आनन्द,
प्रीति ग्रन्थित हों खण्डित प्राण
जगत जीवन हो सांगिक छन्द !
समर्पित तुमको सब भव कर्म,
तुम्हें देखें भू पर साकार,
प्रेम की हो सब जन सन्तान,
निखिल भू हो मानव - परिवार !

बसो पलकों में बन युग - स्वप्न,
हृदय में जन - भू - मंगल नित्य,
बुद्धि में लोक - कर्म संकल्प,
धरा - जीवन हो चिर कृतकृत्य !
वरे शोभा में तुमको देह,
सृजन - सुख मे भू - जन के प्राण,
प्रीति मे नर - नारी रस - शुभ्र,
शान्ति में महत् लोक - निर्माण !

प्रकृति अंचल था ग्राम उपान्त
आन्तरिक था - स्वर्णिम एकान्त,
नील नभ, प्राण हरित वन प्रान्त,
रजत दर्पण गंगा तट शान्त !
मधुर वन मर्मर प्रेरित मन्द
सार - गन्धी जल - लोम समीर,
रंग पंखों की कर चल वृष्टि
चहकते खग,—चातक, पिक, कीर !

उषा के वक्षः स्थल पर जाग
विहँसता प्रातः रवि साभार,
विश्व के भीतर ज्योतिर्विश्व
खोलता निः स्वर अन्तर्द्वार !
प्रकृति सम्पद् से हो उर युक्त
अहमिका का खोता कटु - भार,

वस्तुओं का मुख गुण्ठन खोल
देखती प्रकृति,—शक्ति साकार !

बहिर्मुख बिखरे मन को क्लान्त
खींच भीतर निसर्ग एकान्त
क्रूर जीवन संघर्षण क्षुब्ध
चित्त को करता निर्मल, शान्त !
गुह्य विश्वात्मा मन में पैठ
केन्द्र बनता उर का अनजान,
लीन होते संशय भय भेद
सर्वमय के संग तद्गत प्राण !

नित्य कर्मों से हो द्रुत मुक्त
गाँव में करते छात्र प्रवेश,
लोक श्रम पहिले, तब निज शुद्धि—
यही था हरि का ध्रुव आदेश !
व्यर्थ वह तुच्छ आत्म - संस्कार
असंस्कृत जो भू - पृष्ठ अशेष,
सर्व से होते जो न वियुक्त
न शंकित होते भू के देश !

विश्व - स्थिति निर्मित कर ही व्यक्ति
फूल - फलता,—मिथ्या सन्देह,
संगठित हो जो जीवन - शक्ति
सुरक्षित हों शोभा भू गेह !
आज अभिप्रेत महत् जन - क्रान्ति
ऊर्ध्व - विस्तृत हो जीवन - दृष्टि,
व्यक्ति - मन अतिक्रम कर, कृतकाम
विश्व - मन पर योजित हो सृष्टि !

धनिक श्रमिकों में वर्ग - विभक्त
धरा - जीवन का दुःखद वृत्त,
बँटे अन्तर्मूल्यों में लोग
बाह्य वैषम्य न मूल निमित्त !
न अधिमन स्तर पर जब तक विश्व
संगठित होगा,—जीवन भार !
खुलेगी रुद्ध सुई की आँख
ऊँट वैभव संग होगा पार !

युगों से रच जड़ सत्ता, तन्त्र,
सभ्यता ने बहु किये प्रयोग,
महत् मानव गरिमा के योग्य
सफल हो सके न गत उद्योग !
उसे गढ़ना अब नव आधार
विषमता कर बहिरन्तर चूर्ण,
ऊर्ध्व समदिक् संग व्यक्ति समाज
समन्वित हो जिसमें सम्पूर्ण !

सिखाते वे जन को सहयोग
व्यक्ति - मन का हर स्पर्धा द्वेष,
वृहत् सामाजिकता का स्वप्न
हृदय में भरता नव उन्मेष!
जनों में जन के प्रति सहजात
सहज आकर्षण हो क्यों रुद्ध?
स्फुलिंगों को बनना संयुक्त
लोक मख पावक कुण्ड प्रबुद्ध!

ग्राम स्तर पर युग स्थिति अनुरूप
नियत कर अर्थ काम का स्थान
छात्र सहश्रम से करते सिद्ध
लोक - जीवन का नव उत्थान!
मनुज - मन के व्रण धो दुख दग्ध
चेतना करते नव संचार,
मिटाते बहिरन्तर जन-दैन्य
धरा - जीवन - मुख पोंछ, निखार!

यथा - सम्भव जनपद का रूप
किया लोगों ने नव निर्माण,
फूस खपरैलें पटी कुटीर
बनी विवरों से जन - संस्थान!
स्वच्छ गूलें, कूड़ों के कूप,
पन्थ प्रच्छाय, कुटे, विस्तीर्ण,
स्वास्थ्य-गृह, अतिथि-वास, पथ-भोग,—
सद्य मुकुलित हो पतझर जीर्ण!

तेल बिजली से चलते यन्त्र
बढ़े गाँवों में लघु उद्योग,
पूर्व - ग्रह बिना, केन्द्र ने लब्ध
साधनों का सब किया प्रयोग!
देख दृढ़ जन - मत, एका, त्याग
दिया शासन ने जन पर ध्यान,
हरा विद्युत् ने तमस विषण्ण,
बना भू - रोदन जीवन - गान!

मनुज का मुख्य प्रेरणा - स्रोत
नहीं भौतिक ऐश्वर्य विधान,—
प्रेम, सौन्दर्य, सृजन - आनन्द
हृदय में पायें जन के स्थान!
मूलगत सत्य न वस्तु समृद्धि,—
शुभ्र अन्तर आस्था, चिद् दृष्टि,—
सूक्ष्म एकता सूत्र में बद्ध
निखिल सचराचरमय यह सृष्टि!

लोक - श्रम ही सम्पद्—सिद्धान्त
जगाता कर्म प्रेरणा, सिद्धि,

धरा, जन - श्रम - जल से अभिसिक्त,
उगलती रज से स्वर्ण समृद्धि!
मनुज के छू कुण्ठित उर तार
जगाना था चैतन्य नवीन,
उसे भीतर से बाहर खींच
धरा पर करना था आसीन!

विविध वैज्ञानिक यन्त्रोपाय
श्रेय सुख के साधन अनिवार्य,
वाष्प विद्युत् का हो दायित्व
मनुज कर - पद करते जो कार्य!
सफल हो सहकृषि, जन सहकार,
सफल हो एक धरा परिवार,
बढ़ें बाहर संयुक्त प्रयत्न,
खुलें भीतर निरुद्ध उर - द्वार!

सरल निश्छल हो मानव - वृत्ति,
नम्र ऋजु रहे स्वयम्प्रभ बुद्धि,
बहिर्जीवन संचय हो स्वल्प,
महत् चित् सम्पद्, अन्तःशुद्धि!
मुक्त मन, भाव - दीप्त आकाश
सुलभ हो,—न हो दिगन्तर बाह्य—
ऊर्ध्व मुख मनुष्यत्व हो सौम्य,
बहिर्मुख जन भू सौष्ठव ग्राह्य!

युवाओं को दिशि - पथ का ज्ञान
प्रौढ़ धीरों को कर्म, विराम,
चाहिए संरक्षण, जो वृद्ध,
स्त्रियों को शोभा, शील ललाम!
जहाँ शिशुओं का हो संस्कार
राष्ट्र की जो भावी सम्पत्ति,
संगठित बहिरन्तर जो देश
न उस पर आती कभी विपत्ति!

तिरस्कृत, वर्जित जहाँ समाज,
स्वार्थ - रत, आत्म - निष्ठ सब लोग,
धर्म हो, शासन, डाकू, चोर
उसे पीड़ित रखते बहु रोग!
महामारी, दारिद्र्य, दुकाल
अभागी भू का करते भोग,
बहिर्जीवन - विहीन यदि देश
व्यर्थ सब जप तप, साधन योग!

उभय जीवन - मुद्रा के पक्ष,—
वस्तुगत—अन्न, वस्त्र, आवास;—
स्वच्छता, सुन्दरता, पावित्र्य,
मूल्यगत सुख—श्रद्धा विश्वास!

समन्वित कर दोनों ही रूप
मनुज का सम्भव पूर्ण विकास,
वस्तु मुख ईश्वर का वहिरंग
भाव मुख भगवत् हृदय प्रकाश !
उभय में अन्तर्मुख ही श्रेष्ठ
हृदय का करता जो संस्कार,
विना संस्कृत मन के भू-भोग
जगत में मूर्त नरक का द्वार !
प्रेरणा, कर्म-शक्ति का स्रोत,
शान्ति, भू-ऐक्य, लोक-कल्याण—
चेतना मनुष्यत्व का सार,
चेतना वस्तु-जगत का प्राण !

उपेक्षित था हृत वधू समाज
अशोभा की मल मन्दिर देह,
विरस जीवन, वंजर उर प्रान्त,
वरसती छात्रा वन रस-मेह !
श्रान्त भू-गृहिणी में नव ज्योति
जगा, उर में भर उर का स्नेह,
सिखातीं शोभा सज्जा वोध
सँजो, धो, वे मृण्मय तृण गेह !
भग्न दैन्यों के खँडहर देख
झुर्रियों के झालर कृश गात,
दया ममता के आँसू रोक
दादियों से कर मीठी वात—
कला युवती जन उन्हें सँभाल
वँटाती काम काज में हाथ,
रोगियों को दे ढाढ़स, पथ्य,
वूढ़ियों का सुख-दुख में साथ !

धैर्य वे देतीं उन्हें प्रवोध—
आ रहा सत् युग, स्वर्ण प्रभात,
मनुज-जीवन जब धर नव रूप
संगठित होगा भू पर, मात !
दैन्य अघ, जग के भय दुख-द्वन्द्व
नहीं रह जायेंगे अनिवार्य,
शक्ति साहस सह जीवन युक्त
धरा पर नर होगा कृतकार्य !
जनों को हरि आकर प्रति वार
सिखाना सन्तति निग्रह मन्त्र,
नियोजित यदि न मनुज-परिवार
न सम्भव पूर्ण-काम जन-तन्त्र !
अशिक्षित, निर्धन, रुग्ण, अयोग
वढ़ाते व्यर्थ अकारण भू-भार,

नरक क्यों बने न जन-भू-स्वर्ग
नहीं जब प्रजनन पर अधिकार !

विषय सुख नव यौवन का सत्व,
महत् तन से हृदयों का प्यार,
मत्त वह, क्षण मदिरा आवेश,
नित्य यह, मधुर सुधा रस धार !
बाह्य साधन से गर्भ-निरोध
बुद्धि संगत,—कुसुमास्त्र अजेय,
शुभ्र नर-नारी उर का प्रेम
जयी हो स्मर पर,—जीवन ध्येय !

गहन वन से छन ज्यों रवि-रश्मि
दीप्त करती लघु वन भू-भाग,
हृदय में भर जन के उल्लास
ज्योति आशा की उठती जाग !
प्रेम ही मानव-जीवन सार,
प्रेम, हरि कहता, सर्व समर्थ,
प्रेम के बिना न जीवन-मूल्य
समझता मन, न सृष्टि का अर्थ !

युग्म मूल्यों का वितरण जीर्ण
आज रोके जन भाव-विकास,
बद्ध संकीर्ण परिधि में व्यर्थ
राग-गन्धी चेतना प्रयास !
नये सांस्कृतिक वृत्त को जन्म
प्राण कल देंगे,—यह विधि काज,
भाव-जीवी स्त्री-पुरुष कृतार्थ
गढ़ेंगे शोभागृही समाज !

बन सके जन-जीवन स्तर उच्च
राज्य को भी भरना निज दाय,
संगठित हो जो जन-भू शक्ति
लोक-जीवन न रहे असहाय !
जनों के टुकड़े खा अकृतज्ञ
रहे धिक् सेवक शासक वर्ग,
जगाना होगा सुप्त विवेक
जनों को कर जीवन उत्सर्ग !

ऐक्य मणि सेतु सांस्कृतिक वृत्त,—
न शासक-शासित इसमें भिन्न,
विवर्तन से वांछित अभिवृद्धि,
दैन्य दुख बन्धन हों विच्छिन्न !
मान पद सुख सुविधा में मग्न
न जन-प्रतिनिधि हों लोक-विरक्त,
मिटे कुत्सित कुरूप भू-चित्र,
मनुज-जीवन-मन हो अविभक्त !

क्रान्ति भी सम्भव, विश्व विवर्त,—
मनुज मन हो जो आत्म प्रबुद्ध,
राजनीतिक आर्थिक संघर्ष
मिटें भू से विध्वंसक युद्ध !
सांस्कृतिक मुक्ति जगत की आज
किये बौने (अभि) नेता रुद्ध,
बहिर्मुख अन्ध प्रगति न उपाय,
अपेक्षित, जग हो अन्तः शुद्ध !

दोपहर में, कर सरिता - स्नान
छात्र लेते दो घड़ी विराम,
तीसरे पहर, अध्ययन मग्न
खोलते मन का भुवन ललाम !
खोजते कहाँ सभ्यता - यान ?
मनुज - जीवन का क्या आदर्श ?
कहाँ असफल समदिक् इतिहास,
कहाँ अधिदर्शन का उत्कर्ष !
विजित क्यों बहिर्मुखी विज्ञान ?
ज्ञान क्यों अपने में असमर्थ ?
उभय का हो क्या सांगिक रूप,
यन्त्र गति, तार्किक मति क्यों व्यर्थ ?
सोचते, कैसे हो चरितार्थ
मनुज स्तर पर जड़ सृष्टि विकास,
करें जन - जो समग्र निर्माण
स्वर्ग - सुख भू पर करे विलास !

मनुज ही भव - दुःखों का मूल,
प्रगति की बागडोर ले हाथ
बढ़े वह, गत भय संशय भूल,
अभ्युदय सम्भव सबका साथ !
मनुज - भू हो प्रति पीढ़ी स्वर्ग
मर्त्य में छिपा अमर्त्य अजान,
त्याग ही से सम्भव भव - भोग,
त्याग वंचित भू नरक समान !
धरा के ओर - छोर अब घोर
अँधेरे में डूबे असहाय,
दैन्य दुख दुबिधा पंक निमग्न
भग्न - मन जन रहते निरुपाय !
विषमता,—उधर विश्व सम्पत्ति
बनाती भू ध्वंसक अणु अस्त्र,
इधर जन - कृमि सहस्र पग दीर्घ
रेंगता बिना अन्न - घर - वस्त्र !

चल रही रूढि - रीतियाँ अन्ध
मृतक छायाएँ भू पर आज,
विचर युग - युग के कुत्सित प्रेत
साधते भूत - निशा में काज !
भूल निज आत्मा,—शतमुख भक्त
जाति - धर्मों के गुण्ठन डाल,
मतों के मुखड़े पहन कुरूप—
मनुजता हो सहस्र - फन व्याल !

बैठ शाद्वल पर छात्रा - छात्र
आँकते छवियाँ, गाते गान,
गाँव के, नगर - देश के प्रश्न
गहन आकर्षित करते ध्यान !
समस्याएँ जग की गम्भीर
मथित करतीं मिल उनके प्राण—
विश्व की पृष्ठ-भूमि में नव्य
मनुज का करते वे निर्माण !

नये युग में भौतिक विज्ञान
बदल अब रहा बाह्य परिवेश,
मनुज अन्तर्विरोध हों चूर्ण
जगाना जन में नव उन्मेष !
कला से भावी मानव - रूप
व्यक्त करने का कर आयास—
आँकते वे अन्तः सौन्दर्य
सूक्ष्म में भर रँग - रेख प्रकाश !

पूछते, समदर्शी अध्यात्म
हर सका क्यों न विश्व - सन्ताप ?
अमर शाश्वत सुख का पा स्पर्श
मिटा वह सका न भू - अभिशाप !
और, बहुदर्शी जड़ विज्ञान
प्रकृति का पा अजेय वरदान,
मूढ भस्मासुर - सा उन्मत्त
प्रलय को देता अब आह्वान !

अन्ध जड़ प्रकृति तन्त्र को प्राप्त
पुरुष का हो जो दृष्टि प्रकाश,
पंगु आत्मा का पकड़े हाथ
प्रकृति जो, हो चरितार्थ विकास !
समन्वित हो जड़ - चेतन - शक्ति
ज्ञान सारथि हो, रथ विज्ञान,
प्रगति हो जीवन की सर्वांग,
ऐक्य ही में समष्टि - कल्याण !

वृद्ध शुकवत् वे विद्या - चंचु
जिन्हें हो प्राप्त न अन्तर्दृष्टि,

ग्रन्थ मत भारवाह, दिग् भ्रान्त,
ज्ञान उनका ऊसर की वृष्टि!
न वह पाण्डित्य, गलस्तन मात्र,
नहीं जिसका जन हित उपयोग,
न जो युग को दे नव गति ज्योति,
व्यर्थ वह, चर्वित चर्वण रोग!

भला उस शिक्षा का क्या मूल्य
कर्म-फल करे न भू-हित दान?
रिक्त जो गन्ध कुसुम, मधु-हीन,
बुद्धि का दे मिथ्या अभिमान!
प्रकाशित कर जीवन-तम-तोम
पार कर सके नहीं भव यान,
भिन्न विषयावर्तों में लीन,—
समन्वित सागर जो न महान्!

वही शिक्षा जो आँखें खोल
मनुज सीमाओं का दे ज्ञान,
कहाँ अब मानव-जीवन वृत्त,
सभ्यता संस्कृति का अभियान?
कहाँ जन भू विकास अवरुद्ध,
प्रकाशित हों कैसे मन-प्राण?
प्राप्त हों नव भू-जीवन-मूल्य
मनुजता का हो पुनरुत्थान!

लोग सद्यः में करते वास
खोजते क्षण ही का उपचार,
इसी से आर्थिक तान्त्रिक वर्ग
शक्ति सम्भृत, पाते सत्कार!
विपश्चित आडम्बर मद शून्य
तिरोहित, काल-धुन्ध में मौन,
लोक-भू मंगल हित अनिवार्य
सांस्कृतिक ज्योति दिखाये कौन?

भेद-मति में कटु स्वार्थ-विभक्त
व्यक्ति, भू राष्ट्र, विश्व के देश,
घृणा ईर्ष्या स्पर्धा विष दग्ध,—
न मन में महत् कर्म उन्मेष!
शुभ्र शाश्वत सत्ता का सत्य,
सर्वगत आत्म ऐक्य का बोध,
न हृदयों में अनन्त का हर्ष
विश्व-क्रम में अलंघ्य गति-रोध!

हृदय के जब भी खुले कपाट
धरा पर विचरा जीवन-स्वर्ग,
एक चेतना-सिन्धु में लीन
हुए वह धर्म-जाति-मत-वर्ग!

विश्व संकट : उर के पट बन्द,
स्वर्ण कुंचिका मनुज के हाथ,—
घटित हो विश्व मिलन का पर्व,
शान्ति सुख भोगें भू - जन साथ !

खण्ड युग - सीमाएँ कर छिन्न
हो सके मानव भू - संयुक्त,
मुक्त कर रूढ़ि - रुद्ध उर - द्वार
मनुज - गरिमा के बन उपयुक्त !
चेतना में पा ज्योति - प्रवेश
अहता के जड़ तोड़ कपाट—
लोक - संस्कृति का स्वर्णिम ध्येय
एक हो मानव - विश्व विराट् !

खोल आत्मा का तोरण दीप्त
शुभ्र चिद् शोभा का पा स्पर्श
वहन कर सके धरा की ओर
मनुज अन्तर्जग का सित हर्ष !—
सुना संस्कृति का शुभ सन्देश
बताता हरि छात्रों को लक्ष्य,
पाश समदिक् भू के कर चूर्ण
ऊर्ध्व निधि हो जीवन - प्रत्यक्ष !

प्रसाधन - स्मित कृत्रिम सौन्दर्य
मात्र सुन्दरता का उपहास,
दीप्त करने शोभा का दीप
मनुज जाये निसर्ग के पास !
उषा सन्ध्या सुषमा अनिमेष
निहारे तारा पथ आकाश,
फूल हिम, लहर किरण, खग गीत,
चन्द्रिका का पीये उल्लास !

मनुज सहृदयता का सौन्दर्य,
क्षमा, करुणा, समता, सित त्याग,
और सर्वोपरि ईश्वर प्रेम
अभीप्सा की अन्तर में आग !—
घृणा स्पर्धा के युग मे घोर
जहाँ छाया भौतिक उन्माद
मनुज आन्तरिक गुणो से हीन
नष्ट होने को,—यह अविवाद !

इन्द्रियों के मधु रस से पूर्ण
समन्वित हो मानस चैतन्य,
प्रस्फुटित पड्दल पद्म समान,—
प्रीति - सौरभ से हो भू धन्य !
इन्द्रियों से आत्मा तक शुभ्र
एक हो स्वर्णिम रस सोपान,

न गत जीवन निषेध से शुष्क
अस्थि पंजरवत् हो सद्ज्ञान!

मनुज - संस्कृति का जीवन - मुक्त
उठाना भू पर सौध नवीन,
अचेतन तम पर धर दृढ़ नींव
अमर शिखरों की शोभा छीन,—
सर्वहित खोल मुक्ति के द्वार
पुरुष स्त्री को रख प्रीति - अधीन,
अनघ आत्मिक सुख में स्थित-चित्त,
धरा रचना में तन - मन लीन!

काल का ऊर्ध्व मौन चित् शृंग
दिशा का मुखर हरित विस्तार
आन्तरिक स्वर्ण - सूत्र में बाँध
बाह्य भव वैचित्र्यों का सार,
प्राण - मन आत्मा का ऐश्वर्य
लोक - जीवन में कर साकार
मनुज संस्कृति का सित दायित्व
धरा पर करे स्वर्ग अभिसार!

सीखते चित्र नृत्य संगीत
शब्द वर्णों के नव स्वरकार,
आँकती तूलि भाव का रूप
लोक - भू का करने शृंगार!
मूर्त करते अमूर्त युग - स्वप्न
सूक्ष्म में भर जीवन - झंकार,
शिल्प का करते वे उपयोग
धरा - जीवन - सौन्दर्य निखार!

कला क्या? कहता हरि सोन्मेष,
असगति में संगति भर नव्य,
असुन्दर में सुन्दर को खोज
रूप गढ़ना जन - भू का भव्य!
खण्ड कुण्ठित को लय रस पूर्ण,
गूढ़ अन्तः स्वर को कर श्रव्य,
हटाना क्षण मुख का कटु धूम
आँक उर में स्वर्गिक भवितव्य!

ध्वनित कर गुहा निहित सित सत्य
श्रेय को शोभांचल में बाँध,
धरा प्राणों का उन्मद छन्द
लोक हित स्वर मंगल मे साध,
अचेतन तम का मुख मद चूम
कला को करना रस - संस्कार
नरक को जगा स्वर्ग में—ऊर्ध्व
शिखर में भर समदिक् विस्तार!

पाह भावों के अविगत स्वर्ग
उन्हें जन - मन में गहन उतार,
उच्च सुषमा, पावनता, शान्ति
प्रीति से भू संघर्ष सँवार,—
सत्य से अधिक महत्तर सत्य
कला को रचना नव संसार,
अमर शोभा के कर से खोल
लोक - जीवन - मंगल के द्वार !

आज की कला, किसे सन्देह ?
ह्रास युग की निर्जीव प्रतीक,
न स्वर में संगति, सौष्ठव, सार,
मात्र अपरूप, अमूर्त, अलीक !
गलग्लान, गगन - कुसुम, मद मृग,
न जन - भू जीवन हित उपयोग,
भाव रस की न रूप से पुष्टि
रेख - रँग रुचि का रिक्त प्रयोग !

न यह सौन्दर्य न जिसमें सत्य,
ज्योति - छाया का माया जाल,
न वह सत्य ही न जो शिव रूप
बाल की भले निकाले खाल !
अचेतन उपचेतन के चित्र
मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास,
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य—
अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास !

हाय, सामयिक जीवन की भ्रान्ति,—
ऊर्ध्वमुख दृष्टि न उसके पास,
न उर अन्तर्जीवन से युक्त,
न मन में निष्ठा, सित विश्वास !
अनास्था के दंशन से दग्ध,—
निराशा, संशय, भय, अवसाद
किये भूमा से उसे वियुक्त—
स्नायु - पंजर नर नर अपवाद !

कला को अन्तः संगति खोज
जगत् जीवन का गढ़ना रूप,
तरंगित हो चित् शोभा सिन्धु
किये बन्दी जिसको तम कूप !
सृजन - सुख - क्षण अनन्त मुख चूम
महत् आनन्द करें अवतीर्ण,
शुभ्र शाश्वत से हो रस वृष्टि
नित्य - यौवन पायें भू जीर्ण !

लोक व्यापक नव संस्कृति वृत्त,
न उसमें वर्जित भय बल योग,

सुदृढ़ अनुशासन से ही लभ्य,
कृच्छ्र भू - जीवन का सुख - भोग!
ध्येय यदि शुभ, शुभ यदि परिणाम,
सफल तब सहृदय शक्ति प्रयोग,
शिथिलता से समाज - बल क्षीण,
असंयम गोपन मानस रोग!

कलात्मक सित संयम कर प्राप्त
मुक्त फिरते मिल छात्रा - छात्र,
भोगते भाव स्वर्ग ऐश्वर्य
चेतना के संस्कृत रस पात्र!
रुद्ध नर - नारी उर की प्रीति
सुघर पाती जीवन अभिव्यक्ति,
विशद सामाजिक लय में बद्ध
मुक्त बनती विदेह अनुरक्ति!

बना जनरव का निर्मम लक्ष्य
युवक युवती जन का सहचार,
पुरातन पन्थी बूढ़े लोग
नया सब जिनको मिथ्याचार—
रसिक, खल, दुश्चरित्र, स्त्री - मूढ़,
कथा गढ़ करते मृषा प्रचार,
और जो काम द्वेष विष दग्ध
घृणा निन्दा जिनका आहार!

सीखते गीत, नृत्य, पदचार,
भाव मुद्राओं की बन मूर्ति,
श्लक्षण कर पद - नूपुर झंकार
नृत्य प्रिय भू - उर में भर स्फूर्ति!—
अंग - संचालन, ग्रीवा - भंग
देह में भरते संगति स्वस्थ,
हाव - भावों की लय में मग्न
छात्र - छात्रा लगते चित्रस्थ!

ज्योति पिण्डों के जग के गूढ़
सृजन आनन्द छन्द में लीन
हृदय रहता तन्मय,—उन्मुक्त
प्रेरणा पंखों में उड्डीन!
भाव लय में बँध - सध मृदु देह
सूक्ष्म पटु लाघव करती प्राप्त,
उमड़ प्राणों का रस संगीत
धरा जीवन में होता व्याप्त!

अँगुलियों से अँगुलियाँ सूक्ष्म
ललित अंगों से कढ़ सित अंग,
सहज करते जन - मन को स्पर्श
बाँध उर सचराचर के संग!

मनुज तन का शोभा - पाविश्य
अनावृत कर ईश्वर की सृष्टि,
रोम कूपों में भर आनन्द
मनोभू में करता रस वृष्टि!

लोक - जीवन के विषम संवार
नृत्य रचना कर भाव प्रचार,
विविध अंगों की करते पूर्ति,
चेतना कर जन में संचार!
नाचती गति लय में हिल्लोल,
रजत नूपुरमय मुखर समीर,
नाचती रवि - किरणें छवि - दीप्त,
धरा मन के विषाद को चीर!

नृत्य में तन्मय, जाग्रत् देह
करे आत्मा की शोभा व्यक्त,
छन्द में जीवन के सोल्लास
गा उठे हृदय - शिरा में रक्त,—
बताते गुरु,—चेतना अखण्ड,—
शुष्क तप, कृच्छ्र योग, गति क्षीण,
मुक्त शाश्वत को करता स्पर्श
नृत्य मुद्रा में नर तल्लीन!

विषमताएँ कर जग की चूर्ण
क्रुद्ध भू - मन ताण्डव को व्यग्र,
अपेक्षित जग को जीवन - मुक्ति,
लोक - संयोजित भू न समग्र!
खोल प्राणों के ज्वाला पंख
जगें पावक के सुप्त स्फुलिंग,
सभी मिल बढ़ें, ताल - लय - बद्ध,
बनें समतल अवरोधक शृंग!

सृष्टि मुद्रा रच सुन्दर गात,
लोकप्रिय भाव पूर्ण कर राग,
मुकुल रच अधर, भृंग, प्रिय लोल,
ध्वजा मुद्रित कर ललित विलास!
युवक - युवती जन रचते रास
भृंग कलिका - से मधु पद - पात,
सर्जित कर भावों का विन्यास
गोप गोपन अभ्यास रस द्वार!

सदा हो जन अंगों का धर्म
देह में हो आत्मा चरितार्थ,
रूप में पूर्ण प्रस्फुटित भाव
करें जीवन में स्वर्ग कृतार्थ!
अप्सराओं - सी थिरकें नित्य
मुग्ध पद ऋतुएँ करतीं नृत्य,

सृष्टि के उसी छन्द में बद्ध
जगत जन-जीवन हो कृतकृत्य!

लोक-नृत्यों से ले पद न्यास,
वेश-भूषा, स्वर-लय, विन्यास,
छात्र रचते मोहक सह-नृत्य
रूढ़ मन में भर भाव हुलास!
सीखतीं ग्राम-स्त्रियाँ अज्ञात
रंग-मैत्री, सज्जा, शृंगार,
अंग-सौष्ठव, जीवन उल्लास,
कला-रुचि, शील, सुघर आचार!

वाद्य-वृन्दों की ध्वनि गम्भीर
अचेतन भू-तम देती चीर,
मन्द्र गुरु सुन मृदंग की थाप
काँप उठता दिङ् मौन अधीर!
वाद्य-मैत्री की तरल तरंग
मिटाती जन-मन का औदास्य,
गूँजता गगन भाव-स्वर-मत्त
ग्राम-भू रचती जब रस लास्य!

मधुर वीणा करती झंकार
झूम मधुवन भरता गुंजार,
बाँसुरी की सुन स्वर्णिम टेर
काल का हटता मन से भार!
खनक उठते मंजीर अमन्द,
ताल देते तन्मय तृण-पत्र,
ठनकते कांस्य, गमकते ढोल,
नाद का खुलता नभ में छत्र!

सुषिर तत के संग घन आनद्ध
फूंकते जन-मन में नव प्राण,
सिहर उठता भू-गुहा-विषाद
जाग उठती जन-भू म्रियमाण!
दिगाओं से आ प्रतिध्वनि गूढ़
क्षितिज श्रवणों में कहती भेद—
नाद ही जीवन का उन्मेष
नाद ही सृष्टि, नाद ही वेद!

झाँझ डफ चंग मुरज बज संग
हृदय में भरते मुक्त उमंग,
थिरकते लतिका से लच अंग
ठुमकते पद बन नृत्य तरंग!
लोल लहरों का हो लघु लास
झलकते धूपछाँह के रंग,
सांस्कृतिक पर्व मनाती भूमि
श्रान्त समरसता करने भंग!

मधुर मालवी, मुखर विहाग,
भृंग भैरवी, कल वसन्त तरंग,
विलखता बरवा, विरह दुर्गाव,
मुग्ध, रस झरता श्याम सुरंग!
पिघलता मल्हारी मधु बीन
मन्द्र-मध्य तिग्म-स्वरों का ज्वार
गरज घन-सा भरता घन नाद
कुम्भ, धारों भींग बढ़ बटमार!
प्रतीक्षा में जन-भू संस्थान—
उदय हो उर में नव संगीत,
प्राण-मन-जीवन कर रस मग्न
करे जो भू-जन को उन्नीत!
मुक्त कर अन्तर के निज गीत
राग को दे जो मूल्य नवीन,—
जन्म ले नया हृदय,—भू-भेद
मानवता में हों सकल विलीन!
ऊर्ध्व शृंगों में सोये लोक
ध्वनित स्वर से हों जिसके स्नात,
शुभ्र आत्मा की निःस्वर शान्ति
स्पन्दित अधरों में मुखरित!
नीलिमाओं में जिसका नाद
दीप्त भर दे नव स्वर्णिमा,
हरित निस्तब्धताओं में मग्न,
करे प्राणों में ज्योति प्रवेश!
श्रेष्ठ गन्धर्व कला संगीत
जगत जीवन को दे नव अर्थ,
बिना स्वर पंखों के उड़ शब्द
भाव-नभ छूने में असमर्थ!
अपरिमित सूक्ष्म चेतना-लोक
मर्म वाणी दे उसे महान्
मूर्त हो भू-जीवन का गान
ताल स्वर संगति में मन-प्राण!
बनाते गुरु,—संसृति चिद् छन्द,
बँधे जो स्वर्णिम लय में लोक
स्वर्ग शोभा गुम्फित हो विश्व
धरा जीवन हो पूर्ण, अशोक!
शिरा में बहे रुधिर बन गीत
लोक श्रम सप्तक हो लय-बद्ध,
व्यक्त करने असीम आनन्द
हृदय-वीणा हो स्वर-सन्नद्ध!
गहनतर होती अन्तर्दृष्टि
सुनायी पड़ता-मित संगीत,

गूँजते - से अहरह निःशब्द
प्राण तन - मन के भुवन पुनीत !
अखिल के स्वर में उर को साध
चेतना गाती जीवन - मुक्त
विषम को सम कर, तम को ज्योति,
अशुभ को शुभ, विभक्त को युक्त !

बहिर्मुख मन को दे जो बाँध
स्वर्ण सित आत्मा का स्वर - तार,
मनुज की प्राण - गुहा का दैन्य
दीप्त कर दे जो चिद् झंकार,—
भेद - जर्जर भू - मानस गर्त
भरे, बन श्री - शोभा संस्थान,
रजत स्वर झर अनन्त का हर्ष
बने भू - क्रन्दन हित वरदान !

कला के स्पर्शों से इस भाँति
देह - मन का निज कर निर्माण
धरा को करने शोभा - मूर्त,
शिविर - जीवन करता श्रम - दान !
न ग्रन्थों तक सीमित हो काव्य,
पटों ही में न सुरक्षित चित्र,
कला जन - भू का कर शृंगार
लोक - जीवन को करे पवित्र !

खाद ही से खिलते हँस फूल,
काष्ठ उर ही में पावन आग,
धरा मुख का धोओ जड़ पंक
हृदय में यदि जीवन अनुराग !
उन्हें प्रेरित करता हरि नित्य
न हो भू दुख कर्दम से भीत,
चेतना बीज कलुष तम मुक्त,
बढ़ो भू - रज में सने पुनीत !

पाप में जिन्हें न दिखता पुण्य
तिक्त संघर्षों में सित शान्ति,
नरक में छिपा स्वर्ग सौन्दर्य
सत्य प्रति उनके मन में भ्रान्ति !
तमस में देख न पाते ज्योति,
स्वर्ग भू को जो किये विभक्त,
मृतक जड़,—सुलभ नहीं अमृतत्व,
ईश वंचित वे, विश्व विरक्त !

ग्राम जीवन की त्रुटियाँ खोज
मंच पर होते नाट्य - प्रयास,
मुखर हों मूक जनों के भाव
लोक चिति का रचते इतिहास !

चुटीले होते व्यंग्य, कटाक्ष,
शिष्ट निष्ठुर उनका परिहास,
सुभाते कहीं ग्रन्ध स्थल गूढ़,
कहीं मन रूढ़ि रीति का दास !

जाति धर्मों का ईर्ष्या द्वेष
मनुज को कैसे करता भ्रान्त
स्वार्थ कलहों के निर्मम दृश्य
दिखाते वे दारुण दुःखान्त !
भाग्यवादी का करुण भविष्य
निराशा, निष्क्रियता में लीन,
ग्रविद्या, दैन्य, प्रथाएँ जीर्ण
बनाती कैसे जन को हीन !

क्रोध, भय, लोभ, मोह के साथ
दर्प ग्राता—नैराश्य विषाद,
नियति के सँग सुनता नैष्कर्म्य
घृणा निन्दा का वाद - विवाद !
इधर सहृदयता करुणा प्रीति
शान्ति ग्राती, श्रद्धा विश्वास,
बदलता तुरत नरक पट दृश्य
मंच पर हँसता स्वर्ग प्रकाश !

ग्रवतरित करते पुण्य चरित्र
लोक मन में ग्रादर्श सँवार
महापुरुषों के जीवन वृत्त
धरा तम का हरते जो भार !
स्वर्ग दूतों का भू के क्रूर
शूल कैसे करते श्रृंगार,
लोक जीवन हित जिसका मूल्य
मंच पर देते उसे उतार !

लोक मंगल में ग्रास्थावान
न बाधाग्रों से होते भीत,
धैर्य, साहस, सहश्रम से सुज्ञ
विघ्न भू पथ के लेते जीत !
कथानक युग जीवन के गूँथ
भाव गरिमा से कर ग्रभिनीत,
महत् संकल्प शक्ति का मूल्य
सिखाते जन को पात्र पुनीत !

जगत जीवन में जो सम्भाव्य
न सम्प्रति देश काल में ग्राह्य
रंग भू पर प्रस्तुत कर दृश्य
बनाते उसे, बोध ग्रवगाह्य !
खोलते नयी भावना भूमि
चेतना को सज युग - ग्रनुरूप,

रूप सज्जा रुचि रंग प्रकाश
स्वप्न को देते सत्य स्वरूप !

दिखाते, सहकृषि, सह - भू - कर्म
मिटाते कैसे भू - दुख - भार,
क्षुद्र बूंदों ही का सहकार
महोदधि बोहित करता पार !
मंच हो मोहित दर्पण मूर्त—
दर्शकों को रखता अनिमेष,
सतत बिम्बित कर अभिनव दृश्य—
कहाँ अब मनुज, काल, भू - देश !

दिखाकर कठपुतली का नाच
बताते, अन्ध रूढ़ि के तार
नचाते कैसे जन को बाँध,—
कूप तम से दुष्कर निस्तार !
दिखाते कैसे मन्त्री लोग
नवाबों - से कर जन पर राज
लपेटे खादी में पद दर्प,—
लाज से नत - शिर लोक - समाज !

नाट्य के संग होते सहनृत्य
प्रदर्शन, प्रहसन, कला - प्रकार,
मूठियाँ रूप - रंग की मार
शिविर करता युग - सत्य प्रसार !
नाचती - गाती भू जी खोल
प्राण - सागर में उठता ज्वार,
प्रस्फुटित होता भू - सौन्दर्य
प्ररोहित नव आचार - विचार !

चाहते कभी छात्र एकान्त,
हरित शाद्वल पर बैठ प्रशान्त
डुबाते प्राणों का संघर्ष
बुद्धि को करता जो क्षण भ्रान्त !
गाहते सह - जीवन का दंश
और सह - जीवन का उत्कर्ष,
केन्द्र का पथ था खर असिधार,
युक्त जीवन—भय, विस्मय, हर्ष !

सन्तुलन प्राणों का कर प्राप्त
भावना का मुख कर रस स्नात.
काम कर प्रीति-अग्नि में शुद्ध
दीप्त करनी थी भू की रात !
देह रज सीमा में नि.सीम
मधुर सित शोभा को कर प्यार,
स्वर्ग कुसुमों, भावों से मुग्ध
स्त्रीत्व का करना था शृंगार !

बढ़े भू-प्राणों की तम-ज्वाल
ज्योति की कनक शिखा बन मुक्त
स्वर्ग-शोभा से निज अनजान
देह दीपक में आभा युक्त!
जगत के अन्धकार मे ऊर्ध्व
जगे इच्छा का हीर प्ररोह,
प्रीति हो सहज प्रतीति,—न मोह,
न ईर्ष्याऽसक्ति, न मिलन-बिछोह!

नील सरसी-जल में ज्यों प्रात
स्वर्ण लहरें करती स्मित लास,
लता तनिमा में हँसता भूल
रंग कुसुमों का नव मधुमास!
युवक-युवती जन के मृदु अंग
प्रकृति-कर से पा अनघ विकास
चतुर्दिक् करते सहज विकीर्ण
सूक्ष्म भावों का शुभ्र प्रकाश!

कल्पना-नयनों में अनिमेष
निखर खिलते छवि क्षितिज उदार
द्वार-गृह-आँगन के तट लाँघ
खेलता नव मानव-परिवार!
भावना-सागर में रस मग्न
डूबते जाति वंश, कुल-वर्ग,
जन्म लेता नव मानव-धर्म—
धरा-जीवन ही जिसका स्वर्ग!

ग्रन्थियाँ भू-जन-मन की खोल
निखरती हो चेतना नवीन,
फूट अंगों से शोभा कान्ति
हृदय अन्तर्मुख करती लीन!
देह छवि सत्ताएँ न विभिन्न
रसोदधि की वे रूप तरंग,
काम के क्लेश द्वेष से मुक्त
प्रीति-सुख अब निर्भय, निःसंग!

धरा के अन्धकार से धौत
राग का मुख अब सुन्दर कान्त,
शिराओं में उर की अज्ञात
प्रेम गाता रहता अश्रान्त!
हर्ष शोभा के अन्तर्लोक
प्राण-मन में खुलते एकान्त,
काम ही स्वर्ग-सृष्टि का शिल्प,—
हृदय कहता मति से निर्भ्रान्त!

छाय-छाया आते नित पास
भावना पाती पूर्ण विकास,

प्रेम का एक नया ही रूप
हृदय में भरता शुभ्र प्रकाश !
उन्हें था वंशी का आदेश
छिपायें वे न मर्म की बात,
प्रेम ही प्रकृति, पुरुष - स्त्री एक,
सत्य जीवन का होता ज्ञात !

विगत युग - सीमाओं में बद्ध
हुआ निर्दिष्ट प्रेम का रूप,
रिक्त वर्जन निषेध से रुद्ध
अमृत रस - सिन्धु बना तम - कूप !
वंशगत, संस्कृति - जनित अनेक
अभी भी प्रश्न विकट गम्भीर,
चेतना को मूल्यों में नव्य
प्रकट होना तम के पट चीर !

प्रस्फुटित होते नव सम्बन्ध
युवक - युवती जन उर में आज,
बँधा सित राग सूत्र में, शान्त,
सौम्य भू-श्रम-रत शिविर समाज !
तृप्त रज देह, प्रीति रस-स्नात,
उन्नमित द्वन्द्व मूल्य की लाज,
स्वर्ग स्मित भाव मुकुल दल फुल्ल
प्रेम शिर पर काँटों का ताज !

स्खलित होता जब क्षण चल चित्त
प्रबोधन देता वंशी क्षुब्ध,
शिविर में रहना उनका व्यर्थ
प्राण जिनके स्त्री - तन पर लुब्ध !
केन्द्र की सीमा सम्प्रति, रुद्ध
मनुज - भू का गत मनोविकास,—
व्यक्ति - केन्द्रिक अन्धा जड़ प्रेम
संग लाया निन्दा, उपहास !

प्रीति की बाँह पकड़कर शुभ्र
ग्रहण कर शोभा अंचल छाँह,
सँजो नव भू - जीवन का स्वर्ग
युवक बन सकते युग रथवाह !
लोक - भू हित हो अर्पित कर्म
यही तप - त्याग - यज्ञ का सार,
न ईश्वर - भक्ति ज्ञान चरितार्थ
न यदि भू - जीवन प्रति सत्कार !

प्रेम का हुआ सदा से क्रूर
देहरी पर तन की बलिदान,
त्वचा पर ही जिनकी आसक्ति
न उनके लिए केन्द्र में स्थान !

रहें वे बाहर जग में मग्न
जहाँ तन के ही मूल्य प्रधान,
पंक लांछन में लिपटा प्रेम
रेंगता दृष्टि - विद्ध, निष्प्राण !

धरा पर मनुज हृदय का सत्य
हमें स्थापित करना अनिवार्य,
मूर्त बन शुभ्र हृदय की ज्योति
करे जन - भू - जीवन में कार्य !
भावना निखरे, धर नव रूप,
राग मूल्यों का हो उद्धार,
देह चेतना द्वेष - तम मुक्त
स्वतः होगी विकसित, अविकार !

भावना का भावी सित रूप
न शब्दों में हो सकता व्यक्त,
मूर्त होकर ही जीवन - तत्व
ज्ञेय होता,—सत् चित् अविभक्त !
चाहता मैं, शत संस्कृति - केन्द्र
धरा पर कार्य करें अविराम,
महत् से बनें महत्तर लोग,
सतत शिव से शिवतर भू - धाम !

कूप - तम से जिनको अनुराग
विगत भू - वृत्त करें स्वीकार,
स्वर्ग - भू, धरा - हृदय— जन - केन्द्र
मिलन - स्थल, नव चैतन्य विहार !
युवक खोलें उर - मन्दिर - द्वार
शक्ति में पुरुष तन्मयाकार,
प्रकृति लायी स्वप्नों का हार
करें भू - जीवन का शृंगार !

परात्पर, विश्व, व्यक्ति—त्रिक श्रेणि
सत्य का अविच्छिन्न सोपान—
परिस्थिति, पैत्रिक गुण, दिक्-काल
व्यक्ति का सीमित करते मान !
अनघ, लघु व्यक्ति प्रकृति का सत्य
विश्व में पाये निज शुचि स्थान,
ऊर्ध्व के ज्योति - स्पर्श से युक्त
सर्व सँग हो उसका कल्याण !

युवतियाँ देह - भाव से मूढ
न करती महज स्नेह स्वीकार,
व्यक्तिगत मूल्यों के संस्कार
जगाते भय, सन्देह, विकार !
उपेक्षित आत्मा का ऐश्वर्य,
त्वचा की शुद्धि जीर्ण था रोग,

भाव जग का स्वर्गिक सौन्दर्य
न कर पाते स्त्री - नर उपभोग !
अन्ध अवचेतन हठ हो, जाड्य,
नीति अनुशासन, जनरव भीति,
आत्म ; सीमित रहता उर - राग
न खिल पाती समष्टिगत प्रीति !
शनैः वंशी अन्तःपुर - द्वार
खोलता, सिखा उन्हें सह - कर्म,
प्राण - मन का छँटता घन धूम
कार्य करता निसर्ग का धर्म !

स्त्रियों के प्रति गत नर संस्कार,
रूप के प्रति वैयक्तिक दृष्टि
स्वतः बदली, जागी सर्वांग
हृदय में व्यापक शोभा - सृष्टि !
युवतियाँ आत्म दर्प में लीन
तिरस्कृत करती थीं जो स्नेह
प्रेय का मूल्य श्रेय हित आँक
नम्र सहृदय बन, हुईं विदेह !
युवक - युवती का अन्तर - लोक
स्वर्ग बालाओं का अभिसार,—
शील के पग धर सौम्य पवित्र
विचरता वहाँ - सर्वगत प्यार !
नृत्य - प्रिय पद नूपुर झंकार
कभी बज उठती उर में मन्द,
उसे स्वर - संगति करता दान
केन्द्र जीवन का सांगिक छन्द !

जन्म लेता नव जीवन - स्वर्ग
मुग्ध वंशी के मन में मौन,
धरा पर सुन पड़ती पग - चाप,
अगोचर चलता जाने कौन !
देखता, काम - पंक में जाग
खिल रहा नव चैतन्य - सरोज,
छोड़कर धरा - स्वर्ग, जन - मुक्ति,
व्यर्थ थी स्वर्ग - मुक्ति की खोज !
सृजन शोभा स्वप्नों में लीन
दृगों से उठ जाता व्यवधान,
लौटती भू पर शिखर समीर
स्पर्श से रोमांचित कर प्राण !
केन्द्र के आँगन में चुपचाप
उतर आता स्वर्गीय प्रकाश,
डूबते मन के बौने मूल्य,
देखता शाश्वत, कर मृदु हास !

सृष्टि - संगति में बँधे अनन्त
नाचते खग - मृग, स्त्री - नर संग,
प्रकृति - भग से उठता कल गान,
खेलते कलि अलि, किरण तरंग !
प्रतीक्षा - रत सहस्र सुख स्वर्ग
काल के उर में लगते लीन—
धरा हो मनुज - मिलन का तीर्थ
ऐक्य के हो जन मुक्ति अधीन !

जगत से निखर सूक्ष्म जग एक
चकित करता कवि की स्थिर दृष्टि,
मग्न करती अग - जग के कूल
हृदय - नभ से झर शोभा - वृष्टि !
ऊर्ध्व के ज्योति - स्पर्श से गुह्य
देह - वीणा झंकृत अज्ञात
अमित आनन्दों में अभिव्यक्त,
विश्व को करती नव रस स्नात !

स्वर्ग विस्तृत थी नव चिद् ज्योति
सर्वमय, परम—न सम्भव माप,
छँट रहा था अवचेतन - धूम
कट रहे थे जड भू - अभिशाप !
मधुरिमा से दिशि - क्षण अनिमेष,
ज्योति लय में उठता तम काँप,
नाचता, बाहर कढ़ चुपचाप,
अचेतन की बाँबी का साँप !

सृजन - आनन्द - छन्द में बद्ध
प्रीति - शोभा - सागर में लीन
युवक - युवती मिलते निर्बाध
देह - मन की संज्ञा से हीन !
उषा ज्योत्स्ना का सित सौन्दर्य
सौगुना उठता उर से फूट
कोटि रति काम मुग्ध चरितार्थ,—
हाव - भावों की मचती लूट !

चेतना - पट मे ज्यों दिग् दीप्त
विश्व लगता चल छाया चित्र,
असुन्दर सुन्दर, खण्डित पूर्ण,
पंक का मुख निरपेक्ष पवित्र !
सुनहले आभा - पट में सूक्ष्म
सुहाता लिपटा भू मृद् गात,
उतरता हृदय शिखर पर मौन
प्रेरणाओं का रश्मि - प्रभात !

निखिल मनुजों में मूर्त—अखण्ड
दीखता उसको मानव एक,

अमर जो, जरा - मरण भय हीन,
स्वर्ग करता जिसका अभिषेक !
नित्य नव जो, पा जन्म विकास
सुघर धरता असंख्य आकार,
लिये शाश्वत यौवन ऐश्वर्य
दिशा - क्षण में करता अभिसार !

चेतना वंशी, हरि मन - देह,
परस्पर प्राणों में सित स्नेह,—
प्रेरणा था कवि, हरि युग - कर्म,
केन्द्र - भू थी - शोभा का गेह !
देख छात्रों में रुचि - संस्कार
सदा प्रति रहता उर साभार,
शुभ्र अन्तः संस्कृत चैतन्य
विचरता जन - भू पर साकार !

सोचता वंशी,—क्या लावण्य ?
लक्ष्य कर युवती युवक समाज,—
उसे लगता संसृति का सत्य
सहज ही शोभामय निर्व्याज !
केन्द्र के नर - नारी सामान्य
सुघर लगते पा रुचि परिवेश,
मधुरता के प्रति कृत्रिम दृष्टि
हृदय को देती उसके क्लेश !

बाह्य साधन, सज्जा, परिधान
नहीं करते सुन्दरता - वृद्धि,
सुघरता आत्मा का संस्कार
चाहिए उसको अन्तः सिद्धि !
विगत युग के शोभा के मूल्य
उसे लगते सीमित, संकीर्ण,
नागरिक आभिजात्य सौन्दर्य
अंगरागों में पोषित, जीर्ण !

सभी आकृतियाँ रेखा रूप
हमें करने अविकल स्वीकार,
न वे यदि रुग्ण, अपांग, विरूप,
असंशय वे शोभा - छवि - द्वार !
प्रकृति - गत वैचित्र्यों के योग्य
चाहिए अन्तर्दृष्टि उदार,—
सभी को मुक्त क्षेत्र हो प्राप्त
सभी विकसित हों रुचि - अनुसार !

यही पासी की लडकी रुक्म
निपट अल्हड़, स्वभाव में क्रोध,—
शिविर की अब अति सक्रिय अंग
सतत हँसमुख, गत द्वेष विरोध !

व्यवस्था करने में वह दक्ष,
प्रकृति आवेग कर्म सुख लीन,
उसे भाता उद्यान विभाग,
स्तवक, स्रक् रचना कला प्रवीण !
समझती सहज बुद्धि से मर्म
सजग उत्सुक वह, मति से मन्द,
सीखती शील, सुरुचि, सहयोग,
उदित प्राणों में अब नव छन्द !
न उसको आकृति का वरदान,
निखरती अंगों से छवि - कान्ति,
एक सुन्दरता उसमें मूक
फूल मुख पर हो वन-श्री शान्ति !

केन्द्र में दृग - मनोज्ञ बहु रूप—
महत् सुन्दरता के वे अंग,
भावना - सागर में शशि - ज्वाल
उठी हो रस ऐश्वर्य तरंग !
मनुज अन्तश्चेतना अनिन्द्य
सूक्ष्म रूपों में होती व्यक्त,
आन्तरिक शोभा उसको काम्य
देह के प्रति भी वह न विरक्त !
बीतते गये वर्ष पर वर्ष
बढा मन प्राणो का संघर्ष,
मचलता रहा भावना - ज्वार,
लोटता रहा धरा पर हर्ष !
हुई मन को अलभ्य अनुभूति,—
कठिन अवचेतन का संस्कार,
शनैः प्राणो में उतरी ज्योति,
खुला चिन्मय का स्वर्णिम द्वार !

लगे शोभा के कुसुमित स्पर्श
धँसा उर में स्वर्णिम रस तीर,
बही रोओं में तड़ित् तरंग
हुए तन - मन के भुवन अधीर !
अचेतन का तम स्वप्न - प्रदीप्त
हँसा,—तारांकुर निशि नभ - प्रान्त,
उषा का अर्धखुला सौन्दर्य
लुभाता हृदय - क्षितिज पर शान्त !
केन्द्र में खुले नवीन विभाग
पूर्ण वह हुआ अनेक प्रकार,
देश - देशों से आते लोग,
भाव जीवन पाता विस्तार !—
विश्व - संकट - क्षण बढता नित्य
काम करते न नीति, न विचार,

खोजते भू - शुभ - चिन्तक प्राज्ञ
समन्वित नया सत्य - आधार !

खुला शिशु कक्ष, सुभग सर्वांग
बाल - मन अनुशीलन का द्वार.
मातृका पाल - पोस रख स्वस्थ
नवागत का करतीं संस्कार !
सुरुचिमय पा संस्कृत परिवेश
सुयोजित होता मनोविकास
यथेच्छित रुचि स्वभाव अनुकूल
प्रस्फुटित होता हृदय प्रकाश !

संग्रहालय सँग ग्रन्थागार
खुला,—जन शिक्षा - पथ अनिवार्य,
रात्रि को पढ़ते स्त्री - नर प्रौढ़
समापन कर निज दैनिक कार्य !
मुद्रणालय ने लोक अभीष्ट
प्रकाशित की पत्रिका ललाम,
शिविर जीवन की सित आदर्श,
लोक - चेतना—मूर्त हो नाम !

केन्द्र ने खोला करुणा - कक्ष—
(प्रेम का वैसे वह संस्थान !
जहाँ आस्था, आशा, आनन्द
सृजन सक्रिय रखते भू - प्राण !
महत् के हित जिनमें चिर साध,
हृदय में धरा - प्रीति निष्काम,
समर्पित जिनके जीवन - कर्म
केन्द्र मुख्यतः उन्हीं का धाम !)

आर्त अबला जन का वह कोष्ठ—
जहाँ रहतीं विधवा निष्प्राण,
परित्यक्ता, लांछिता, अनाथ,
सपत्नी, वन्ध्या, निःसन्तान !
अनूढा, पति - पीड़िता, अनेक
स्वजन करते कटु अत्याचार—
कूप संस्कृति की करुण प्रतीक,
बन्द जीवन - मन हित तन - द्वार !

बृहद् भू - जीवन का सौन्दर्य
न उर में लेता स्वर्ग - हिलोर,—
शिविर करता उनको आश्वस्त
व्यक्ति - स्थिति से जो निहत कठोर !
केन्द्र के सहृदय छात्रा - छात्र
ध्यान देते उन पर सविशेष,
प्रेरणा भरते उनमें दीप्त
प्राण में नव जीवन - उन्मेष !

व्यक्तिगत कुण्ठा के हर शूल
हृदय में भर नव भावोद्रेक,
विश्व - जीवन - स्वप्नो में स्नात,
दग्ध उर का करते अभिषेक !
प्रकृति - सुषमा का प्रांगण खोल,
भग्न उर का कर लाघव भार
आँकते मनोदृगो मे मुक्त
अमित शोभामय जन संसार !

कहातीं माताएँ वे—मौन
लोक - श्रम मे रत रहता चित्त,
शक्ति अनुभव करते श्लथ प्राण
मनुज - जीवन अब सर्व निमित्त !
हृदय में होता रस संचार
एक अब भू - मानव - परिवार,
धरा - शोभा उनका प्रिय वेश,
सुरुचि से करतीं वे शृंगार !

जगत - जीवन के प्रति आकृष्ट
पुनः मिलता खोया विश्वास,
मुग्ध प्राणो में बहती मौन
अमृतमय विश्व - प्रकृति की साँस !
रुधिर में गाता दिग् सगीत
लोक - जीवन से जुड़ते प्राण,
सृष्टि के अमित विभव में डूब
क्षुद्र लगते निज रोदन - गान !

पूर्णिमा आयी स्निग्ध प्रशान्त
शुभ्र शरदोत्सव का जन - पर्व—
प्रात ही से लगते अति व्यस्त
शिविर के स्त्री - नर—स्नेही सर्व !
धरा का वे सँवारते रूप
प्रथम गाँवों को दे श्रम दान,
स्वच्छ अब हाट - बाट - पुर - सद्म—
स्वच्छता का सर्वोपरि स्थान !

आम्र दल के चल वन्दनवार
टँगे पुर - पथ में दृग अभिराम,
हरित शस्यों में लिपटे अंग
सुहाते पुरवे, खेड़े, ग्राम !
सुरँग रुचि वस्त्रों मे नर - नारि
घरों में करते मंगल गान,
रजत शोभा में लगते धौत
बैल हल, कूप, खेत खलियान !

यन्त्र, हल, जो धरती की योनि
बीज - गर्भित रखते नित, धन्य!
धन्य जीवन,—सोचते किसान,
धरा पालती जिसे दे स्तन्य!
गाय - भेड़ें सब लगती स्वस्थ,
जानते पशु - पालन अब लोग,
उपेक्षा गोधन की अपराध,
सुखद पशुओं के सँग भू - भोग!

हिनहिनाते घोड़े,—गृह श्वान
हिलाते पूँछ, चाटते हाथ,
भाग्यशाली मानव - परिवार
चराचर का जिसका प्रिय साथ!
गूँजता लोक - धुनों से गाँव
मुखर नृत्यों से प्रांगण, हाट,
धरा कुसुमित अँग, चन्द्र किरीट,
जोहती कला - पर्व की बाट!

हरित साड़ी पहने वन - भूमि
ओढ़ कासों का श्वेत दुकूल,
कुन्द दशनो से कर मृदु हास
सुहाती सद्य स्नात, निर्धूल!
कुँई सरसी - वेणी में खोंस,
गूँथ नव हरसिंगार के हार,
मालती के मृदु कंकण बाँध
सजे ऋतु कुसुमों का शृंगार—

मेघ - पट से दिखला मुख - चन्द्र
उठाती हृदय - सिन्धु में ज्वार,
नील कमलों की आँखें खोल—
प्रकृति देवी ही हो साकार!
रजत सौरभ से भरे दिगन्त,
स्वच्छ सर - सरिताओं का नीर,
शंख - से शुभ्र रिक्त - जल मेघ
प्राण में अब न स्तनित गम्भीर!

सुहाते पक्व स्वर्ण कण शालि,
हंस पंखों का दिशा प्रसार,
चाँदनी देख हृदय निःस्तब्ध—
सत्य क्या निराकार साकार?
विचरते स्वप्न, चरण धर मौन,
अप्सराएँ फिरती कि अदृश्य?
स्पर्श से तन्मय तन - मन - प्राण,
भाव - देही शोभा अस्पृश्य!

ज्योति प्लावित जन - भू के कूल,
वस्तु भावों में द्रवित, विलीन,

धरा लगती न धरा-सी स्थूल
एक आत्मा के जगत् अधीन!
शुभ्र भू, शुभ्र अनिल, जल, नील
कुन्द हिम कुमुद चन्द्र से आज,
रूप-रंगों के लय सब भेद,
एक सत्, बहु गुण वस्तु समाज!

भुला जग की चिन्ताएँ—श्वेत
हरित अंग-श्री मे साकार
प्रकृति-शोभा दृग-सम्मुख मूर्त
हृदय मे करती स्वप्न-विहार!
स्निग्ध स्वर्णिम स्वर लय में गूँथ
व्यथित मन-प्राणों को, एकान्त
सृष्टि संगति में निःस्वर बाँध
क्षुब्ध अन्तर को करती शान्त!

अनावृत हो आदिम सौन्दर्य
लाज-नीरव जिसकी पद चाप,
इंगितों से जो शोभा-भीरु
मौन करता हो मधु संलाप!
प्रीति तन्मय जिसका मृदु स्पर्श
हृदय का हर लेता सन्ताप,
शील की छुईमुई-सी देह
मधुरिमा मे ओझल चुपचाप!—

कुसुम कलि रोके सौरभ साँस,
खड़ी लहरें आधी उठ मौन,
पूछते तरु मर्मर भर मन्द
उतरती धरती पर यह कौन?
तारिकाएँ नभ में अनिमेष,
कुँई खोले सर में दृग स्फार—
स्वप्न-सी, विस्मय-सी यह कौन
चल रही जल-स्थल पर सुकुमार!

नीलिमा की-सी सित झंकार
भाव शोभा में लीन अजान,
प्रतीक्षा मे-सा विश्व अवाक्
मुखर हो जीवन में वह गान!—
स्वर्ग-शोभा थी समरस पूर्ण,
चाँद को भू ने दिया कलंक,
पूर्णतम किया उसे रस-प्राण,
धरा को लगा स्वर्ग के अंक!

ग्राम-भू ज्योत्स्ना का सौन्दर्य
अभी अक्षुण्ण, भावना-पूत,
निभृत पथ सरित-सरों के तीर
विचरती अप्सरियाँ, स्वर्दूत!

उतरते अब भी स्वप्न सदेह
हरित वन-डगरों के उस पार,
बुद्धि दंशित नगरों का क्षुद्र
नहीं प्रतिदिन का मित संसार!

पूर्णिमा का यह जनप्रिय पर्व—
चेतना संयोजित हो नव्य
रूप-रँग-रस से छनकर मौन
विचरती हो जन-भू पर भव्य!
प्रीति सौन्दर्य ज्योति-आनन्द
व्यक्त हो जीवन में निर्बन्ध
अवतरित होते धर सित देह
इन्द्रियों के सुख में स्वच्छन्द!

शील, सन्तुलन, शान्ति, मांगल्य,
आन्तरिक ऐक्य, वहिर्गत साम्य,
सँजोये थे जीवन परिवेश
समर्पण-मुख था जन को काम्य!
बाँटते युवक पुष्प-कलि गुच्छ
युवतियाँ पहनातीं मृदु हार,
कुसुम के वलय हाथ में बाँध
परस्पर देते वे उपहार!

मनाता रूप-रंग का पर्व
गन्ध मुकुलों में खिल उद्यान,
युवक-युवती उतारते चित्र
तूलि से भर रंगों में प्राण!
विठा निज रुचि के प्रिय प्रतिमान
मनोरंजक कर उनसे बात
भाव रेखा-स्वप्नों में बाँध
मधुरिमा को देते मृदु गात!

नृत्य-गीतों के दे जन-भोज
मनाते रस-मंगल मिल छात्र,
नाट्य प्रहसन रचकर सविशेष
रिझाते रंगभूमि पर पात्र!
सुभग क्रीड़ा वन में एकत्र
केन्द्र करता आमोद-प्रमोद,
खिलाड़ी दिखा अनोखे खेल
जनों का करते मनोविनोद!

अनिर्वचनीय गुह्य आनन्द
सतत बहता प्राणों में मुक्त,
देह-संज्ञा शोभा-सुख लीन
भाव रस था अति सूक्ष्म, अभुक्त!
लहरियों से मिल लहरें लोल
लोटती भर लीला लावण्य—

प्राण सुषमा का था सित पर्व,
हृदय तन्मय, भू जीवन धन्य!

कुसुम अलि, लहर किरण - से साथ
नाचते युवति - युवक लघु - भार,
रूप - रस की पूरी कर साध
थिरकते कला - पुत्र सुकुमार!
रंग वस्त्रों से सज प्रिय देह
गन्ध कुसुमों से रच श्रृंगार,
प्रेरणाओं को कर रस मूर्त
मुग्ध करते खग - मृग - पदचार!

विचर उपवन में छात्रा - छात्र
चाँदनी का करते उपभोग,
सिरी को वहाँ अकेली देख
मिला शंकर को प्रिय संयोग!
कुंज मे ले जा उसको मौन
पकड सादर उसका प्रिय हाथ,
कहा उसने, श्री, तुमको ज्ञात
सदा रहती तुम मन में साथ!

कहूँ क्या, छिपी न तुमसे बात,
शिविर में मैं एकाकी - प्राण,
जानता, यहाँ सर्वमय प्रेम,
भूलता मन न तुम्हारा ध्यान!
सिरी ने उसे बिठा निज पास
कहा हँस, आगे कहना व्यर्थ,
वर्ज्य हो स्निग्ध व्यक्तिगत प्रेम
सर्वगत का यह कभी न अर्थ!

सूक्ष्म अति गहन, राग का तत्व
मुक्त हो मानव - हृदय विकास,
व्यक्तिगत प्रेम कभी अनिवार्य,
नहीं वह निष्फल प्राणोच्छ्वास!
केन्द्र को अर्पित मेरे प्राण
उसी में हो सकते चरितार्थ,
प्रीति से खोलो उर का मर्म
वही कर सकती तुम्हें कृतार्थ!

सखी हम, एक प्राण दो देह,
तुम्हारी प्रशंसिका वह, नित्य
प्रतीक्षा मे रत, छिपा न भेद,
सहज होंगे दोनों कृतकृत्य!
रहा शंकर सुन क्षण - भर मौन
किया उसके मन ने स्वीकार,

प्रीति का उर में कोमल स्थान,
और वह हर सकती उर-भार!

कहा शंकर ने, तुम हो स्वप्न,
सत्य हो, सम्भव, सहृदय प्रीति,
किन्तु हरि भैया का अनुराग
तुम्हारे मन की गोपन भीति!
बहिन-भाई का दुर्लभ प्रेम,
केन्द्र में सफल तुम्हारी नीति,
पूर्णतर किन्तु सुहृद् का प्रेम,
प्रेम स्तुति नहीं, मधुर रस गीति!

सिरी रह भाव मग्न कुछ काल
नम्र हो बोली,—मुझे प्रतीति,
पुरुष-स्त्री उर का सित सौहार्द,
प्रेम की विकसित सार्थक रीति!
स्नेह का देती तुमको हाथ,
सखे, मैं खोल मुक्त उर-द्वार,
अतल निःसीम प्रणय पाथोधि
सुहृद् स्त्री-पुरुष कर सकें पार!

प्रणय की अस्वीकृति से भग्न
भावना में शंकर की रुद्ध
बँध गयी थी श्री की प्रिय मूर्ति,—
मुक्त उर पुनः हो गया शुद्ध!
हृदय से निकली सुख की साँस
हट गया अन्तर-मन का भार,
छा गया प्राणों का आनन्द
क्षितिज में भर नवीन विस्तार!

पलट शंकर ने देखा मुग्ध
सामने प्रीति खड़ी थी स्तब्ध,
देख उस दीप-शिखा को ऊर्ध्व
ज्योति नव हुई उसे उपलब्ध!
दृष्टि के मौन स्पर्श से मात्र
हट गया दुविधा का तम-भार,—
सिरी बोली हँस, थामो, प्रीति,
सिन्धु में बनो सुदृढ़ पतवार!

देख क्षण-भर पवित्र सौन्दर्य
गया शंकर अपनी सुधि भूल,
खुला स्वप्नों का मर्म-गवाक्ष
निकल-सा गया हृदय का शूल!
चेतना का बरसा ऐश्वर्य
भाव-विस्तृत कर मन [illegible]
देह [illegible]
प्रे[illegible] हुआ [illegible]

ठगा वह रहा प्रीति को देख,
कभी यों गया न उस पर ध्यान,
रूप के शोभा - पट से झाँक
प्रेम - शशि उदय हुआ अम्लान!
अधर पुट ये माणिक रस पात्र,
नयन में नीलातप संसार—
कौन वर्णन कर सकता पूर्ण
रूप में था अरूप का सार!

चन्द्रिका निर्मल अन्तः शुद्ध
सुहाती बहिर्मुक्त, अभिराम,
विचरते युवति - युवक रस - मुग्ध
स्नेह शोभा में बँध निष्काम!
नागरिक अतिथि सोचते स्तब्ध
स्वर्ग बाला ये गोपी गोप?
सौम्य, निःस्पृह, स्नेही, स्वच्छन्द—
न सम्भव इन पर दोषारोप!

थाह उनके अन्तर की बात
विहँस कहता वंशी, स्थिर शान्त,
ग्राम के युवति - युवक ये, बन्धु,
अभी जिज्ञासु, शिशिक्षु नितान्त!
गोपियाँ सुर - बालाएँ पूर्व
भावना - जीवी रहीं, विदेह,
नयी चेतना आज गतिशील
देह गेही जो निःसन्देह!

धरा - जीवन से विमुख विरक्त,
पारलौकिक था वह उच्छ्वास,
चेतना का एकांगी वृत्त,
झलकियाँ देता जिसकी रास!
सर्वगत, भू - जीवन अनुरक्त,
उतरता मन में नया प्रकाश,
गोपियों - सा जो तन्मय, मुक्त,—
पूर्ण इन्द्रियमय प्रेम विकास!

निरर्थक स्वर - विहीन संगीत,
इन्द्रियाँ ही ईश्वर की द्वार,
स्वर्ग रख सका न जिसको बाँध
धरा पर करता वह अभिसार!
बढ़ाता चन्द्र अमृत रस बाँह,
सुप्त रहता न सिन्धु सुख ज्वार,
वीचि उर में सुलगा उठ ज्वार,
दूर निःसीम नहीं—उस पार!

[illegible]
[illegible]

हँसे तारापथ-सा सोन्मेष
मर्त्य निशि में स्त्री-पुरुष समाज !
श्याम घन में प्राणों के, दीप्त
इन्द्रधनु स्मित हो सित अनुराग,
स्वर्ग देखे सौ आँखें खोल
धरा का अतुल अखण्ड सुहाग !

अभी प्रारम्भिक भर ये यत्न
चेतना से हों जन संयुक्त,
धरा पर जीवन हो चरितार्थ
प्राण-मन के बन्धन से मुक्त !
अनघ मानव-जीवन का सत्य
मनुज के सिर से मिटे कलंक,
मर्त्य हो अमृत तत्त्व से पूर्ण
स्वर्ग विचरे भू पर निःशंक !

जगाती मेरे मन में शुभ्र
भाव प्रेरणा पूर्णिमा शान्त,
महत् उनका जीवन-दायित्व
स्वर्ग ही भू—जिनका सिद्धान्त ?
सृजन हित हो संयोजित कर्म,
ध्वंस रत हिंस्र यत्न अपकर्म,
धरा जीवन मन का संस्कार,—
यही भावी मानव का धर्म !

अमृत आनन्द तत्व का मेघ
शुभ्र प्रतिपल होती रस वृष्टि !
जन्मती, पलती, होती लीन
अनघ जीवन-अंचल में सृष्टि !
युक्त कलि-अलि से हों नर-नारि
देह मूल्यों से मुक्त, अनन्य,
न हो जो राग भावना शुद्धि
रहेगी जन-भू नरक जघन्य !

सशंकित मन से सुनते पौर
तत्व पा सकने में असमर्थ,
सभी थे नहीं-भ्रान्त, सन्दिग्ध,
खोजते कवि वाणी का अर्थ !
और कुछ ऐसे भी थे प्राज्ञ
जिन्हें लघु मानव लगता व्यर्थ,
शिविर के बनते वे दृढ़ अंग—
अर्थ का करते इतर अनर्थ !

स्फटिक का हो उज्ज्वल चिद् सौध
जहाँ करती हो शान्ति निवास,—
चन्द्रिका के जग में निःसीम
भावना करती मुक्त विलास !

पंख खोले शत राज मराल
उड़ रहे हों अनन्त में लीन,—
चेतना देश - काल में शुभ्र
विचरती हो आद्यन्त - विहीन !

स्वप्न शोभा मन्दिर हो गौर
प्रेम की स्थापित भीतर मूर्ति,
आरती गा निःस्वर आनन्द
स्वर्ग - सुख की कर भू पर पूर्ति—
विमोहित राका का निःशब्द
सुकवि उर को देता आभास
कौमुदी का विदेह सौन्दर्य
न बँधता रूप - शब्द के पाश !

सूक्ष्म सौरभ - सी मुक्त अनाम,
ग्रहण कर सके न जिसको घ्राण,
वहिर्नयनों के लिए अदृश्य,
फुल्ल सित शतदल - सी अम्लान !
मृदुल छवि लतिका - सी अस्पृश्य,
गीति लय - सी निःस्वर, अश्रव्य,
लाज - सी परा प्रकृति की श्वेत,
पुरुष के विस्मय - सी वह भव्य !

नीलिमा हँसती थी निर्वाक्
चाँदनी फैली थी विश्रब्ध
सोचते नागर भीतर पैठ—
सबल कवि वचनों से निःस्तब्ध !
देखता था अनन्त अनिमेष,—
चेतना - सा रहस्यमय स्निग्ध
चाँदनी का पा अन्तः स्पर्श
सत्य क्या ? कहता मन सन्दिग्ध !

दिशाएँ लगतीं सीमा - मुक्त
दिवस रोओं - से स्मित नक्षत्र,
काल रथ स्तम्भित, चक्र विहीन,
शान्ति करतल - सा नभ का छत्र !
ज्योति अंकुरित अपरिमित नील
सत्य हो शाश्वत, गुह्य, अगाध
जिसे जन - जीवन स्तर पर मूर्त
विचरना धरती पर निर्बाध !

खोल फूलों की गोरी बाँह
मालती की लिपटी थी बेल,
उतर गंगा - जल मे सौ चांद
सलिल में छिप दिप करते खेल !
चाँदनी में भाता सुकुमार
रोम हर्षित - सा हरसिंगार,

तारिकाओं - सी नभ से कूद
कुन्द कलि करतीं भू अभिसार!

शरद् ऋतु का था अन्त समीप
वृष्टि से धुला ताप का भार,
शीत का मृदुल स्निग्ध त्वच स्पर्श
अलस सुख का करता संचार!
प्यार से भरा सुनहला नील
सुहाता खुले क्षितिज के पार—
प्रकृति का शोभा स्वप्निल रूप
भावना का करता शृंगार!

राग कामना कर मानव की मुक्त
धरा - स्वर्ग को करे कला चरितार्थ,
जीवन - मन हो चिन्मय से संयुक्त
श्रेय प्रेय हों अपृथक्, सत्य कृतार्थ!
खुलें सूक्ष्म भावों के अन्तर्लोक,
झरे हरित भू पर चित् स्वर्ण प्रकाश,
इन्द्रिय भुवनों की शोभा से पूर्ण
मनुज - चेतना का हो अनघ विकास!

२. द्वन्द्व

शिशिर : झरते जन - मन के पात
वृद्ध जग अक्षय वट का ठूँठ,
ह्रास युग का छाया घन धुन्ध,
सत्य के मुख को ढाँपे झूठ !
विश्व विघटन युगान्त का ध्वान्त,
सजग सक्रिय निश्चेतन शक्ति,
स्वर्ग मधु से भू - मन अनभिज्ञ
जीर्ण शव के प्रति जन - अनुरक्ति !

असत् सत् की अखण्ड रस श्रणि,
असत् ही में सत् का अधिवास,—
सत्य था कल जो आज असत्य,
जगत जीवन रहस्य इतिहास !
समापन प्राय पुरातन वृत्त,
क्षितिज तम से छन नव्य प्रकाश
निकष पर स्वर्ण रेख - सा शुभ्र
विहँसता भू चेतना विकास !

आन्तरिक घटती जब ऋत - क्रान्ति
विश्व पट परिवर्तन अनिवार्य—
गुह्य शक्तियाँ अचित् में जाग
अगोचर में करती निज कार्य !
प्रगति - पथ में बन वे गति - रोध
सहायक होती अप्रत्यक्ष,
परीक्षा में होता उत्तीर्ण
असत् पर सत्—जो विधि का लक्ष्य !

यहाँ सहृदय, गंगा के तीर
समागत होते संतत और,

काल निरवधि, विपुला जन भूमि
यहाँ सबके हित निश्चित ठौर!
केन्द्र - स्पर्धा में मठ को जीर्ण
दिया माधो गुरु ने नव रूप,
शान्ति आश्रम अब वह विख्यात,
धर्म का भू पर कीर्ति स्तूप!

शान्ति में विश्व - मोहिनी शक्ति,
शान्ति के देशों में बहु अर्थ,
राजनीतिक गति - विधि हो, धर्म,
शान्ति इस युग में सर्व समर्थ!
शान्ति आश्रम मुमुक्षु जन - द्वार
सिखाते जहाँ अष्ट विधि योग,
ब्रह्मचारी कहलाते छात्र
कातते तकली - चरखा लोग!

साधना का था कृश सोपान
विरल तकली - चरखे का सूत,
लगा आत्मा में लौ एकाग्र
चित्त को रखते साधक पूत!
तूम संस्कारों का मन स्थूल
बीन षड्‌रिपुओं के खर शूल,
बना संयम की पूनी शुष्क
राग को करते वटु निर्मूल!

प्रात - सायं कर गंगा - स्नान
शिष्य कर सन्ध्या, जप - तप, ध्यान,
हवन के गन्ध - धूम से सिक्त
वेद - मन्त्रों का करते गान!
सतत गुरु सेवा में संलग्न—
ब्रह्म - वपु गुरु जो हों अनुकूल,
अन्ध के खुलें ज्ञान उर चक्षु,
मिले मन को भव - सागर कूल!

सर्प भ्रम भंगुर भव में रिक्त
मोह माटी के तन का छोड़
पकड़ दृढ ब्रह्म - ज्ञान की रज्जु
जगत की माया से मुँह मोड़—
ग्रहण कर दुर्लभ मानव योनि
तोड़ कारण जन्मान्तर पाश,
मुक्त हो सका न जो हत जीव
नियत उस काल ग्रास का नाश!

नित्य गुरु देते सद् उपदेश,
अहिंसा सत्य सनातन धर्म,—
न चींटी पर पड़ जाये पाँव,
जीव - रक्षा जग में सत्कर्म!

खिलाते जो मछली को चून
खिला चींटी को करते दान,
दया - ममता की कर ये वृद्धि
स्वर्ग में पाते उत्तम स्थान!

धर्म का तत्व गुहा में लीन
महाजन बना गये जो पन्थ
उसी पर चलने में कल्याण
बताते सभी शास्त्र, सद्ग्रन्थ!
बटुक का हो चरित्र निर्माण,
युवक का ब्रह्मचर्य हो ध्येय,
ब्रह्म का चतुर्वर्णमय रूप,
मनुज का चतुराश्रम में श्रेय!

द्विजों के हित बन ज्ञान प्रकाश
शूद्र हित रज पद सेवाचार,
क्षात्र हित शौर्य, वैश्य हित वित्त,
हुई भगवत् करुणा साकार!
न हिन्दू संस्कृति का उपमान
कहीं जगती में मिलता अन्य,
मनुस्मृति में कह अन्तिम शब्द
कर गये मनु धरती को धन्य!

कथा कहते गद्गद, ध्यानस्थ
कभी हो उठते गुरु दृग मूंद,
श्वास सहसा हो जाती रुद्ध,
ढुलक पड़ती आँसू की बूंद!
मुग्ध श्रोतागण पर तत्काल
गहन पड़ता एकान्त प्रभाव,
धन्य प्रभु—कहते गुरु प्रकृतिस्थ,
न तुमसे मुझको तनिक दुराव!

नवाते जन श्रद्धा से माथ,
विहँस गुरु देते आशीर्वाद,
पूछते कुशल, सुझाते मार्ग,
मिटाते कर्म जनित अवसाद!
पाप भव तृष्णा—उसमें दुःख,
मूल में जग के जड़ अज्ञान,
न तब तक दुख से तनिक निवृत्ति
न जब तक मन में सम्यक् ज्ञान!

न जब तक हो निर्धूम विराग
प्रकट होती न ज्ञान की आग,
ज्ञान ही सत्य, ज्ञान ही ब्रह्म,
राहु सद् ज्ञान सूर्य हित राग!
जन्म लेता जग में फिर जीव
पूर्व कर्मों का करने भोग,

नियति के लौह चक्र में घूम
नाचता,—निर्मम विधि संयोग !

बताते आये साधू सन्त
जगत चल धूपछाँह, क्षण नीड़,
जहाँ निर्जन बीहड़ वन आज
वहाँ कल थी जन - जीवन - भीड़ !
प्रवासी यात्री जग में जीव
मर्त्य भू नहीं अमर का धाम,
त्रिविधि दुख के पाशों से मुक्ति
खोजती आत्मा, पूर्ण विराम !

गूँजता जहाँ अनाहत नाद
वहाँ प्रिय की नगरी का द्वार,
भटकना भूत निशा में व्यर्थ
मूढ नर का प्रिय घर उस पार !
यहाँ कुछ नही किसी का प्राप्य
सभी को जाना प्रिय के देश,
स्वयं तू काट, शीश कर भेंट,—
प्रेम का यह निर्मम सन्देश !

नित्य - फूलों से रच शृंगार
सँजोनी शूलों की तप सेज,
अहंता, सुख दुख, मान ममत्व—
भेजने प्रिय के योग्य दहेज !
प्रतीक्षा में जगकर अनिमेष
प्राण की पकड़ ऊर्ध्वमुख डोर
ड्योढ़ियाँ कर चक्रों की पार
सतत बढ़ना प्रभु मन्दिर ओर !

सत्य गूँगे के गुड़ का स्वाद
मनुज का वह आध्यात्मिक दाय,
व्यक्ति गज, भव माया खल ग्राह,
मुक्ति का दृढ़ वैराग्य उपाय !
जानते अन्तर्यामी मर्म
वही भीतर के साक्षी मौन,
कर्म जब कर दोगे संन्यस्त
तभी जानोगे कर्त्ता कौन ?

स्त्रियों को देते गुरु उपदेश
पतिव्रत धर्म सृष्टि का सार,
उसी से सम्भव लोक समृद्धि
वही नि:श्रेयस का आधार !
नही नारी स्वतन्त्रता योग्य
धर्म बल होता उससे क्षीण,
पिता - माता का घर वह छोड
रहे पति - सुत के सतत अधीन !

कठिन भू पर विधवा का धर्म
त्याग, जप, तप, संयम, उपवास,
नित्य परिजन सेवा में लीन
रहे वह जग से विमुख, उदास!
देह-सुख शूलों की शर सेज
क्षणिक इन्द्रियाँ नरक दुख द्वार,
उसे रखनी निज कुल की लाज,
अंग दाहक अंगार शृंगार!

विलक्षण मिश्रण थे गुरु गूढ़—
धर्म का परम्परागत पक्ष
मानते,—कर्मों में स्वाधीन,
कुतर्कों, वाग् जालों में दक्ष!—
चेतना तत्व हो चुका लुप्त
धर्म का छिलका-भर अब शेष,
खोखले शब्दों को निःसार
मध्य युग से पकड़े था देश!

जगत को बतला माया जाल
धरा-जीवन प्रति बढ़ा विरक्ति,
मृत्यु, परलोकवाद से ग्रस्त
बची जन में न प्रेरणा-शक्ति!
मनोगति रूढ़ि-रीति से रुद्ध,
स्वर्ग-सुख के प्रति अर्जित कर्म,
जगत में ईश्वर को कर भिन्न
बना वर्जन निषेध असि-धर्म!

पलायन, दैन्य, निराशा ग्रस्त
रहा वह पाप-पुण्य सन्त्रस्त,
अभावात्मक, विराग-हत दृष्टि,
नियति, विधि, पूर्व जन्म में व्यस्त!
अमानववादी, दैवाधीन,
व्यावहारिक न रहा वह रंच,
व्यक्ति केन्द्रिक, बहु मुण्ड विभक्त,
शुष्क निष्क्रिय विराग का मंच!

हृदय स्पन्दन अध्यात्म प्रकाश
हुआ शत वादों से आच्छन्न,
पक्ष-पीड़ित, गति रुद्ध समाज
रहा कुण्ठित, संकीर्ण, विपण्ण!
बने साधन सर्वोपरि साध्य,—
जीर्ण परिपाटी, नियम विधान
शक्ति को अमर बेल-सा चूस
मतों के फैले जटिल वितान!

बताता धर्मों का इतिहास
असम्भव उनका पुनरुत्थान,

नियति के लौह चक्र में घूम
नाचता,—निर्मम विधि संयोग!

बताते आये साधू सन्त
जगत चल धूपछाँह, क्षण नीड़,
जहाँ निर्जन वीहड़ वन आज
वहाँ कल थी जन - जीवन - भीड़!
प्रवासी यात्री जग में जीव
मर्त्य भू नहीं अमर का धाम,
त्रिविधि दुख के पाशों से मुक्ति
खोजती आत्मा, पूर्ण विराम!

गूँजता जहाँ अनाहत नाद
वहाँ प्रिय की नगरी का द्वार,
भटकना भूत निशा में व्यर्थ
मूढ नर का प्रिय घर उस पार!
यहाँ कुछ नहीं किसी का प्राप्य
सभी को जाना प्रिय के देश,
स्वयं तू काट, शीश कर भेंट,—
प्रेम का यह निर्मम सन्देश!

नित्य - फूलों से रच शृंगार
सँजोनी शूलों की तप सेज,
अहंता, सुख दुख, मान ममत्व—
भेजने प्रिय के योग्य दहेज!
प्रतीक्षा में जगकर अनिमेप
प्राण की पकड़ ऊर्ध्वमुख डोर
ड्योढ़ियाँ कर चक्रों की पार
सतत बढ़ना प्रभु मन्दिर ओर!

सत्य गूँगे के गुड़ का स्वाद
मनुज का वह आध्यात्मिक दाय,
व्यक्ति गज, भव माया खल ग्राह,
मुक्ति का दृढ़ वैराग्य उपाय!
जानते अन्तर्यामी मर्म
वही भीतर के साक्षी मौन,
कर्म जब कर दोगे संन्यस्त
तभी जानोगे कर्त्ता कौन?

स्त्रियों को देते गुरु उपदेश
पतिव्रत धर्म सृष्टि का सार,
उसी से सम्भव लोक समृद्धि
वही निःश्रेयस का आधार!
नहीं नारी स्वतन्त्रता योग्य
धर्म बल होता उससे क्षीण,
पिता - माता का घर वह छोड
रहे पति - सुत के सतत अधीन!

कठिन भू पर विधवा का धर्म
त्याग, जप, तप, संयम, उपवास,
नित्य परिजन सेवा मे लीन
रहे वह जग से विमुख, उदास!
देह-सुख शूलों की शर सेज
क्षणिक इन्द्रियाँ नरक दुख द्वार,
उसे रखनी निज कुल की लाज,
वेश दाहक अंगार शृंगार!

विलक्षण मिश्रण थे गुरु गूढ़—
धर्म का परम्परागत पक्ष
मानते,—कर्मों में स्वाधीन,
कुतर्कों, वाग् जालो मे दक्ष!—
चेतना तत्व हो चुका लुप्त
धर्म का छिलका-भर अब शेष,
खोखले शब्दों को निःसार
मध्य युग से पकड़े था देश!

जगत को बतला माया जाल
धरा-जीवन प्रति बढ़ा विरक्ति,
मृत्यु, परलोकवाद से ग्रस्त
बची जन में न प्रेरणा-शक्ति!
मनोमति रूढ़ि-रीति से रुद्ध,
स्वर्ग-सुख के प्रति अर्जित कर्म,
जगत से ईश्वर को कर भिन्न
बना वर्जन निषेध असि-धर्म!

पलायन, दैन्य, निराशा ग्रस्त
रहा वह पाप-पुण्य सन्त्रस्त,
अभावात्मक, विराग-हत दृष्टि,
नियति, विधि, पूर्व जन्म में व्यस्त!
अमानववादी, दैवाधीन,
व्यावहारिक न रहा वह रंच,
व्यक्ति केन्द्रिक, बहु मुण्ड विभक्त,
शुष्क निष्क्रिय विराग का मंच!

हृदय स्पन्दन अध्यात्म प्रकाश
हुआ शत वादो से आच्छन्न,
पक्ष-पीडित, गति रुद्ध समाज
रहा कुण्ठित, संकीर्ण, विपण्ण!
बने साधन सर्वोपरि साध्य,—
जीर्ण परिपाटी, नियम विधान
शक्ति को अमर बेल-सा चूस
मतो के फैले जटिल वितान!

बताता धर्मों का इतिहास
असम्भव उनका पुनरुत्थान,

मनुजता को वे किये विभक्त,
खड़े कर ग्रन्ध रूढ़ि व्यवधान !
खो गया शब्दों में दब सत्य,
रिक्त पिंजर वे—खग निष्प्राण,
भयानक केंचुल - से गति शून्य—
कर गया जीवन प्रगति, प्रयाण !

फटक धर्मों की भूसी जीर्ण
मुक्त कर बीज स्वरूप प्रकाश,
मनुज संस्कृति मे उसको नव्य
सँजोना—हो चरितार्थ विकास !
जगत को कर ईश्वर से युक्त
स्वर्ग कर जन - भू पर निर्माण,
मनोजीवी को बनना पूर्ण,
चेतना का कर पुनरुत्थान !

रूढ़िगत कर्दम से हो मुक्त
छिन्न कर तर्कवाद का जाल,
चीन्ह ग्रन्तर का शाश्वत सत्य
उसे जन भू जीवन में ढाल—
स्थूल वैज्ञानिक युग को ग्राज
पिला नव ग्राध्यात्मिक पीयूष
मनुज को हर जड़त्व का ध्वान्त
नये युग का लाना प्रत्यूष !

चेतना हो फिर से गतिशील
खुलें ग्रन्तर्बाधा के द्वार,
बाह्य बौद्धिक ग्राडम्बर शून्य
सत्य का हो फिर से उद्धार !
देह - मन के पाटों से चूर्ण
हृदय मे हो शोणित संचार,
पूर्ण ग्राध्यात्मिक मानव जन्म
धरा पर ले—हर तम भ्रम भार !

व्यक्ति की मुक्ति, पूर्णता व्यर्थ
जगत यदि बन्धन - ग्रस्त, ग्रपूर्ण,
सर्व के सँग ही सम्भव श्रेय,
सर्व ही में ग्रभिव्यंजित पूर्ण !
जगत के प्रति मिथ्या का भाव
जगत कर्ता का धिक् ग्रपमान,
लोक - जीवन ही में प्रभु मूर्त
लोक - कर्मों ही से कल्याण !

इन्द्रियों के पथ से उन्मुक्त
चेतना करती विश्व विहार,
लौह वर्जन पिंजर में बद्ध
न उड़ पाता मन तम के पार !

विरस वैराग्यवाद ने घेर
किया नर ईश्वर का अपकार,
पारलौकिक जीवन का खड्ग
सृष्टि - मुख पर आसुरी प्रहार!

पुरोहित पण्डे हो स्वार्थान्ध
अन्ध विश्वासों का बुन जाल
नरक में जन को गये ढकेल
देश को अन्धकार में डाल!
घृणित पाखण्डों की कर सृष्टि
धर्म के ये लोभी बकवाल
बेच खा गये सत्य का दाय
खड़े कर कर्म - काण्ड कंकाल!

छोड़ घर - आँगन जीवन - भ्रान्त
गये जन वन को, ले संन्यास,
हिला सामाजिकता की नींव
जगत - जीवन को कह अध्यास!
घोर दारिद्र्य मनों मे लाद
सिखा निष्फल निष्क्रिय अभ्यास
बना हत जन - भू को निःशक्त
मोक्ष से बुझा मृगों की प्यास!

घृणा, ईर्ष्या, स्पर्धा, प्रतिशोध
किये अब जन - भू को आक्रान्त
गरजते विध्वंसक अणु अस्त्र
भीरु जन - मन रण भय उद्भ्रान्त!
धरा हो मानवीय,—या ध्वंस,
यही जन सम्मुख अब परिणाम,
विगत अन्तर्विरोध से मुक्त,
सत्य - पथ रचना लोक - ललाम!

शान्ति आश्रम के मौनाचार्य
इंगितों ही से करते बात,
जानते सब के मन का भेद—
गाँव - भर में था यह विख्यात!
दीर्घ तन, आत्म तोष की मूर्ति,
मात्र उच्चारण करते ओम्,
सदा भक्तों से रहते दूर
कमण्डलु जल से करते होम!

स्त्रियों की गोदी पर धर शीश
स्तन्य करते वे अकलुष पान,
सहज रह बाल - भाव में लीन—
भक्त महिमा जानें भगवान!

टाँग उलटा—कहते यह ब्रह्म,
चेतना का रस उससे चूस!

आरती करते नित हरिपाद
कांस्य के घण्टे पर दे चोट,
नाचते, कीर्तन गा उन्मत्त,
छिपा मुख को घूंघट की ओट!
उतरता उन पर पत्नी भाव,
भक्त जन करते जय - जयकार,
स्त्रियों में छिप जाते वे बैठ
पुरुष - तन को कर अस्वीकार!

सिखाते जन को आत्म - सुधार
वहाँ हँसमुख श्री आत्मानन्द,
दूधिया विजया प्रतिदिन छान
मुसकुराते रहते मृदु मन्द!—
व्यर्थ देवी - देवों के भेद
एक घटवासी आत्मा राम,
उन्हीं की सेवा मे हो पूर्ण
मनुज - जीवन अर्पित निष्काम!

उन्हीं की इच्छा से अविराम
अष्ट अंगुल - भर चलती श्वास,
उन्हीं से तन इन्द्रिय, मन - प्राण,
कर्म निज करते बिना प्रयास!
इड़ा पिंगला नाड़ियाँ शोध
सुषुम्ना मे ले जाकर प्राण
अगोचर जो, मन बुद्धि अतीत,
साधु जन करते उसका ध्यान!

मेरु से लिपटी सूक्ष्माकार
सुप्त अहि - सी कुण्डलिनी शक्ति,
उसी को जाग्रत कर पुरुषार्थ
प्राप्त कर सकता जग में व्यक्ति!
अष्ट कमलों के स्तर कर पार
सुलभ होता नर को शिव - लोक
जहाँ से सहस्रार की ज्योति
चित्त को रखती शान्त, अशोक!

सिखाते आसन, प्राणायाम,
यम - नियम, सूक्ष्म धारणा ध्यान,
कर्म - कौशल - प्रिय आत्मानन्द
सभी जन से पाते सम्मान!
शान्ति आश्रम को झाड़ - बुहार
स्वच्छ रखते, कर स्वयं प्रबन्ध,
प्राप्त कर वे गुरु का विश्वास
खोजते छात्रों के नित रन्ध्र!

कुटी में बैठे ही चुपचाप
कभी हो जाते अन्तर्धान—
लोक मानस की उर्वर भूमि
रहस्यों के बुनती आख्यान !

हिरन पाले थे मौनी एक
बँधा रहता कुटीर के पास,
नित्य भोजन करने से पूर्व
खिलाते उसको पहिला ग्रास !
स्वयंपाकी थे,—चारों ओर
तृप्ति सूचक निज चितवन डाल
बताते, वे अपने ही साथ
रहे लघु इतर जीव को पाल !

वहाँ रहते बाबा हरिपाद
नियम से रखते जो उपवास,
हथेली - भर तिल खाकर नित्य
बुझाते तन की मृगजल प्यास !
धर्म साधन भर जग में देह,
नहीं वह साध्य, पाप की मूल,—
दूब का रस पीकर भी, धन्य,
बनी ही रहती वह नित स्थूल !

मनाते वे गीता सप्ताह
कर्म - फल का सिखलाते त्याग,
त्याग ही मुक्ति मुक्ति सोपान
त्याग ही देता पूर्ण विराग !
बताते पद्मासन में बैठ
फेर सन की दाढ़ी पर हाथ,—
अकेला आया जग में जीव
न ले जायेगा वह कुछ साथ !

पार कर चौरासी पशु योनि
कहीं मिलती तब मानुप देह,
भजन हरि का न किया तो व्यर्थ
जन्म नर का,—तन भंगुर खेह !
जगत में आता मुट्ठी बाँध
जगत से जाता हाथ पसार,
यही नर - जीवन का इतिहास,
जगत माया का खेल असार !

मध्य युग के थोथे आदर्श
न जिनका जीवन हित उपयोग,
पराजय, दुःख निराशा पूर्ण,—
चाव से सुनते खोये लोग !
सत्य को कर आत्मा से शून्य
खाल में उसकी भूसी ठूँस

टाँग उलटा—कहते यह ब्रह्म,
चेतना का रस उससे चूस!

आरती करते नित हरिपाद
कास्य के घण्टे पर दे चोट,
नाचते, कीर्तन गा उन्मत्त,
छिपा मुख को घूँघट की ओट!
उतरता उन पर पत्नी भाव,
भक्त जन करते जय-जयकार,
स्त्रियों में छिप जाते वे बैठ
पुरुष-तन को कर अस्वीकार!

सिखाते जन को आत्म-सुधार
वहाँ हँसमुख श्री आत्मानन्द,
दूधिया विजया प्रतिदिन छान
मुसकुराते रहते मृदु मन्द!—
व्यर्थ देवी-देवों के भेद
एक घटवासी आत्मा राम,
उन्हीं की सेवा मे हो पूर्ण
मनुज-जीवन अर्पित निष्काम!

उन्हीं की इच्छा से अविराम
अष्ट अंगुल-भर चलती श्वास,
उन्हीं से तन इन्द्रिय, मन-प्राण,
कर्म निज करते बिना प्रयास!
इड़ा पिंगला नाड़ियाँ शोध
सुषुम्ना मे ले जाकर प्राण
अगोचर जो, मन बुद्धि अतीत,
साधु जन करते उसका ध्यान!

मेरु से लिपटी सूक्ष्माकार
सुप्त अहि-सी कुण्डलिनी शक्ति,
उसी को जाग्रत कर पुरुषार्थ
प्राप्त कर सकता जग मे व्यक्ति!
अष्ट कमलों के स्तर कर पार
सुलभ होता नर को शिव-लोक
जहाँ से सहस्रार की ज्योति
चित्त को रखती शान्त, अशोक!

सिखाते आसन, प्राणायाम,
यम-नियम, सूक्ष्म धारणा ध्यान,
कर्म-कौशल-प्रिय आत्मानन्द
सभी जन से पाते सम्मान!
शान्ति आश्रम को झाड़-बुहार
स्वच्छ रखते, कर स्वयं प्रबन्ध,
प्राप्त कर वे गुरु का विश्वास
खोजते छात्रों के नित रन्ध्र!

और भी थे अनेक व्यक्तित्व,
शान्ति आश्रम ही के अनुरूप,
सिद्ध आत्मा, अलिप्त, स्वच्छन्द,
डुबा सकता न जिन्हें भव-कूप!
परम सन्तोषी नर, स्थित-प्रज्ञ,
जनों को देते नित उपदेश,
तुष्ट जीवन, निष्क्रिय, निर्द्वन्द्व,
कामनाप्रद कषाय वपु वेश!

पूजते उनको श्रद्धा मूढ़
भेंट कर अन्ध भक्ति, धन धान्य,
गेरुवा वस्त्र, साधु का वेश,
देश में सहज सर्व जन मान्य!
वहाँ पण्डित थे शास्त्र प्रवीण,
पढ़ाते षड्दर्शन, षड्अंग,
तर्क करते वटु, कूट विवाद,
फक्किकाएँ दिखलाती रंग!

सीखते न्याय-सूत्र अनुरूप
शिष्य षोडश पदार्थ का ज्ञान,
तर्क को दे सर्वोपरि स्थान
रटाते गुरु—क्या चार प्रमाण!
दर्शनों का राजा यह न्याय
विवेचन-पद्धति सूक्ष्म नितान्त,
घोषणा कर कहते आचार्य—
न्याय के चिर अकाट्य सिद्धान्त!

बताते, नागार्जुन, दिङ्नाग
कुतर्कों का रच बौद्धिक जाल
सत्य के प्रांगण में किस भाँति
खड़े कर गये शब्द-कंकाल!
जिन्हें वाचस्पति मिश्र, जयन्त
प्रखर निज तर्कों से कर चूर्ण
न्याय के गौरव को अक्षुण्ण
पुनः कर गये प्रतिष्ठित पूर्ण!

विलक्षण वैशेषिक का बोध
हमें दे गये महर्षि कणाद,
जिन्होंने सर्व प्रथम कर शोध
किया परमाणुवाद का नाद!
तत्व-अन्वेषण में तल्लीन
न रहता उन्हें उदर का ध्यान,
खेत में पड़े अन्न-कण बीन
तृप्त करते क्षुधाग्नि बलवान!

तपस्या से हो हर ने तुष्ट
दिया उनको उलूक बन ज्ञान,

कहाया मुनि दर्शन औलूक्य—
दृष्टि करती नित अनुसन्धान !
न्याय में अन्तर्जगत प्रधान
बहिर्जग वैशेपिक का क्षेत्र,
वस्तु का मौलिक सत्य विशेष
देख पाये खुल ऋषि के नेत्र !

सावयव जग के निखिल पदार्थ,
निरवयव अविनश्वर परमाणु,
सृष्टि या लय का आदि न अन्त—
न कुछ भी देश - काल में स्थाणु !
मुख्यतः षट् पदार्थ, जो भाव,
असत् सातवाँ पदार्थ अभाव,
मानते ऋषि दो मुख्य प्रमाण—
पढ़ाते गुरु, बटु लेते चाव !

सूक्ष्मतम जड परमाणु स्वरूप
निखिल जड जग जिनका संयोग,
दु.खमय नाम - रूप का विश्व
न सम्भव यहाँ नित्य सुख - भोग !
मूल में संसृति के अज्ञान
मोक्षकारक ध्रुव तात्विक ज्ञान,
सहज पूरक वैशेपिक - न्याय,—
तत्व - दर्शन के दृढ सोपान !

सांख्य क्या ? सम्यक् तत्व - ज्ञान,
न्याय वैशेपिक से प्राचीन,
कपिल कर गये ग्रथित सिद्धान्त
प्रथित जो रहे वेद कालीन !
अविद्या आत्मा का दे बोध
जगाता मन में सांख्य विवेक,
सत्व रज तम से त्रिगुणातीत
शुद्ध आत्मा की ले दृढ टेक !

द्वैत - मूलक ग्रधिदर्शन सांख्य
मूलता प्रकृति - पुरुष दो तत्व,
प्रकृति जड,—सत् रज तम गुण साम्य,
पुरुष चेतन—निर्गुण, निःसत्व !
मिलन से महत् - तत्व का जन्म,
महत् से अहं,—सत्व तम रूप
सत्व में कारण आविर्भाव,
तमस से पंच भूत भव यूप !

बदलती वस्तु न, वस्तु - स्वरूप,
रूप - परिवर्तन ही परिणाम,
कार्य रहता कारण में लीन—
यही सत्कार्यवाद अभिराम ;

सांख्य नास्तिक—आस्तिक वेदान्त,
बौद्ध दर्शन का यह आधार,
लौह चुम्बक का हो सम्बन्ध
सांख्य का अन्ध पंगु परिवार !

पतंजलि ऋषि को कोटि प्रणाम,
कर गये योग - सूत्र निर्माण,
आत्म - दर्पण में दर्शन बिम्ब
भर गये—सित समाधिगत ज्ञान !
छीलकर ब्रह्म - जीव के भेद
ईश में होना तद्गत, लीन,—
योग का यही परात्पर लक्ष्य
ब्रह्म चित् सिन्धु, जीव चित् मीन !

वृत्तियों का कर पूर्ण निरोध
पंचविध क्लेशों से हो मुक्त,
सिद्ध कर सम्प्रज्ञात समाधि
चित्त होता ईश्वर से युक्त [
दु खमय जड असार संसार
जीव हित मोक्ष द्वार ध्रुव योग,
प्राप्त हो जो ईश्वर प्रणिधान
सहज ही छूटें भव के रोग !

स्वयं बन जाना भगवत् - रूप
यही जीवात्मा का वर ध्येय,
शनैः अष्टांगों से सन्नद्ध
प्राप्त करना परमोत्तम श्रेय !
विकल्पों संकल्पों से शून्य
चित्त से लगा अभेद समाधि
सुलभ कर परम सत्य सान्निध्य
न रहती क्षुद्र अहं की व्याधि !

मुक्त आत्मा ही ज्ञाता नित्य,
चित्त जड़, ज्ञेय, विवर्तन - पात्र,
ज्ञान से वस्तु - जगत अति भिन्न,
नहीं वह मनःकल्पना मात्र !
भूत विजयी योगी ही सिद्ध,
अष्ट सिद्धियाँ सहज कर प्राप्त
मुक्ति - पथ का लेता अवलम्ब
कहाता पूर्णकाम वह, आप्त !

धन्य, जैमिनि मीमांसाकार
वस्तुवादी थी जिनकी दृष्टि,
धर्म विधि का दे गये स्वरूप
नित्य शब्दार्थ, नित्य कह ... !

धर्म जिज्ञासा मोक्ष विधान,
वेद का अपौरुषेय प्रमाण,
प्राप्त हो परमानन्द महान्
कर्म का हो जो सदनुष्ठान!

वेद भगवत् मुख के निःश्वास
नित्य वे, स्वतः प्रमाण, अनादि,
न ऋषि रचयिता—प्रवक्ता मात्र,—
महा भूतज वे सत्य, न सादि!
मूल कारण अदृष्ट की शक्ति
सभी जिससे पदार्थ संभूत,
कर्म संचय का सूत्र अपूर्व
अशुभ शुभ का फल जिसमें स्यूत!

निरतिशय सुख को कहते स्वर्ग,
यज्ञ ही स्वर्ग - प्राप्ति का द्वार,
स्वर्ग से भी निःश्रेयस श्रेष्ठ
वर्ने निष्काम कर्म, आचार!
जगत सम्बन्ध विलय ही मोक्ष,
देह, इन्द्रिय विषयों के पार
कर्म बन्धन संचय कर क्षीण
मुक्त होती आत्मा अविकार!

कुमारिल भट्ट हुए आचार्य
किया मीमांसा का उद्धार,
बौद्ध तर्कों का कर परिहार
दिया शाबरमत को संस्कार!
विचक्षण थे श्री मण्डन मिश्र
हुआ शंकर से शास्त्रोच्चार,
भारती थी जिसमें मध्यस्थ,
किया शिष्यत्व सहज स्वीकार!

पराविद्या, छाग्रो, वेदान्त,
मूर्त परमार्थ तत्व संतान—
जितेन्द्रिय जो, मुमुक्षु, जिज्ञासु,
उन्हीं के हित आध्यात्मिक ज्ञान!
मिटाकर प्रकृति - पुरुष का भेद
एक दे परम तत्व का बोध,
प्रतिष्ठित हुग्रा ब्रह्म का अद्वैत
हुवा गत दार्शनिक दृष्टि - विरोध!

ब्रह्म ही जगत प्रपंच निमित्त
ब्रह्म ही उपादान, आधार,
जागतिक जीवन ब्रह्म - विवर्त
ब्रह्म ही स्थूल सूक्ष्म का सार!

वस्तुमय रूप सगुण, सोपाधि,
ब्रह्म आत्मा, पर, नित्य स्वरूप,
ज्ञेय ज्ञाता या ज्ञान अनन्य,—
सगुण निर्गुण, बहुरूप अरूप !
बिम्ब प्रतिबिम्ब—नाम गुण रूप,
जगत उर वृत्ति, दृष्टि की सृष्टि,
बताता प्रौढ़िवाद, प्रख्यात
अनिर्वचनीय ब्रह्म चिद् वृष्टि !
बाह्य जग की प्रतीति छल, भ्रान्ति,
एक रस में मायावच्छेद,
और कुछ नहीं ब्रह्म अतिरिक्त,
रजोगुण वृत्ति जीव का भेद !
सगुण निर्गुण प्रतिपादक सिद्ध
हुए रामानुज शंकर ख्यात -
शुद्ध अद्वैत, विशिष्टाद्वैत
नाम से जिनके दर्शन ज्ञात !
पढाते गुरु यों दर्शन - शास्त्र
जगत - जीवन प्रति बढ़ा विरक्ति,
अहं की हृदय ग्रन्थि को छेद
मुक्ति कैसे पा सकता व्यक्ति !
सुनाते लोक - कथा प्राचीन
विज्ञ कैसे करते शास्त्रार्थ,
न्यायविद् को तर्कों में जीत
हुआ कैसे वेदान्त कृतार्थ !
न्यायवेत्ता उदयन आचार्य,
तरुण वेदान्ती थे श्रीहर्ष,—
पिताजी नैयायिक से हार
मर चुके थे दुख से गत वर्ष !
कहा नैयायिक को ललकार
हर्ष ने लेने पितृ प्रतिशोध,—
आप देते बस बौद्धिक तर्क
ब्रह्म का है भी अन्तर्बोध ?
प्राप्त कर तद्गत शुद्ध समाधि
मुझे सोहं का होता ज्ञान,
सत्य क्या नहीं आत्म अनुभूति ?—
आप दे सकते मुझे प्रमाण ?
न सूझा नैयायिक को तर्क
रहा वह आत्म मूढ़, मति भ्रान्त,—
किया शिष्यों ने जय जयकार,
न्याय पर जयी हुआ वेदान्त !
रहे श्री विजयचन्द्र तब भूप
हर्ष को मिला राज - सम्मान,

लिखा उदयन से परिभव - पत्र
पुत्र ने हरा पितर अपमान !
अमृत उपनिषदों का चैतन्य
अस्थि पंजर धर षड् आकार,
बना षड्दर्शन, ले ज्ञानास्त्र
जगत् जीवन का कर संहार !!
हुआ भारत मानस विद्यान्ध
सीख जीवन निषेध का मन्त्र,
जगत् से ईश्वर को कर भक्त
पारलौकिक गढ़ साधन - तन्त्र !

राज - कवि थे माधो गुरु मान्य
और सम्प्रति वह वानप्रस्थ,
द्वेष स्पर्धा दंशन से दग्ध
देह प्राय: रहती अस्वस्थ !
अहंता से अजस्र निज जूझ
गये थे जीवन से अब हार,
क्रुद्ध अहि फण - सा जग कटु दम्भ
उन्हीं पर करता अत्याचार !
प्रथम जब हुआ अहं विस्फोट
हुए वह मूर्च्छित - से तत्काल,
शून्य ही शून्य उन्हें सर्वत्र
दीखता—जग तृणवत्, भ्रम - जाल !
लिखा था जो जिह्वा में मन्त्र
हुआ साधनाऽभाव से व्यर्थ,
अहं आत्मा में गुरु ने तोल
अहं को पाया सर्व समर्थ !
तीव्र यश - लिप्सा से आक्रान्त
गये वह कुण्ठाओं से टूट,
उग्र निज प्रतिभा से विक्षुब्ध
तीर - से जाते कर से छूट !
आत्मजय के क्षण में उत्फुल्ल
स्वजन शिष्यों के लिए उदार
लुटा निज जीवन धन सर्वस्व
निरीहों का करते उपकार !
अस्मिता का करने अभिषेक
सभी कुछ कर देते वह दान,
स्वल्प निज संचय से हो शून्य
सहज आकर्षित करते ध्यान !
लोग समव्यथा दया से आर्द्र
निछावर करते उन पर प्राण,

वस्तुमय रूप सगुण, सोपाधि,
ब्रह्म आत्मा, पर, नित्य स्वरूप,
ज्ञेय ज्ञाता या ज्ञान अनन्य,—
सगुण निर्गुण, बहुरूप अरूप !

बिम्ब प्रतिबिम्ब—नाम गुण रूप,
जगत उर वृत्ति, दृष्टि की सृष्टि,
बताता प्रौढ़िवाद, प्रख्यात
अनिर्वचनीय ब्रह्म चिद् वृष्टि !
वाह्य जग की प्रतीति छल, भ्रान्ति,
एक रस में मायावच्छेद,
और कुछ नहीं ब्रह्म अतिरिक्त,
रजोगुण वृत्ति जीव का भेद !

सगुण निर्गुण प्रतिपादक सिद्ध
हुए रामानुज शंकर ख्यात—
शुद्ध अद्वैत, विशिष्टाद्वैत
नाम से जिनके दर्शन ज्ञात !
पढ़ाते गुरु यों दर्शन - शास्त्र
जगत - जीवन प्रति बढ़ा विरक्ति,
अहं की हृदय ग्रन्थि को छेद
मुक्ति कैसे पा सकता व्यक्ति !

सुनाते लोक - कथा प्राचीन
विज्ञ कैसे करते शास्त्रार्थ,
न्यायविद् को तर्कों मे जीत
हुआ कैसे वेदान्त कृतार्थ !
न्यायवेत्ता उदयन आचार्य,
तरुण वेदान्ती थे श्रीहर्ष,—
पिताजी नैयायिक से हार
मर चुके थे दुख से गत वर्ष !

कहा नैयायिक को ललकार
हर्ष ने लेने पितृ प्रतिशोध,—
आप देते बस बौद्धिक तर्क
ब्रह्म का है भी अन्तर्बोध ?
प्राप्त कर तद्गत शुद्ध समाधि
मुझे सोहं का होता ज्ञान,
सत्य क्या नहीं आत्म अनुभूति ?—
आप दे सकते मुझे प्रमाण ?

न सूझा नैयायिक को तर्क
रहा वह आत्म मूढ, मति भ्रान्त,—
किया शिष्यों ने जय जयकार,
न्याय पर जयी हुआ वेदान्त !
रहे श्री विजयचन्द्र तब भूप
हर्ष को मिला राज - सम्मान,

लिखा उदयन से परिभव - पत्र
पुत्र ने हरा पितर अपमान !

अमृत उपनिषदों का चैतन्य
अस्थि पंजर धर षड् आकार,
बना षड्दर्शन, ले ज्ञानास्त्र
जगत् जीवन का कर संहार !!
हुआ भारत मानस विद्यान्ध
सीख जीवन निषेध का मन्त्र,
जगत् से ईश्वर को कर भक्त
पारलौकिक गढ़ साधन - तन्त्र !...

राज - कवि थे माधो गुरु मान्य
और सम्प्रति वह वानप्रस्थ,
द्वेष स्पर्धा दंशन से दग्ध
देह प्रायः रहती अस्वस्थ !
अहंता से अजस्र निज जूझ
गये थे जीवन से अब हार,
क्रुद्ध अहि फण - सा जग कटु दम्भ
उन्हीं पर करता अत्याचार !

प्रथम जब हुआ अहं विस्फोट
हुए वह मूच्छित - से तत्काल,
शून्य ही शून्य उन्हे सर्वत्र
दीखता—जग तृणवत्, भ्रम - जाल !
लिखा था जो जिह्वा में मन्त्र
हुआ साधनाऽभाव से व्यर्थ,
अहं आत्मा में गुरु ने तोल
अहं को पाया सर्व समर्थ !

तीव्र यश - लिप्सा से आक्रान्त
गये वह कुण्ठाओं से टूट,
उग्र निज प्रतिभा से विक्षुब्ध
तीर - से जाते कर से छूट !
आत्मजय के क्षण में उत्फुल्ल
स्वजन शिष्यों के लिए उदार
लुटा निज जीवन धन सर्वस्व
निरीहों का करते उपकार !

अस्मिता का करने अभिषेक
सभी कुछ कर देते वह दान,
स्वल्प निज संचय से हो शून्य
सहज आकर्षित करते ध्यान !
लोग समव्यथा दया से आर्द्र
निछावर करते उन पर प्राण,

बन गये माधो गूढ़ रहस्य
नित्य जन बुनते नव आख्यान !

बदल थी गयी इधर अज्ञात
सखा वंशी कवि के प्रति दृष्टि,
सुनाते गुरु चुन उसके गीत
प्रेम की कर प्रतिपद रस-वृष्टि !
बन गया था प्रसिद्ध जनवाद
सखा के प्रति गुरु का अनुराग,
सुरक्षित था वंशी निर्वैर,
कवच था गुरु का निर्मम त्याग !

नये कवियों के प्रति रख स्नेह
प्रेरणा करते उन्हें प्रदान
उगाकर मर्म भूमि में शूल
अहंता कर उनकी बलवान !
कूट आध्यात्मिकता से दीप्त
शिखर पर था तब गुरु का स्थान,
ओज रस शैली में उन्मुक्त
कलालंकृत स्वर-शिल्प विधान !

गुह्य परिवेष्टन उनको घेर
व्याप्त-सा रहता चारों ओर,
प्रभावित करता जो अनजान
दर्शकों को कर मोह विभोर !
अस्तमित युग-अस्मिता प्रतीक
व्यक्ति वह न थे, शक्ति मद स्तूप,
स्तब्ध रहते जन, मन्त्र विमुग्ध,
दिखाते गुरु जब उग्र स्वरूप !

काष्ठ-उर में रहती ज्यों अग्नि
प्रकृति में था माधो के द्वेष,
प्रीति का मुखड़ा पहन उदात्त
हृदय में पाते गोपन क्लेश !
न आँका जग ने उनका मूल्य,
मिला जन से न कीर्ति-धन दाय,
ऐंठ-सी गयी अहंता रज्जु
उपेक्षित देख अमर यश काय !

छीनकर उनका कीर्ति किरीट
घूमता वंशी बन सम्राट्,
सालता उर में निष्ठुर शूल
क्षुद्र बन जाता सिमट विराट् !
मृदुल वंशी, पर-दुख से आर्द्र,
समझता उसको निज अपराध,
पक्षि सावक कवि का कारुण्य,
द्वेष गुरु का था निर्दय व्याध !

जानते गुरु वंशी का भेद—
किया उसको प्रभु ने स्वीकार,
अस्मिता उसकी अर्पित, शून्य,
दंश विष रहित प्राण फूत्कार !
घात कर सकने में असमर्थ,
द्वेष के सम्मुख नत, मद-हीन,
जगत का वह न अहं-रत जीव,
चेतना ज्योति स्पर्श में लीन !

स्पर्श मिलते वंशी को दीप्त
स्वतः बँध जाता मन का ध्यान,
स्वर्ण क्षण,—हुए तद्गताकार
महत् सौन्दर्य ज्योति में प्राण !
रहा जाने कितने दिन मुग्ध
आत्म मज्जित वह, हर्ष निमग्न,
प्रीति आनन्द सिन्धु में दीप्त—
डूबती स्मृति अन्तः संलग्न !

हो गया विस्मृत अपना बोध,
शनैः लौटी गत स्मृति अनजान,
कल्पना चित्रों में दृग-मूर्त
बाल्य जीवन का जागा ज्ञान !
दीखता अपने चारों ओर
विश्व के भीतर ज्योतिर्विश्व,
शान्त मन निस्तरंग आनन्द,
बना वह जाने क्या पा निःस्व !

एक दिन, छाया-सा हट विश्व
गया पीछे,—कवि हुआ समक्ष,
नाभि से जगा ऊर्ध्वमुख नाद,
गीत उल्लसित हुआ उर कक्ष !
नित्य होतीं अभिनव अनुभूति
संयमित हुए शक्ति पा प्राण,
अमिट भगवत् करुणा का स्पर्श,
नहीं नर अर्जित, वह प्रभु दान !

उठा जब सुप्त नाभि का शब्द
मिला कवि को अन्तर-आधार,
लगा,—वह रीढ़ भग्न, मन रिक्त,
गिर पड़ेगा भू पर हत-भार !
नाद क्या था वह स्वर्णिम मेरु
खुला स्तर पर स्तर जिस पर ध्यान,
उतरने चढ़ने को प्रच्छन्न
चेतना का हो मणि सोपान !

चित्त में कवि के ज्योति गवाक्ष
खुला रहता शोभा अनिमेष—

विश्व से उसका मन संयुक्त
वहन करता स्वर्गिक उन्मेष !
अचित् की जगा तामसी शक्ति
घात करते गुरु उस पर गूढ़
अहंता का खो कवि निज वर्म
विवश बनता हत भाव - विमूढ़ !

शक्तियाँ रहती बहु प्रच्छन्न
महत् जन में—करने प्रभु कर्म,
गुह्य स्तर करता सतत विरोध
सूक्ष्म देवों का जो गुण - धर्म !
गूढ़ रखते उनसे सम्बन्ध
अचेतन उपचेतन के देश,
विटप पशु खग उनको चुपचाप
निखिल का देते पथ सन्देश !

सूक्ष्म रखते गुरु अन्तर्दृष्टि
योगियों का पा सत् सहवास,
उग्र थे अन्ध मन: संस्कार
सत्य को ढँक लेता अभ्यास !
हृदय में चलता कटु संघर्ष
दम्भ से जाती सन्मति हार,
अधोमुख प्राणिक शक्ति प्रभुत्व
कर लिया उर ने अंगीकार !

मोहते गुरु रख शत छल वेश
असत् का होता गूढ़ स्वभाव,
सरल था वंशी, सहृदय प्राण,
न मन में था भय द्वेष दुराव !
आत्म तन्मयता कवि की शक्ति,
ध्यान छल कौशल से कर भंग
पिलाते उसे अचित् तम घूंट
कपट कर गुरु वंशी के संग !

विविध रच सम्मोहन के रूप
चेतना में करते गुरु रन्ध्र !
अचेतन तम का कर आह्वान
मनोदृग करते कवि के अन्ध !
द्विधा होता बँट भाव शरीर
कभी तम बनता, कभी प्रकाश,
शक्तियों का अकरुण संघर्ष
चित्त को करता क्षुब्ध, हताश !

कल्पना का बुझता सौन्दर्य,
भाव धरते कुरूप आकार,
झुलस - से जाते रस - प्रिय प्राण,
मनो जग करता हाहाकार !

खींच सौन्दर्य बोध, रस - तत्व
सृजन करते माधो नव काव्य,
दग्ध निज मानस मरु को सींच
सँजोते हरीतिमा सम्भाव्य !

पकड़ ज्यों परजीवी नभ बेल
विटप पर छा, हरती रस प्राण,
छीन वंशी की अन्तस् ज्योति
छेड़ते गुरु नव युग के गान !
सर्व जन में करते सम्मान
विहँस, वंशी पर बरसा स्नेह,
ज्ञात थी गुरु की कला न गुह्य,
अन्य को हो भी क्यों सन्देह !

किसी से नहीं मुझे अनुराग
साधना मुझको अपना कार्य,
सहज पशु करे आत्म बलिदान,—
नहीं तो बल प्रयोग अनिवार्य !
तमक, सिर के ऊपर से बोल,
शिराएँ कर देते सब ध्वस्त,
दर्प के अट्टहास से चूर्ण
प्राण मन हो उठते सन्त्रस्त !

चूस लेते वंशी का सत्व,
प्राण सीत्कार वेग से खींच,
प्रकृति तुम, मैं वृष - पुरुष अदम्य,—
ओठ लेते वह कस कर भींच !
शिखर पर होते सब के आज
न पड़ जाते जो मेरे हाथ,
बुदबुदाते वह अपने आप—
छोड़ सकता न तुम्हारा साथ !

न मैं धर्मात्मा या धर्मज्ञ,
उदर हित भू पर बहुकृत वेश,
एक क्षण,—अन्धकार का देश,
एक क्षण, जीवन का उन्मेष !
देखता मैं दोनों ही रूप,
प्रबल - तम से नित विजित प्रकाश,
शक्ति - पूजा की जय सर्वत्र,
सत्य - पूजा का अर्थ विनाश !

गिरा जो पंक गर्त में घोर
उसे सद्भावों से क्या काम ?
करूँ जब तुमको भी निर्मूल
तभी सार्थक मेरा गुरु नाम !
भरूँगा मा का खप्पर रिक्त
तुम्हारा कर बलिदान घमण्ड,

स्वगत वकते, करने भय भीत
क्रूर, दाम्भिक माधो उद्दण्ड !

मित्रता का भरता कवि मूल्य
स्नेह करुणा विद्रवित स्वभाव,
किन्तु गुरु थे निर्मम स्वार्थान्ध,
दुखद था उनका विषम प्रभाव !
बताते जग को शून्य श्मशान,
मनुज को पशु, जड़ शव निष्प्राण,
तीक्ष्ण स्थिर दृप्त दृष्टि से देख
विवश हर लेते कवि का ज्ञान !

चमक गुरु के आँखों की क्रूर
शूल - सी चुभती उर में घोर,
दशा वंशी की थी दयनीय
न रह सकता वह सजग, कठोर !
पूर्व इसके कि सके वह तोड़
धरा - तम की दारुण चट्टान
उसे सहकर उसके युग घात,
आत्म - बल करना था निर्माण !

मूक पशुवत् सह वधिक प्रयोग
हुआ वंशी के मन को चेत,
छिन्न कर भाव जगत् सम्बन्ध,
शक्ति उसने की निज समवेत !
प्रार्थना करता वह दिन - रात
न उस पर पड़े अनिष्ट प्रभाव,
प्रबल था माधो का अभिचार
विफल होता न सहज ही दाँव !

दृष्टि सम्मुख खुल पाटल पद्म
ज्योति का बन जाता नव लोक,
सूक्ष्म शोभा का मांसल स्पर्श
हृदय का हर लेता सब शोक !
शनैः गुरु के प्रभाव से मुक्त
दीप्त होते वंशी के प्राण,
व्यथा - विष - दंश तमस का भूल
फूटता मनोगुहा में गान !

देख वंशी को सजग, सतर्क
पैंतरा बदला गुरु ने गूढ़,
गोष्ठियों में होती जब भेंट
प्राण रथ पर होते आरूढ़ !
शिविर की निन्दा में संलग्न
जनों में करते मृषा प्रचार—
पतित वंशी, चरित्र - बल - हीन
स्त्रियों पर करता वह व्यापार !

कहा कवि ने, वह अहि विष कूट
सूल औषधि,—मैं रोगी, तात!
अतिथि जब थे चिर - निद्रा - मग्न
कर्कशा स्त्री - से जूझ—विपन्न,
किया मूर्ख ने वह विष पान
जगा कवि बन प्रतिभा सम्पन्न!

सुना, उपमा तु कालिदासस्य?
बताते गुरु,—पण्डित थे दीन,
भोज से पाने मुद्रा दान
उन्होंने गढ़े छन्द पद तीन!—
पके जामुन फल सरिता तीर,
तरल जल में फल गिरे अनेक—
देखकर उन्हें न खाते मीन,
क्यों नहीं?—बनी न अन्तिम टेक!

सोचकर बुद्धि गयी जब हार
चैव तुहि'' शब्द जोड़ निःसार
चले वे भोज - सभा की ओर
मिले पथ में कवि गुरु साकार!
सँवारा कालिदास ने छन्द
सहज अन्तिम पद कर निर्माण—
नहीं खाते डर से फल मीन
जाल के गोटक उनको जान!

हुए पण्डितजी बड़े प्रसन्न
सुनाया भोजराज को श्लोक,
तीन पद थे जिसके सामान्य,
अन्त पद सुन,—पण्डित को रोक—
कहा नृप ने,—कवि गुरु को छोड़
अन्य की कला न यह अभिराम—
काव्य रस - सृष्टि, न बुद्धि - विमर्श,
करें बुधवर न शब्द व्यायाम!

कर्ण बलि - से दानी थे भोज
एक कवि आया उनके द्वार,
नृपति को राज - सभा में देख
बह चली नयनों से जल - धार!
कहा राजा ने हो करुणार्द्र
बतायें कविवर अपना क्लेश,
छन्द के सजल पदों में गूँथ
कहा कवि ने अपना सन्देश!

बेचनेवाले की सुन हाँक—
लाज लो लाज!—चौंक अनजान,
न बच्ची माँगे हठ वश ताज
मूँदती पत्नी उसके कान!

साधु द्विज भार्या का अनुरोध
न सकता, श्रीमन्, कोई टाल,
हृदय में बिंधा दैन्य का शूल
आप ही सकते उसे निकाल!

स्तब्ध रह गये श्रवण कर भोज
मूर्त करुणा रस का आख्यान,
कहा, धिक् काव्य रसिक नृप भोज,
रहा न तुझे यथार्थ का ज्ञान!
काव्य में ही करुणा रस श्रेष्ठ
दैन्य - दुख भू जीवन अभिशाप,
व्यथित कवि को दे मणि धन दान
हरा नृप ने उसका सन्ताप!

सुनाते आत्म दर्प के साथ
माघ कवि का वैभव गुण गान—
कर्ण शिवि हरिश्चन्द्र की भाँति
याचकों को जो देते दान!
शनैः स्वाहा कर सब सम्पत्ति
बने वह रिक्त कोष, धन - हीन,
क्षुधा पीड़ित, मन से सन्तुष्ट
कुटी में मरे रोग से क्षीण!

माघ में तीनों गुण थे साथ
अर्थ - गौरव, उपमा, लालित्य,
दुह गया हो प्रतिभा का वत्स
कवि त्रय का अपूर्व साहित्य!
काव्य से भी कवि का व्यक्तित्व
जगत में रखता मूल्य महान्,
इन्द्र थे विभव - भोग में माघ
त्याग में अपर दधीचि समान!

किंवदन्ती कहते गुरु अन्य—
सुकवि भारवि जब कला प्रवीण
किरातार्जुनीय में थे व्यस्त
अर्थ - गौरव भरने में लीन!
भीम - कृष्णा को करने शान्त
युधिष्ठिर उक्ति रहे थे शोध,
हुआ सहसा कवि उर में दीप्त
अर्ध पद—हर सकता जो क्रोध!

शीघ्र कुछ करना बिना विचार
विपद् को देना है आह्वान!—
शान्त कर सकता पद आवेश
सोचकर पुलकित थे कवि - प्राण!
आत्म सुख में थे जब वह मग्न
सुनायी दी तब गिरा गभीर—

क्रुद्ध सुनकर पत्नी के वाक्य,
हो उठा कवि का चित्त अधीर !—
काव्य रचने में तुम संलग्न
भूख से रोते बच्चे चीख,
न घर में बचा अन्न - कण शेष,
चाहते तुम मैं माँगू भीख ?
कहा भारवि ने हो दुख - दग्ध,
रुको, करता मैं अभी प्रयत्न
सेट्ठि के घर बन्धक रख श्लोक
देवि, लाता मुद्रा मणि रत्न !

सेट्ठि चल दिया सिन्धु के पार
खोजने फिर व्यवसाय नवीन,
न लौटा, गये वर्ष पर वर्ष,
हुई नौ जलधि - गर्भ में लीन !
किन्तु सोलह वर्षों के बाद
वणिक् जब लौटा अपने देश,
तल्प पर देखा घर में एक
युवक सोया, रच सैनिक वेश !

सेठ का डूबा जब जल - पोत
बच गया था वह किसी प्रकार,
पुनः संचित कर बहु सम्पत्ति,
मुदित लौटा था वह निज द्वार !
दिया उसने स्त्री को धिक्कार
धर सकी धैर्य न वह कुछ वर्ष,
और मैंने विदेश में घूम
व्यर्थ ही सहा अर्थ - संघर्ष !

युवक पर खींच म्यान से खड्ग
हुआ उद्यत वह करने घात,
भित्ति पर टँगा अर्ध था श्लोक
रुक गयी उस पर दृष्टि हठात् !
'शीघ्र कुछ करना, बिना विचार,
विपद् को देना ध्रुव आह्वान !'—
ठिठक, रुक गया वणिक् का हाथ,
जगा द्रुत उसका आत्मज्ञान !

किया संवरण सेट्ठि ने क्रोध,
दिया सैनिक के मुख पर ध्यान,—
सती पत्नी का आनन देख
लिया अपने सुत को पहचान !
हुआ कुछ ऐसा तब संयोग,
माँगने आया कवि निज श्लोक,
सेठ बोला—कवि गिरा अमूल्य,
हरे वह मर्त्य - लोक का शोक !

कथा प्रचलित—श्री मण्डन मिश्र
बने मीमांसक - वर उम्बेक,
वही पीछे बन कवि भवभूति
कर गये करुणा रस अभिषेक !
किन्तु तब कालिदास, कवि भास
राज - मंचों पर थे आरूढ़,
मान्यता पा न सके भवभूति
राज - रुचि होती भाव विमूढ़ !

किया विद्वद्जन ने भी व्यंग्य
आप दार्शनिक प्रवर आचार्य,
काव्य - सर्जक भी हो रस सिद्ध !
न बुधवर के हित यह अनिवार्य ,
किन्तु उत्तर - कवि हुए न क्षुब्ध
उन्हे निज कृति पर था विश्वास
राज्य - आश्रय से विमुख, विरक्त
गये सीधे जनता के पास !

बना रेती पर जन हित मंच
काष्ठ पटलों बाँसों को जोड़—
चयन कर जनगण से निज पात्र
नागरिक मंचों से ले होड़—
स्वयं निर्देशन कर कुछ काल
करा नौसिखियों को अभ्यास—
उतारा उत्तर चरित—अपूर्व
दिखा निज प्रतिभा, रंग विलास !

हुआ आरम्भ तीसरा दृश्य
मंच पर ज्यों ही भाव ललाम,
देख छाया सीता की मूर्ति
विरह मूर्छा से जागे राम !
आर्त सुन उनका करुण विलाप
हुआ जन - हृदय व्यथा से भग्न,
उठा करुणा जलनिधि में ज्वार
हुए सब लोकोत्तर रस मग्न !

सृजन - श्रम कवि का हुआ कृतार्थ
दर्शकों से सुन जय - जयकार,
निखिल उज्जयिनी - भर में शीघ्र
हुआ शतमुख कवि कीर्ति प्रसार !
यशोवर्मा नृप, कृति पर मुग्ध,
मिले कवि से, ले मणि उपहार,
किन्तु भूपति की पुष्कल भेंट
नही की जन - कवि ने स्वीकार !

सुदृढ़ स्वर में बोले भवभूति—
लोक - कवि जन - मन का सम्राट्,

उसे राज्याश्रय बन्धन तुच्छ
कल्पना उसकी मुक्त विराट्
लोक - रंजन में जो कृतकाम
उसी शिल्पी की कला कृतार्थ,
स्वर्ण पिंजर में सुखी न रंच,
हरित वन में गा पिक चरितार्थ !

प्रकृति से गुरु निर्भय, स्वच्छन्द,
हँसे कुछ सोच, ठहाका मार,—
कहा, कवियों की स्पर्धा ठीक,
भूप कवि स्पर्धा में क्या सार ?
गीत गोविन्द भजन गा लोग
नाचते पुर - पथ में दिन - रात,
वंग नृप उर में जागा द्वेप,
तुच्छ कवि भूपति से विख्यात !

प्राज्ञ पूजे जाते सर्वत्र—
नृपति के मन में उठा विचार—
गीत गोविन्द काव्य रच ग्रन्थ
प्रजा मे उसका किया प्रचार !
न भाते जन को नृप के गीत
किया राजा ने शक्ति प्रयोग,
राज - भय से, रुचि के प्रतिकूल,
नये नीरस पद गाते लोग !

भंग कर राजाज्ञा प्रतिबन्ध
हाथ में ले मुखरित मंजीर,
भक्त जयदेव स्वयं निज छन्द
नित्य गाते, प्रभु भक्ति अधीर !
हुए राजा यह सुन अति क्रुद्ध
कहा, कवि को करने भयभीत,
राज्य अनुशासन को तुम मूल
भ्रष्ट गाते क्यों वर्जित गीत ?

नम्र स्वर में बोला जयदेव,
कौन पद श्रेष्ठ, कौन पद भ्रष्ट—
चलें मन्दिर - प्रांगण में देव
स्वयं प्रभु बतला देंगे स्पष्ट !
चले विस्मित नृप कवि के साथ
भरा था भक्त जनों से पन्थ,
देव - गृह सीढ़ी पर चुपचाप
रख दिये कवि ने दोनों ग्रन्थ !

जगा जगदीश हरे जय नाद
मूर्ति ने झुक, कर मृदु मुसकान,
गीत गोविन्द उठाकर मूल
किया सब भक्त जनों संग गान !

झुका कवि के चरणों पर भूप
भूल द्रुत अपनी कर स्वीकार,—
न उगते राज दर्प से गीत,
हृदय की वे तन्मय झंकार!

मुक्त दुर्जय गुरु का व्यक्तित्व
मोहता युवकों को चुपचाप,
भाव - ग्राही हृदयों पर गूढ़
छोड़ जाता वह निर्मम छाप!
व्यक्ति माधो थे मात्र प्रतीक
ह्रास युग अन्धकार के शूल,
उलट कर अहि - सा, दे विष दश,
जिसे हो जाना था निर्मूल!

प्रबलतम प्राण - शक्ति के पुंज,—
अहं बन जगा ज्ञान का स्पर्श,—
भाव तन्मय वंशी के प्राण,
समर्पण था जीवन आदर्श!
ज्ञात थी उसे असत् की शक्ति,
मार मरना जिसका प्रारब्ध,
सत्य को शनैः बना निज स्थान
जगत् में रहना—कर जय लब्ध!

नये युग का वंशी प्रतिरूप
चेतना का फहरा नव केतु—
पार करता भू - मन का सिन्धु
लोक - मंगल हित रच ऋत सेतु!
जानता, सम्मुख दारुण युद्ध
अड़ा प्रतिरोधी दल दुर्धर्ष,
ज्योति को दे नव जीवन - मूल्य
लीन होगा तम का संघर्ष!

बदलता गत भू - जीवन वृत्त,
अवतरित होता नव चैतन्य,
देखता वंशी अन्तर्वृत्ति,
बाह्य मानव था उसे नगण्य!
ज्योति या अन्धकार के रूप
विविध स्त्री - नर थे शक्ति प्रतीक,
स्वल्प थे नव प्रकाश के साथ,
पीटते अधिक पुरानी लीक!

भिन्न मति बौद्धिक थे युग भ्रान्त,
कलाविद् कुण्ठित, अहमारूढ़,
क्षुब्ध थे क्षुद्र स्वार्थ - अनुरक्त,
सर्व साधारण आत्म - विमूढ़!
धनी शोषक—निष्ठुर, साशंक,
दलित शोषित—सहस्रफन क्रुद्ध,

धर्म - प्रिय ढोंगी, जीवन - भीरु,
विश्व चिन्तन पर अल्प प्रबुद्ध !

रुका था भू - मन का भूकम्प,
स्तब्ध जन ज्वालामुखी प्रचण्ड,
क्षितिज मुख धूमावृत घनघोर,
काल थामे शरभृत् कोदण्ड !
भयानक बाह्य पटी का रूप,
विपर्यय घटता भीतर शान्त,
उदित होता नव चिन्मणि - सूर्य
गहनतम लगता जीवन ध्वान्त !

केन्द्र में देख चेतना नव्य
हो रही जीवन में साकार—
द्वेप - दुख से माधो ने दग्ध,
जीर्ण मूल्यों का कर उद्धार,
सनातन मत का ले दृढ पक्ष
धर्म - वंचित नर को ललकार,
कर्म - विधि का फिर किया प्रचार
मान कर प्रथम धर्म - आचार !

धर्म का अंचल दिग् विस्तीर्ण
समाते जिसमें बहु विधि कर्म—
जगत में विरले ही नर रत्न
जानते धर्म - तत्व का मर्म ! —
बन गये गुरु करुणा अवतार
घूमते पागल पीछे लोग,
कथा नायक बन वह जन - गूढ़
भोगते सभी सुलभ संयोग !

चेतना - विघटन से जब मूढ़
देश होता अनीति - तम ग्रस्त
पंगु निष्क्रिय, निरीह, निरुपाय
मूर्तिवत् पूजे जाते ध्वस्त !
न जिनसे जग को अब भय हानि
उन्हें दे समवेदना उदार,
तुष्ट करते जन सहृदय - वृत्ति
न जीवित को—मृत को दे प्यार !

कोटि मुख से गत युग अवरोध
नव्य प्रतिनिधि युग कवि की प्राप्त
बढाता उसकी अन्तः शक्ति,—
वायु मण्डल में शत दृग् व्याप्त !
एक ही था तम का जड़ तत्व
इधर माधो में स्पर्धा वृत्ति,
उधर जन मन में पुंजीभूत
अहं कुण्ठित कटु ईर्ष्या - भित्ति !

जनों को करते गुरु संकेत
न वंशी को दें सूची - स्थान,
मुक्त बहुजन मुख चर्चित झूठ
स्वयं बन जाती सत्य प्रमाण!
आधुनिक युग की यह अनुभूति
शक्ति ही सत्य, संघ ही प्राण,
अहम्मति झुके न, वह युग बोध,
धृष्टता सही, न छूटे आन!

ठहाका लगा घूमते शिष्य
समझ उच्छृंखलता को शक्ति,
बुद्धि का देते गुरु अभिमान
सत्य के प्रति दे ढीठ विरक्ति!
अस्मिता परिधि, अस्मिता केन्द्र,
अस्मिता से प्रेरित हो ज्ञान,—
सत्य मुख कर लेता आच्छन्न
शुष्क तथ्यों का अनुसन्धान!

सूक्ष्म वंशी था अन्तर्युक्त
मनोगति बहिर्जगत् प्रति रुद्ध,
आत्मस्थित, दिशा ज्ञान से शून्य,
काल के प्रति था गूढ़ प्रबुद्ध!
व्यस्त रखती अन्तर अनुभूति
न दे पाता सब के सँग योग,
द्वेष रखते उससे प्रच्छन्न
हीनता स्पर्धा कुण्ठित लोग!

सतत उस पर कर कटु आक्षेप
क्षुद्र जन पाते क्षण सन्तोष,
अल्प मति बनते रस मर्मज्ञ
गुणों में देख काव्यगत दोष!
नाक के नीचे उसके नित्य
युवक रचते उद्धत षड्यन्त्र,
छोड़ दी थी उसने खल वृत्ति
शठं प्रति शाठ्यं का कठ मन्त्र!

सभी ने छेड़ा जब, असहाय
साँप ने माँगा क्रुद्ध वरदान
मुझे फिर लौटा दें विष दन्त
आत्म - रक्षा के हित भगवान्!
रज्जु - अहि भ्रम से वंशी मुक्त
स्वय देकर भी निज बलिदान
प्रार्थना करता प्रभु से मौन,—
अमृत बन जाये युग विष पान!

राग हो द्वेष - मुक्त—चरितार्थ,
प्रेम ही आदि—घृणा का अन्त,—

तिमिर उसको था ज्योति-अभाव,
भाव ही शाश्वत सत्य, अनन्त!
न द्वन्द्वों में सीमित सापेक्ष,
न जीवन जन्म मृत्यु की होड़,
परात्पर रस, सत् द्वन्द्वातीत,
स्वयं में पूर्ण, न उसका जोड़!

प्रथित जन पर्व मकर संक्रान्ति,
आज गंगा में पुण्य नहान,
गुंजरित सुन्दरपुर जन ग्राम
लोग मिल करते कीर्तन गान!
पथों पर चलती धूसर भीड़
तीर पर मेला लगा महान्—
युवक-युवती गण, वृद्ध किशोर,
महाजन पण्डित, श्रमिक किसान!

पर्व शोभा हित वेश सँवार
स्त्रियाँ गातीं, बजते करताल,
बाँसुरी के सँग ढोल मँजीर—
स्वरों में उर की श्रद्धा ढाल!
सुरँग वस्त्रों में लोक समूह
पुष्प वन-सा चलता हँस झूम,
दिशा कलरव से उठती गूँज,
पथों पर चहल-पहल कल घूम!

बने लघु फूस-टाट के वास
तने बहु खेमे, वेश्म, वितान,
भोगते कल्पवास श्रद्धालु,
न तट पर तिल रखने को स्थान!
साधुओं के बहु-रूप समाज,
अखाड़ों पर फहराते केतु,
ऊँट, हाथी, वृष रथ, अज, अश्व,—
स्वर्ग के लिए धर्म ही सेतु!

पाँव पैदल चल कोसों पार
खिंचे आस्था-बल पर जन-प्राण,
जगत के मलिन पंक से मुक्त
खोजते शान्ति, मुक्ति, कल्याण!
स्वर्ग के प्रहरी पण्ड टूट
लूटते जन का तन-धन-धर्म,
मारता उन्हें अन्ध विश्वास
रूढ़ियों का पहने जड़ वर्म!

भागवत रामायण सप्ताह
मनाते जन, कर जप-तप-ध्यान,
भजन कीर्तन कर, व्रत उपवास,
त्रिसन्ध्या कर गंगा में स्नान!

अथक भाषण देते बहु मंच,
ब्रह्म क्या, माया क्या संसार?
स्वर्ग क्या, पाप पुण्य, अपवर्ग,—
ज्ञान वैराग्य मोक्ष के द्वार!

यातना जन्म - मृत्यु भव - चक्र,
वासना जग - जीवन का पाश,—
त्याग से बना स्वर्ग हित सेतु
विरति से कर तृष्णा का नाश,
ज्ञान से कर्म - बन्ध कर दग्ध
मुक्ति का खोल भक्ति से द्वार
यम नियम, तप संयम से शुद्ध,
जीव होता भव - सागर पार!

साधुओं के थे वर्ग विचित्र,
ब्रह्मचारी दण्डी, संन्यस्त,
कनफटे, गोरखपन्थी, शैव,
अघोरी, मुण्डे, नागे मस्त!
अनगिनत सम्प्रदाय में भक्त
यती योगी, पहुँचे - अवधूत
पूर्ण करते जन मन की साध
फूंक धूनी की सिद्ध भभूत!

भांग - गांजा - मद पी ध्यानस्थ
निम्न बहु प्राण - शक्तियां साध
दिखाते चमत्कार वे गुह्य
लूट जन श्रद्धा - भक्ति अगाध!
बताते मन की गोपन बात
देखकर वन्ध्याओं के हाथ,
सिद्धि फल दे, भर देते गोद—
नवाते जन चरणों पर माथ!

मध्य युग के खँडहर से जाग
यहां आकर जुटता प्रति वर्ष
रूढ़ि - जर्जर जीवन - कंकाल
अन्ध आस्था का भारतवर्ष!
मूक, निष्क्रिय, भव व्याधि विभीत,
विमुख जीवन से, लोक विरक्त,
स्वर्ग परलोकमुखी, विधि ग्रस्त
मुण्डवादों में मूढ़ विभक्त!—

यहां जुट गत शतियों के प्रेत
मुग्ध सुनते मृतकों का नाद,
दिव्य पा संजय की क्षण दृष्टि
स्मरण करते अतीत संवाद!
भूत के पुण्य पंक में डूब
लोक - जीवन का कर बलिदान,

बनाते स्वर्ग मोक्ष सोपान
नरक का कर भू पर आह्वान !
माघ का चिल्लाता खर शीत
अस्थि - पंजर कँपते तरु - गात,
कुहासे - सा छाया भ्रम - धूम
पाप - से झरते पीले पात !
चीरती वन को तुहिन समीर
शिशिर भरती शतमुख सीत्कार,
स्वर्ग के दूत नदी में कूद
पुण्य - सुख से करते किलकार !
राज्य प्रतिनिधि मेले में चारु
व्यवस्था रखते, कुशल प्रबन्ध,
केन्द्र, जन की सुख - सुविधा देख,
बढाता मानवीय सम्बन्ध !
स्वयं - सेवक सेवा में व्यस्त
नम्रता से करते व्यवहार,
शान्ति आश्रम के प्रौढ़ सदस्य
धर्म का करते मुक्त प्रचार !
शिविर के छात्र रात - दिन घूम
स्वास्थ्य शुचिता का रखते ध्यान,
रुग्ण पीड़ित के बन साहाय्य
सान्त्वना करते सहज प्रदान !
समझते जिसकी सम्यक् पात्र
उसी के मन को करते स्पर्श,
सर्व हित, देश - काल अनुकूल,
सामने रखते युग आदर्श !
कलात्मक सँजो सांस्कृतिक पर्व
विविध रच लोक - नृत्य, जन - गीत,
रूढ़ियों का जड़ गुण्ठन खोल
सत्य की झाँकी दिखा पुनीत—
मंच पर प्रस्तुत करते दृश्य
पुराणों से चुन प्रिय आख्यान,
उन्हें गढ़ नवयुग के अनुरूप,
जनों के छूते तन मन प्राण !
स्त्रियों - बच्चों को देख सँभाल
युवतियाँ करती उनमें कार्य,
केन्द्र का था आंगिक आदर्श—
लोक - जीवन के प्रति औदार्य !
देख गत भू - जीवन का वृत्त
नव्य के प्रति बढ़ता विश्वास
चेतना ही का नव उन्मेष
मिटा सकता भू का तम त्रास !

गिरोहों में बँट गुरु के शिष्य
जनों में फैलाते अपवाद,—
(शिविर के संस्कृत छात्रा छात्र
मचाते अप्रिय वाद - विवाद!)
केन्द्र के प्रति कर कुत्सित व्यंग्य
असत्यों का बुनते वे जाल,
सदस्यों पर करते आक्षेप—
कोटि - फन हो कुत्सा - विष व्याल!

उच्च स्वर में कर वे प्रतिवाद
डालते कार्यों में व्यवधान
सांस्कृतिक पर्वों को कर नष्ट
भंग कर दर्शकगण का ध्यान!
तूर्य मुख करते वे उद्घोष
रोकना हमको भ्रष्टाचार,
नास्तिकों को हो क्यों अधिकार
धर्म तीर्थों में करें प्रचार!

जहाँ सद्धर्म अन्ध विश्वास,
सत्य ऋषि वाणी, वेद प्रमाण—
धर्म, ऋषि, वेदों का सुन नाम
भीरु जन - मन होता भय म्लान!
नरक का दिखलाते वे त्रास
धर्म - निन्दक का कर अपमान,
धर्म क्या? जान न पाते लोग
आर्ष वाक्यों को सुन हत ज्ञान!

क्षुब्ध हरि शंकर ने जा साथ
किया गुरु से विनम्र अनुरोध—
धृष्ट शिष्यों को दें आदेश
केन्द्र का करें न व्यर्थ विरोध!
हृदय में हो गुरु ने सन्तुष्ट
दिखाया बाहर झूठा क्रोध,—
अरे, अब शान्त करो दुष्काण्ड—
युवक बन्दर होते निर्बोध!

दृप्त नयनों में झलका स्नेह
कुशल वंशी की पूछ प्रसन्न,—
देख सहसा शंकर की ओर
रहे क्षण - भर गुरु फिर अवसन्न!
कहा, तुम चमगादर - बेजोड़,
परिन्दों - पशुओं की यह होड़—
न जाने तुम हो किसकी ओर?—
ठठा गुरु हँसे—नाक - भौं मोड़!

बुलाया वाग्विलास प्रिय शिष्य
पठाया गुरु ने निज सन्देश—

न दिखलायें मेरे में छाप
केन्द्र कुलों के प्रति आवेश!
जगत् गत् का यदि दृढ़ विधान,
कर्म - पथ अपने यहाँ भोग,
धर्म की होगी निश्चित जीत,
प्यार का कुंचित चाहना का रोग!

सीख आऊँगा मैं उस ओर—
कहा गुरु ने कुछ सोच - विचार—
केन्द्र का आनूँत उद्देश्य
भेंट कर बंदी से इस बार!—
न जाने दूँगा तुम्हें अशांति
बिना आश्रम का लिये प्रसार,
मँगाये गुरु ने फल, मिष्टान्न
खिलाया दोनों को आहार!

केन्द्र को सीख जब हरि ज्ञान
हुआ गंगा को रंग गुर्द,
ध्यान से अंचल दंशित बर्द
मलिन जल में बैठा मुँदे!
अकस्मात् शंकर - उर में मौन
सीखते गुरु - शब्द - दंश की चोट
रंग रहे थे गुरु जीवन बाल्य
सरल मैत्री के तृण की ओट!

महायट से सब दिशि निर्धूम
हुआ मादक - नव ऋतु का भार,
ढाक तर क्षितिज गुला हिम छाप
बाण रोमिल मृदु सौंधी घास!
सुनहले सोमाली - से स्वप्न,
गूँजता स्निग्ध नील मधु छत्र,
हुआ नव आशा का संचार
प्रकृति जीवन में था सर्वत्र!

बिना सूचना एक दिन प्रात
केन्द्र में पहुँचे गुरु चुपचाप,
खुला बंदी का कक्ष तुरन्त
घुस गये भीतर अपने - आप!
साथ में था गुरु का प्रिय शिष्य—
देख बंदी को चिन्तन - मौन,
एक क्षण रुक, बोले स्नेहार्द्र—
जानते नहीं, आ गया कौन?

खोल बंदी ने नैन हठात्
किया गुरु का स्वागत - सत्कार,

खड़े हो, कुशल - प्रश्न हँस पूछ,
बैठने की फिर की मनुहार!
खड़े ही रहे वहाँ गुरु स्तब्ध,
कहा, मुझको जाना तत्काल,
कभी से नहीं हुई थी भेंट
आ गया इससे, समय निकाल!

कहो, कैसे हो? —गत सप्ताह
दिया होगा हरि ने सन्देश,—
तुम्हें मिल जी को मिलती शान्ति
अकेले जूझ, झेलता क्लेश!
दीखते थे गुरु निःस्पृह, सौम्य,
हुआ वंशी का मन आश्वस्त,
कहा गुरु ने, मुझको सन्तोष
केन्द्र में रहते अब तुम व्यस्त!

कभी पूछूँगा पा अवकाश
केन्द्र के जीवन का क्या ध्येय?—
चला अब मैं,—तुम स्नेही मित्र,
वही करना जिसमें हो श्रेय!
बरत फिर, वंशी का कर थाम,
बिदा होने का शिष्टाचार,
किया प्रेरित गुरु ने कवि चित्त
शिष्य को भेंटे इसी प्रकार!

आत्म - विस्मृत कवि ने विधि मूढ़
मिलाया वाग्विलास से हाथ,—
न्याय पर करता था जो शोध
जिसे लाये थे गुरु निज साथ!
साध गुरु ने कुत्सित अभिचार
किया उर में गोपन आघात,
लगा कवि को उसका चैतन्य
ऋक्ष - सा टूट, हुआ भू - सात्!

शिष्य - कर छूते, विद्युद्वेग
धँसा अन्तर में तामस - तीर,
भयंकर अन्धड़ ने झकझोर
मथे बरबस कवि - प्राण अधीर!
लगा वंशी को मूर्छा म्लान
गिरा अब वह भू पर असहाय,
सहारा ले खम्भे का ग्रस्त
खड़ा वह रहा, भग्न निरुपाय!

शिष्य को बना जघन्य निमित्त
किया गुरु ने कवि चेतस् ध्वस्त,
तमस से आवृत हो तत्काल
हुआ प्रतिभा - रवि - मण्डल ग्रस्त!

लगी हो फिर लक्ष्मण को शक्ति
मर्मभिद् विधा मन्त्र का शूल,
एक क्षण कवि को हुआ प्रतीत
ज्योति हो गयी विनष्ट समूल!

ठोंक दी हो लोहे की मेख
मित्र के मर्मस्थल को छेद
शिष्य को कवि चिति के विपरीत
विमोहा गुरु ने,—इसमें भेद!
जिसे करने में जग की लाज
किया उसको अनुगत ने पूर्ण,
मुखर कर स्वर विरोध का तीव्र
उगलता नाभि - कीट अहमूर्ण!

अहम्मद - मूढ न जन को ज्ञात
अहं की परिणति अणु विस्फोट—
अहं - सन्तति ही स्पर्धा - द्वेष
विश्व रण - नद्ध अहं की ओट!
धृष्टता बढ़ी, न पा प्रतिरोध,
जगे कटु स्वर, खर कण्ठ अनेक,
शिष्टता से पहले सिद्धान्त—
द्वेष वश दुहराते मिल भेक!

विजय से दीप्त अग्निमय नेत्र,
बिना बोले लौटे गुरु - शिष्य,
मग्न कवि अन्तस् को निर्वाक्
रौंदता रहा निदारुण दृश्य!
कल्पना का समस्त सौन्दर्य
बुझ गया, बना चित्त तम - कूप,
केंचुए, अजगर, भैंस, वराह
घूमते मन में उठ अपरूप!

पटक कवि वंशी को पाताल
शिखर पर पहुँचे गुरु सोत्कर्ष,
श्रेष्ठतम कृतियों को दे जन्म
विताये कुछ हेमन्त सहर्ष!
गुह्य युग - कवि उर का संघर्ष,
न इसका साक्षी,—बाह्य प्रमाण,—
न दिखता मोहित शर का घाव,
सत्य जी उठता हो बलिदान!

तर्क पंजर गुरु का व्यक्तित्व
भाव सुषमा से भरा पवित्र,
चुरा वंशी की मानस क्रान्ति
खिचाये गुरु ने युग प्रिय चित्र!
दीर्घ नासिका, नयन, भुज, वक्ष,—
मिटा कुण्ठित - हिम - दैन्य तुरन्त,

खिली सूनी पतझर की डाल,
हँस उठा मांसल रंग वसन्त !

मनुज आत्मा के प्रति अक्षम्य
घोर पातक होता,—अन्याय,
खोलता कवि न गुह्य जो भेद,
असत् बनता सत् का पर्याय !
सुकवि कहलाते चिद् निधि चोर,
अविद्याचारी प्रतिभा सिद्ध !
मनुजता का होता अपकार
गरुड़वत् पूजे जाते गिद्ध !

जागते - सोते आठों याम
कसकती उर में पीड़ा मूक,
चित्त रहता विषण्ण उद्भ्रान्त,
चेतना कवि दर्पण सौ टूक !
विषम छाया रहता नैराश्य
न अब हँसते आशा उत्साह,
अस्त हो गया ज्योति का सूर्य,
हृदय अवसाद समुद्र अथाह !

राग भय द्वेष, काम मद क्रोध
देह पंजर को करते दीर्ण,
सिमट - सा गया क्षितिज विस्तीर्ण,
ऐंठ, बन गया हृदय संकीर्ण !
चित्त - पट में चलता अश्रान्त
ज्योति - तम का दारुण संघर्ष,
अनास्था अविश्वास अभिशप्त
बीतते गये वर्ष पर वर्ष !

उचटती भय से निशि मे नींद
लिपट जाते तन से तम व्याल,
चील - कौओं के मँडरा मेघ
टूट पड़ते कवि पर विकराल !
दीखते खीस स्वप्न में काढ़
हड्डियों के भूखे कंकाल
छिपकली - सी लगती निज देह,
चौंक, जग पड़ता वह तत्काल !

अचित् में घुस ज्यों सरमा दिव्य
खोजती निश्चेतन के भेद,
तमस की गुहा - योनि में पैठ
जगा कवि के मन में निर्वेद !
दूर था अब वह हृदय प्रकाश
कभी जिसमें कवि करता वास,—
गुह्य कर ऊपर से संकेत
बुलाता जो फिर कवि को पास !

द्वेष - निर्मम गुरु ने निज मित्र
कूप - तम में था दिया धकेल,
निकल आया वह, भर अध - मूल्य
भाग्य का कहिए इसको खेल!
नाग - नृप - कन्या ने हो मुग्ध
देख कवि को निश्छल सुकुमार
खोल निःसूर्य लोक का द्वार
कर दिया उसे मृत्यु के पार!

देख युग कवि को खण्डित - स्वप्न
द्रवित थे हुए चिन्मयानन्द,
तिमिर - शर लिया मर्म से खींच—
जगा अन्तर में सोया छन्द!
स्फुरित सुरधनु किरणों का चक्र
उगा, नयनों के सम्मुख घूम,
सँवारा जिसने फिर कवि चित्त—
अन्ध - तम को प्रकाश में चूम!

शनैः जड़ तम का कर उपयोग
वस्तु जग का अवगाह्य रूप,
फटक कूड़े - कचरे का ढेर
हुआ स्थिर, मन का विखरा रूप!
जगत था कृषि युग खँडहर मात्र,
मनुज मृत आदर्शों का कीर,
रूढ़ियों के पिंजर में बद्ध
प्राण पंखों से हीन, अधीर!

गुहा में भू की घुस कवि - ज्योति
जगत का पी विषण्ण तम तोम,
बनी युग चिन्तन से गम्भीर
देख जीवन का लोम विलोम!
सोचती, नरक योनि से, अन्ध
मनुज का हो कैसे उद्धार,
धरा पर रच नव जीवन स्वर्ग
मर्त्य उतरे तम - सागर पार!

ज्योति के ऊर्ध्व शृंग से कूद
अचेतन का मथकर तम कूप,
परात्पर के—स्थित - धी से देख,
विश्व में सदसत्मय दो रूप;
जानने को था कवि उत्कण्ठ
विश्व राष्ट्रों के तन्त्र विधान,
लोक - मंगल हित क्या महनीय
भेंट लाया भौतिक विज्ञान!

और यह था सुवर्ण संयोग
निमन्त्रण आया उसके पास,—

जलधि ने उठा लहर के हाथ
किया कवि का स्वागत सोल्लास!
गगन ने खोल शब्द गति पंख
अतिथि को पहुँचाया उस पार,—
हुई लय भू की मरकत कान्ति
नील का छू असीम विस्तार!

सौंप हरि को संस्था का भार
किया जब वंशी ने प्रस्थान
दृगों में थे विस्मय - सुख अश्रु,
मौन अधरों पर मृदु मुसकान!
सोचता, उसका जीवन स्वप्न
मिले भू देशों में साकार,—
एक ही भू - मानव सर्वत्र
एक उसके उर में झंकार!

देख सचराचरमय विधि सृष्टि
देश - राष्ट्रों का नव निर्माण,
विश्व का बहुमुख श्री - सौन्दर्य
हुए पुलकित युग - कवि के प्राण!
धरा जन - जीवन का ऐश्वर्य,
महत् सामाजिक पुनरुत्थान,—
गया कवि अपने सुख - दुख भूल
नये युग का सुन नव आह्वान!

लगा देखने वह भू - संस्कृति स्वप्न
कैसे हो परिणीत ज्ञान विज्ञान,
अन्तः संयोजित हो मानव विश्व
बने न बाह्य विधान लौह व्यवधान!
निखर सूक्ष्म रेखाओं में भू - स्वर्ग
हुआ कल्पना - नयनों में साकार,
हृदय - कमल में उतरी जन - भू प्रीति,
खुला अचेतन में प्रकाश का द्वार!

३. विज्ञान

अगम, भास्वर, रहस्यमय नील,
निरन्तर निःस्वर मुक्त दिगन्त—
पंख फैला निःस्पन्द,—विराट्
से रहा हो ब्रह्माण्ड समन्त!
शून्य मुख का दिग् गुण्ठन खोल
झांकता मन अनन्त के पार,—
चेतने, दो प्रकाश - गति पंख,
यान पर उड़ता तन लघु भार!

कौन यह निराकार, निःसीम,
निरामय पुरुष व्याप्त सर्वत्र?
तारकों के मणि - कण से दीप्त
नील का सिर पर जगमग छत्र!
समीरण जीवित श्वासोच्छ्वास,
सूर्य - शशि जाग्रत अनिमिष नेत्र,
क्षितिज - तट प्रेम बाहु परिरम्भ,
धरा पद पीठ—कर्म - गति क्षेत्र!

व्योम क्या नाद ब्रह्म निर्वाक्
सृजन लय में अजस्र तल्लीन?—
तैरते जिसमें बहु चिद् बिन्दु
महत् आनन्द - सिन्धु के मीन!
ज्योति पिण्डों पर पग धर क्षिप्र
थाहता कौन दिशा का वक्ष?
चेतना का रोमांचित नृत्य
देखता क्या शाश्वत प्रत्यक्ष!

नील अम्बुज क्या अम्बर फुल्ल?
भरा ऊषा का स्वर्ण पराग,—

चन्द्र के रजत-कलश से दीप्त
प्रकृति का या मुक्ताभ तड़ाग ?
तारकों से गुंजित निःशब्द
सुनहला या पुंजित मधु चक्र ?
धूम्र वपु ऐरावत या मत्त
पीत शशि-कला दन्त द्युति वक्र !

साँझ के झरते पीले पात—
शिशिर दिग् वन यह धूसर नग्न,
तारिकाएँ वैभव स्मृति चिह्न
स्वर्ग सुख का हो खँडहर भग्न !
नयन नीरव, विशाल, अनिमेष,—
क्षितिज पक्ष्मिल भ्रू रेख अराल,—
देखता जो सब सृष्टि रहस्य
छिपाये क्षण-कर-पुट में काल !

उठा जब शनैः शब्द गति यान
भंग कर गगन मौन गम्भीर,
सिमटने लगी धरा छायाभ
वक्ष से खिसका क्षौम समीर !
शस्य पुलकित श्रृंगों पर झूल
झलक धात उठे सरित लड़ हार,
घरौंदों-से बच्चों के क्षुद्र
लगे गृह, पथ, वन, नगर प्रसार !

रजत हिम गिरि श्रृंगों को चीर
उड़ा द्रुत विद्युत् गरुत् विमान,
कौडियों के-से क्रीड़ा शैल
दिखे दिक् करतल पर हिमवान् !
तीर पर अन्तरिक्ष के शुभ्र
सीपियों की शोभा के ढेर
सहस्रों सतरँग छायाभास
नील उर में थे रहे बखेर !

क्षितिज-तट पर समेट सित कोष
धूप लेते हों उजले शंख,
उगलती हों या मुक्ता राशि
शुक्तियाँ झाड़ सुनहले पंख !
पवन ने दुह वाष्पों की धेनु
बिलोया हो तुषार-नवनीत
रोम स्मित मेघों की-सी पाँति
हुए नाटे हिम शिखर प्रतीत !

पार कर देश-काल की दृष्टि
जगा विस्मित मानस में चेत,
धरा के ये जो कीर्ति स्तम्भ
मात्र वे सिन्धु फेन दिक् श्वेत !

विगत आदर्शों के शुचि शृंग
हुए हों विधि गति से भूसात्,
प्रसारों पर पहले अलंघ्य
उदित हो नव चैतन्य प्रभात!

क्षीर निधि हिल्लोलित हो स्फीत
नील वपु से शोभित निःशंक,
धरा फैलाये गोरी बाँह
त्रिदिव गौरव को भरने अंक!
स्वर्ग सोया हो सुख-स्मृति-मग्न
शीश धर भू-जघनों पर पीन,
राजहंसों की तिरछी पाँति
क्षितिज में हो शोभा उड्डीन!

झलकते नील वारि सर स्वच्छ
स्वर्ण विगलित नभ मुकुर समान,
सरित बहु ज्योति-रेख-सी सूक्ष्म
खिची गिरि-मस्तक पर अम्लान!
इन्द्रधनु दोलों में गिरि वायु
झुलाती शिशु हिम-मेघ नवीन,—
उच्चता बन समतल विस्तार
हुई दिग् गरिमा में न विहीन!

गहनताओं में निज निःसीम
नीलिमाएँ सोयी निःस्पन्द,
दिशावधि सीमाओं से मुक्त
व्याप्त हो घनीभूत आनन्द!
अपरिचित नीहारों पर उच्च
फहर ध्वज-सा रेशमी समीर
बढ़ाता निर्मलता में मग्न
गगन-उर की गरिमा गम्भीर!

गुहाओं में मेघों की गुह्य
चंचला करतीं हँस अभिसार
खुली वेणी में सुरधनु खोंस
अप्सरी-सी उड-फिर लघु भार!
रंग-लोमश मयूर-सा सूर्य
खोल वाष्पों का बहु उभार
चमत्कृत करता सहसा दृष्टि
नील पर चित्रित-सा साकार!

किरण-तृण चुन-चुन मणि रज दीप्त
इन्द्रधनुओं के रच शत नीड़
कौन जाने, अदृश्य स्वर्दूत
बना नभ को लीला आक्रीड़,—
खेलते आँख-मिचौनी मौन
लपेटे धूपछाँह में अंग,

दृष्टि कर शोभा - विस्मय मुग्ध
ऐन्द्रजालिक भर अगणित रंग!

देख नभ का अवाक् सौन्दर्य
नीलिमा का उन्मुक्त प्रसार
कल्पना का ले प्रिय दिग् - यान
उड़ा कवि अन्तरिक्ष के पार!
दिशा निर्बन्ध, दिशा निर्बाध—
दृष्टि खो - खो जाती अविराम,
लौट आता मन विस्मय मूढ
शून्य का था निगूढ अति धाम!

जुगनुओं - से जगमग उडु कीट
ज्योति के थे बहु भुवन विशाल,
नाच धुरियों पर गति लय बद्ध
दीप्त रखते भूमा का भाल!
नील केवल, अकूल दृग - नील,
निभृत, निस्तल, निःसीम, विराट्—
सौर चक्रों का दिव्य किरीट
धरे था सिर पर दिक् सम्राट्!

ऊष्ण थे कुछ ग्रह, ज्यों बुध, शुक्र,
वाष्प - मेघों से घन आच्छन्न,
शीत लगते हर्षल, गुरु, मन्द,
भौम लोहित—भू से उत्पन्न!
सौरि घिर रजत वृत्त से रम्य
खेलता नौ चाँदों के संग,
लगाये आठ चाँद था जीव,
दुग्ध - पथ था स्मित ज्योति तरंग!

पार कर वायु वलय पथ स्थूल
पान कर सूक्ष्म नभस्वत् श्वास,
हुई दिग् विस्तृत जीवन दृष्टि
हृदय में उमड़ा दिव उल्लास!
अनाहत झरता मंगल नाद
पवन हो विश्व पुरुष की वेणु,
बरसती दुग्ध - धार - सी ज्योति
निखिल ग्रह हों विराट् की धेनु!

मिले ग्रह प्रांगण में पद - चिह्न,
सुनीं कवि ने गोपन पग चाप,
अर्ध गोचर छायाकृति चारु
विचरती नभ - पथ मे चुपचाप!
दिखा ऊपर स्वर्णिम द्यौ - लोक
निर्निमिष अन्तरिक्ष के पार,
प्रभा पंखों पर उड़ स्वर्दूत
स्वप्न वपु करते समुद विहार!

रहा विस्मय स्तम्भित कवि चित्त
कौन यह शक्ति दीप्त सर्वत्र ?
प्राप्त कर जिसका इंगित गूढ़
टँगे - से नभ में ग्रह नक्षत्र—
नाचते स्वर संगति में मुग्ध
अयुत दृग बरसा अमित प्रकाश,
सृजन - नर्तन का क्या उद्देश ?
दशन - स्मित किसका मुख आकाश ?

वियद् - गंगा स्मित जटा कलाप
वंक शशि - लेखा दीपित भाल,
सुहाता व्योमकेश - सा व्योम
लपेटे चितकबरा तम व्याल !
स्वर्ण लट्टू - सी पृथ्वी घूम
शून्य दिक् करतल में अविराम
सँभाले जल का आँचल नील
वेग - निश्चल, लगती अभिराम !

धरा की परिक्रमा कर सात,
भौम से दृढ़ कर भू सम्बन्ध,
शुक्र बुध से मिल हुआ प्रसन्न
प्राप्त कर कवि गुरु - प्रतिभा गन्ध !
गूँजता स्वर्णिम दिव संगीत,
रजत आभा के कँपते तार,
मूर्त हो उठती सहसा सूक्ष्म
अतीन्द्रिय सुषमाएँ सुकुमार !

इन्द्रचापों के अस्फुट रंग
लिपट जाते धर मांसल देह,
खेलतीं लुकाछिपी सोल्लास
अप्सराएँ पा कवि का स्नेह !
विचरते छाया पथ पर मौन
प्रमुद गन्धर्व मिथुन साभार
देखती देवयान से मुग्ध
देव बाला, आँखें कर चार !

देख रवि - शशि का महिमा - कक्ष
उडा कवि आकाशों में अन्य,
सौर जगतों से अगणित दीप्त,
निबिड था घन नीहार अरण्य !
तारकों के असंख्य थे मेघ—
न मिलता महाकाश का पार—
अयुत वर्षों में होती प्राप्त
दृष्टि को जिनकी ज्योतिर्धार !

अपरिमित महा शून्य मे स्तब्ध
सोचता कवि, कैसे नीहार

कोटि शत अधिवर्षों तक घूम
बना ग्रह - उपग्रह स्मित संसार !
कौन वह, जिसने भरा स्व - वेग
ग्रह - कणों का कर पथ निर्देश,
दृष्टि हत महाकाश में खोल
अमित दृग - ताराएँ अनिमेष !

महत् किस आकर्षण से खींच,
संजो किसने अखण्ड ब्रह्माण्ड,
असंख्यों लोकों से कर पूर्ण
भर दिया महा काल का भाण्ड !
परम ज्योतिर्मय का क्या ध्येय ?
वैश्व संगति का क्या उद्देश ?—
विहँसता महा शून्य निःशब्द—
सृष्टि मे निहित स्वतः सन्देश !

रंग छायाओं के अणु वाष्प
छिपाये तारो को सर्वत्र
शून्य में उड़ते—अद्रि सपंख,
झांकते जिनसे शिशु नक्षत्र !
भयंकर धूमकेतु की पूंछ
दीखती फैली कहीं विशाल,
रश्मि गति से स्पन्दित था नील,
सांस लेते हों जग दिक् काल !

अर्ध विरचित तारों के मेघ
दीप्त कर छाया - पथ का छत्र
ग्रहों का धरने को नव रूप
घूमते द्रुत गति हो एकत्र !
कोटि वर्षों तक लघु अणु नाच
बने नक्षत्र, ज्योति - विस्तीर्ण—
किन्तु अरबों अब्दों के बाद,
हो सका नर भू पर अवतीर्ण !

बृहत् थे ज्योति - वाष्प के पुंज
खड़े सर्पिल शिखरों मे भीम,
शून्य हो ग्रह - कण का मधु चक्र
ज्योति रज घन से ढँका असीम !
जन्म लेते शिशु ग्रह नवजात—
अमित, शाश्वत औद्भौम विधान,
कला स्पर्शों से कुशल, अदृश्य
कौन जाने करता निर्माण !

राशि ग्रह - उपग्रह उडु - नक्षत्र
शून्य में करते मौनालाप—
रचा हो महा शक्ति ने चारु
मोतियों से कच - नील कलाप !

टूटते तारे ज्योति - किरीट
खिसकते हों स्तन - मुक्ता हार,
व्याप्त थी महा व्योम में दिव्य
उपस्थिति निराकार साकार!

गहनताओं में खोयी सान्द्र
गहनताएँ जग उठतीं मौन—
डूब कवि अन्तर में निर्वाक्—
पूछती,—अमृत्त पुरुष वह कौन?
ज्वलित ग्रह - नक्षत्रों को भेंट,
चन्द्र प्रांगण में रुक कुछ काल,
सोचने लगा विराट् विमूढ
स्तब्ध कवि मन को शनैः सँभाल!

साहसिक निश्चय युग - नर कार्य
नाप कर अन्तरिक्ष विस्तार
खोजता वह ब्रह्माण्ड रहस्य
अगम उच्छ्रायों मे खो भार!
किन्तु, जन - भू जीवन को आज
चतुर्दिक् घेरे संकट घोर,
कौन जाने, यह भीषण रात्रि
नहीं आने दे नव युग भोर!

लाभ क्या वहिर्शून्य में घूम
पुनः बन युग त्रिशंकु, सम्पाति,
रिक्त करतल - सा फैला देश
श्वेत चींटों - सी उडुगण पाँति!
धरा के प्रति अपना दायित्व
निभा क्या चुका मनुष्य समग्र?
ग्रहों पर जो अब मर्त्य प्रमुत्व
प्रतिष्ठित करने को वह व्यग्र!

शलभ की या यह मृत्यु उड़ान?
प्रलयकर रच बहु प्रक्षेपास्त्र
सान पर चढा रहा, गढ़ मर्त्य
आणविक युग का सैनिक शास्त्र!
घृणा स्पर्धा हिंसा के बीज
ज्योति पिण्डों में बोने हेतु
भीम फैलाये काले पंख
लीलने युग - रवि को नर - केतु!!

जगा उसके स्मृति - पट पर मौन
स्वर्ण भारत का युग प्राचीन,
रहे द्रष्टा ऋषि - मुनि जब गुह्य
मनोनभ अन्वेषण में लीन!
भेद अन्तर्मानस का नील
ध्यान का निर्मित कर दिवयान,

प्राण - पथ से रोहण कर ऊर्ध्व
दे गये शुभ्र समाधित ज्ञान !

अचल, तद्गत, ऊर्ध्वग हृत् - श्वास,
प्राण के चढ़ मरकत सोपान,
पार कर मन के रजत प्रसार
अरुण अधिमन आभा कर पान;
मेरु का चूम सुनहला भाल
दिव्य वैभव से ओत - प्रोत
शान्ति सौन्दर्य प्रीति आनन्द
खोज लाये—प्रकाश के स्रोत !

चेतना के सित स्वर्णिम श्रृंग
लाँघ, धर तन्मय हो ध्रुव ध्यान,
एक अणु में अखण्ड ब्रह्माण्ड
देखकर विस्मय हुआ महान् !
दीप्त तारापथ - से उन्मुक्त
प्रेरणाप्रभ थे सूक्ष्माकाश,—
विश्व अन्तर्विधान था दिव्य,
हिरण्यात्मा था स्वयं प्रकाश !

एक स्वर घोषित कर सोन्मेष
मनुज आत्मा का सित अमरत्व,
बता आदित्य वर्ण, कूटस्थ,
तमस से परे सत्य का तत्व,—
मृत्यु भय विजित, अहम्मति मूढ़
मनुज को दे असीम का स्पर्श
लुटाया दैन्य दुःख से दग्ध
धरा पर शाश्वत क्षण का हर्ष !

प्राण - मन की अतिक्रम कर श्रेणि
देख अक्षय सूर्यों का सूर्य
मृत्यु तम पर अमृतत्व - प्रकाश—
विजय का फूँक अभय स्वर तूर्य !
जगत जिसके विकास का क्षेत्र
स्वभू जो, शुद्ध, स्व - बुद्ध, अनन्य,
एक वह, बहु भूतों में व्याप्त
सच्चिदानन्द रूप चैतन्य !—

प्राप्त कर गूढ़ सृष्टि का लक्ष्य
विश्व आत्मा का दिव्य स्वरूप
प्रेम प्रज्ञाऽमृत से कर पूर्ण
जीव मानस का तामस कूप,—
महत्तर स्वर संगति में बाँध
मनुज जीवन का सांगिक ध्येय,
बसाना चाहा जीवन स्वर्ग
गूँथ नित आत्म - प्रेम भव - श्रेय !

चेतना की वह अक्षय ज्योति
कर सकी भू पथ नहीं प्रशस्त,
हिंस्र बर्बर अब भी नर जन्तु,—
पुनः होने को युग रवि अस्त !
युद्ध तत्पर जन-भू के राष्ट्र,
भूलता जाता नर निज दाय,
सृजन की शक्ति भूत विज्ञान
ध्वंस का बन न जाय पर्याय !

तरुण भारत भी अब हतबुद्धि—
सूझता उसे न पन्थ प्रकाश,
पुनर्जागरण नहीं पर्याप्त,
न उससे सम्भव प्रगति, विकास !
ज्ञान-विज्ञान अर्ध युग-सत्य,
समन्वित बन सकते वे पूर्ण,
पृथक् रह उगल रहे वे व्यर्थ
नाभि से भाव वस्तुमय ऊर्ण !

ज्ञान आत्मा, विज्ञान शरीर
अर्थ वाणी से सतत अभिन्न,
अन्ध विज्ञान, ज्ञान चिर पंगु
रहे जग मे यदि वे विच्छिन्न !
हुआ कवि-मन चिन्तन गम्भीर
विश्व स्थिति पर कर मौन विमर्श,
यान जब उतरा,—उमड़ा हर्ष,
सभ्य पश्चिम भू का पा स्पर्श !

गौर देशों में विस्तृत घूम
हुआ संवर्धित कवि का ज्ञान,
जगत-जीवन हो मधु रस छन्न—
कर्म-गुंजित थे जन-मन-प्राण !
व्योम-चुम्बी बहु उन्नत हर्म्य
इन्द्रपुर-स्पर्धी नगर विशाल,
विपुल वैभव संचय पर मुग्ध
विजित, स्तम्भित-सा लगता काल !

स्वच्छ-स्मित हाट-बाट, उद्यान,
भव्य रस भोज भवन, जन वास,
विपुल जीवन-उपकरणों बीच
मर्त्य-सुख करता विविध विलास !
यन्त्र-युग को दे भू पर जन्म
साहसी जन ने अथक प्रयास
एक दिन कर औद्योगिक क्रान्ति
सभ्यता का ध्रुव किया विकास !

जगत को दे भौतिक विज्ञान
नित्य कर अद्भुत अनुसन्धान

वृद्ध जगती का रूप सँवार
उसे दे नव शोभा परिधान,—
वाष्प विद्युत् से ले जव - शक्ति
किया जन ने जीवन निर्माण
भाग्य भय से भू - मन कर मुक्त
आधुनिकता का दे वरदान !

परिस्थितियों की सीमा लाँघ
निकट आये पृथ्वी के छोर,
खोलकर देश - काल के पाश
देखता युग - नर चारों ओर !
जाति - वर्णों में विविध विभक्त
जूझते मन में बहुश्रुत लोग—
एक मानवता निःसन्देह
पृथक् रहना दिशि - क्षण संयोग !

राजनीतिक, सामाजिक क्रान्ति
घटीं बहु,—राज्य तन्त्र कर अन्त,
छँटा निष्क्रिय सामन्ती धुन्ध
खुला मानस में नया दिगन्त !
मिटा जीवन का जीर्ण विषाद,
किया नव युग ने स्वर्ण प्रवेश,
रुपहले बने लोक सम्बन्ध
प्रजातान्त्रिक अब भू के देश !

जगत को दे वैज्ञानिक दृष्टि
मनुज को नव यथार्थ का बोध,
वस्तु - विश्लेषण कर दृग - सूक्ष्म
तोड़ प्राकृतिक लौह अवरोध—
भौतिकी के कर रहस प्रयोग
रसायन सम्बन्धी नव शोध,
पराजित किया शनैः दुर्जेय
भूत तत्वों का अन्ध विरोध !

उखाड़े बौद्धिकता ने खोद
मध्य युग के अन्धे विश्वास,
प्रकृति मुख से जड़ गुण्ठन खोल
समाया उर में - नव उल्लास !
बढा नव खोजों से अनिवार्य
वास्तविकता के प्रति अनुराग,
जगा प्राणों में नव ऐश्वर्य
नये सौन्दर्य - बोध की आग !

दृगों में था नव युग उन्मेष
मथा सागर का वक्ष गभीर,
अनावृत किये छिपे भू - अंग
वारि का फेनिल - अंचल चीर !

वनस्पति जग, जीवों के लोक
सूक्ष्म अनुवीक्षण दृग से छान
परखकर मनोभुवन के भेद
शिखर पर पहुँचा मानव-ज्ञान!

हुए विकसित उत्पादन-यन्त्र
बने हत उपनिवेश भू-देश,
बढ़ी अनगढ़ द्रव्यों की भूख
अर्थ-स्वार्थों ने किया प्रवेश!
सुखद साम्राज्यवाद के स्वप्न
देखने लगे नवोदित राष्ट्र,
धधक फैली स्पर्धा की वह्नि
खपे भू-जन बन ईंधन-काष्ठ!

मंच पर उतरा पूँजीवाद
विजित कर वह निरीह भू-भाग,
लोक-श्रम का शोषण कर रक्त
लूट जन-भू का स्वर्ण सुहाग!
साथ लाया अधिनायकवाद
विश्व-युद्धों की भड़का आग,—
ह्रास-विघटन के शत फन खोल
बना युग-प्रहरी मणिधर नाग!

प्रेरणा के छू नव रस-स्रोत
दिया युग ने निरुपम साहित्य,
शिल्प ने नव सौन्दर्य निखार
किया जन-भाव-बोध कृतकृत्य!
कला ने रुचि का स्वर्ग सँवार
बढ़ायी सृजनशील उर वृत्ति,
चेतना का उभार ऐश्वर्य
छिन्न कर जीर्ण भावना भित्ति!

जगी युग-नारी बन्धन-मुक्त
पुरुष के बैठ समुद समकक्ष,
नव्य सत्वों से गौरव युक्त
हुआ आदृत शोभा का वक्ष!
यौन जीवन पर विकसित दृष्टि
पडी, बदले सीमित संस्कार,
देह का स्वर्णिम पिंजर खोल
हुई मानसी स्नेह-साकार!

खोज संजीवन, रुज् कीटाणु,
समुन्नत बना चिकित्सा शास्त्र,
शल्य पद्धति का हुआ विकास
युद्ध ने दिये नये ब्रह्मास्त्र!
सौर मण्डल का गाह रहस्य
हुआ ज्योतिष्मत् गणित दिगन्त,

मनो विश्लेपण कर, अति गुह्य
दिखा निश्चेतन भुवन अनन्त !

जैव उद्भिद शास्त्रों ने गूढ़
चराचर जग के खोले द्वार,
डारविन का विकास सिद्धान्त
बना युग चिन्तन का आधार !
मार्क्स ने क्रान्ति दृष्टि दे तीक्ष्ण
पलट डाला जन का संसार,
विविध विज्ञानों ने ले जन्म
बोध का किया क्षितिज विस्तार !

रेडियो से विद्युत् ध्वनि ऊर्मि
विश्व-मन करती मुक्त प्रसार,
दूर दर्शन दिग् अन्तर लाँघ
रूप करता परोक्ष साकार !
निखिल विकिरण से विरचित सृष्टि
दे रहा जड़ विज्ञान प्रमाण,
प्रयोगों से सम्भव अब नव्य
वनस्पति पशु जग का निर्माण !

ज्ञान सम्पद् संचय यह बाह्य
रिक्त मृत तथ्यों का जड़ ढेर,
सत्य दीपित हो अन्तश्चित्त
अभी युग संयोजन मे देर !
दर्प पर्वत, बाहर से सभ्य,
मनुज भीतर से आदिम खर्व,
आज भी वह दिन दारुण दूर
एक हो भू मानवता सर्व !

यान पर उड़ती नभ मे देह
रेंगता मन भू-तम में लग्न,
पंक का तुच्छ घिनौना कीट
पंक ही में रहता सुख मग्न !
शक्ति-लिप्सा मानव की अन्ध
विकट अणु अस्त्रों का धर रूप
सभ्यता के विकास को आज
बना दे नहीं ध्वंस स्मृति स्तूप !

किन्तु, कवि-मन में ध्रुव विश्वास,
हृदय में आस्था अटल अगाध,
प्रकृति की सृजन-शक्ति विज्ञान
करेगा सिद्ध गूढ़ विधि साध !
मनुज में हो चरितार्थ विकास
सृष्टि मे अन्तर्हित सित ध्येय,
भले हो दुर्धर भू-संघर्ष,
मनुज आत्मा दुर्धर्ष, अजेय !

चल रहा युग परिवर्तन चक्र
लुढ़कते सिंहासन, मणि - छत्र,
टूटती हो तारों की पाँति
ढह रहे आदर्शों के सत्र !
दौड़ता जन - मन में भूकम्प,
छिड़ा युग - मूल्यों में संघर्ष
निखरते नव आचार - विचार
चेतना का पा पावक स्पर्श !

एशिया, अफ्रीका भू - खण्ड
जूझ होते जाते स्वाधीन,
जनों का वज्र - मुष्टि संकल्प
निरंकुश अब न सकेगा छीन !
धुल सकें मानवता के पाप
रक्त में करती धरती स्नान,
उगलता काल अग्नि - मुख ज्वाल
स्वर्ण - से तप, दमकें जन - प्राण !

धरा के ओर - छोर हों दीप्त
युगों का मिटे विषण्ण विषाद,
दैन्य जर्जर हों धाम प्रसन्न,
शक्ति युग का पा विभव प्रसाद !
असुन्दरता हो भू से लुप्त
दलित दमितों का अभ्युत्थान,
विषमताएँ हों जग की दूर,
लोक समता प्रतिनिधि विज्ञान !

जगत में उथल - पुथल हो बाह्य,
महत्, पर, युग की अन्तःसिद्धि,
शक्ति - सक्रिय भौतिक जड़ तत्व
बढ़ाता जग की अतुल समृद्धि !
ज्ञान की खुलीं वीथियाँ दीप्त,
विश्व के प्रति बदली जन - दृष्टि,
मुक्त नभचारी भूचर आज
खोजता दिग् अंचल में सृष्टि !

बदल सब गये चतुर्दिक् पार्श्व,
सिमट अब गया काल सँग देश,
समापन प्रस्तर - युग के चिह्न,
तड़ित् युग करता रजत प्रवेश !
युगों में लेती जन्म अनेक
एक पीढ़ी—पा नव उन्मेष,
चिरन्तन था जो युग पट बाह्य
वाष्प घन - सा उड़ता निःशेष !

बदलते सामाजिक सम्बन्ध,
बदलते गत आस्था विश्वास,

नये मूल्यों के स्वर्ण प्ररोह
फूटते मानस में सोल्लास!
मनुज के प्रति, जग के प्रति जीर्ण
बदलते दृष्टिकोण प्राचीन,—
अन्ध भू-मन कोनों का दैन्य
दीप्त करती युग-किरण नवीन!

विगत स्थितियाँ जिनकी आधार,
वृद्ध जग के नैतिक आदर्श
लड़खड़ा उठते हृतप्रभ, भग्न,
रभस युग गति का पाकर स्पर्श!
नहीं स्थायी बहिरन्तर बोध,—
नव्य मूल्यों को दे आकार,
ऊर्ध्व युग मानव को ले जन्म,
धरा को देना नव संस्कार!

नित्य गतिमय-जग क्षण तृण नीड़,—
मनुज पाकर वैज्ञानिक दृष्टि
मिटा बहिरन्तर के व्यवधान
स्वर्ग की कर सकता नव सृष्टि!
प्रतीक्षित भौतिक जैविक क्रान्ति
बदल देंगी भू - जीवन रूप,
उसे ठहरा अनन्त तारुण्य
बनेगा नन्दन नव भव-कूप!

धूलि से भर-भर अपनी मूठ
सोचता युग कवि हर्षित प्राण—
इसी रज में सोया चैतन्य
जगाता जिसको जड़ विज्ञान!
और भी चिति के बहु सित रूप
प्राण-मन भुवनों में जो व्यक्त,
परात्पर, चिति की चिति परमोच्च,
स्वयं स्थित, व्यक्ताव्यक्त, अभक्त!

इधर कुछ ही दशकों में विश्व
सहस्रों वर्ष कर चुका पार,
और कुछ दशकों में विज्ञान
स्वर्ण युग को कर दे साकार!
महत् रचनात्मक अणु की क्रान्ति
बदल देगी मानव-संसार,
जनों को देगा अभिनव सिद्धि,
विद्युदणु का अद्भुत व्यापार!

असंगति पीड़ित थे भू-देश,
विषमताएँ थीं, विकृति, विरोध,
न उन पर था वंशी का ध्यान,
उसे थी नव जीवन की शोध!

चल रहा युग परिवर्तन चक्र
लुढ़कते सिंहासन, मणि - छत्र,
टूटती हो तारों की पाँति
ढह रहे आदर्शों के सत्र !
दौड़ता जन - मन में भूकम्प,
छिड़ा युग - मूल्यों में संघर्ष
निखरते नव आचार - विचार
चेतना का पा पावक स्पर्श !

एशिया, अफ्रीका भू - खण्ड
जूझ होते जाते स्वाधीन,
जनों का वज्र - मुष्टि संकल्प
निरंकुश अब न सकेगा छीन !
धुल सकें मानवता के पाप
रक्त में करती धरती स्नान,
उगलता काल अग्नि - मुख ज्वाल
स्वर्ण - से तप, दमकें जन - प्राण !

धरा के ओर - छोर हों दीप्त
युगों का मिटे विपण्ण विषाद,
दैन्य जर्जर हों धाम प्रसन्न,
शक्ति युग का पा विभव प्रसाद !
असुन्दरता हो भू से लुप्त
दलित दमितों का अभ्युत्थान,
विषमताएँ हों जग की दूर,
लोक समता प्रतिनिधि विज्ञान !

जगत में उथल - पुथल हो बाह्य,
महत्, पर, युग की अन्त:सिद्धि,
शक्ति - सक्रिय भौतिक जड़ तत्व
बढ़ाता जग की अतुल समृद्धि !
ज्ञान की खुलीं वीथियाँ दीप्त,
विश्व के प्रति बदली जन - दृष्टि,
मुक्त नभचारी भूचर आज
खोजता दिग् अंचल में सृष्टि !

बदल सब गये चतुर्दिक् पार्श्व,
सिमट अब गया काल सँग देश,
समापन प्रस्तर - युग के चिह्न,
तड़ित् युग करता रजत प्रवेश !
युगों में लेती जन्म अनेक
एक पीढ़ी—पा नव उन्मेष,
चिरन्तन था जो युग पट बाह्य
वाष्प घन - सा उड़ता नि:शेष !

बदलते सामाजिक सम्बन्ध,
बदलते गत आस्था विश्वास,

नये मूल्यों के स्वर्ण प्ररोह
फूटते मानस में सोल्लास !
मनुज के प्रति, जग के प्रति जीर्ण
बदलते दृष्टिकोण प्राचीन,—
अन्ध भू - मन कोनों का दैन्य
दीप्त करती युग - किरण नवीन !

विगत स्थितियाँ जिनकी आधार,
वृद्ध जग के नैतिक आदर्श
लड़खड़ा उठते हतप्रभ, मग्न,
रभस युग गति का पाकर स्पर्श !
नहीं स्थायी बहिरन्तर बोध,—
नव्य मूल्यों को दे आकार,
ऊर्ध्व युग मानव को ने जन्म,
धरा को देना नव संस्कार !

नित्य गतिमय - जग क्षण तृण नीड़,—
मनुज पाकर वैज्ञानिक दृष्टि
मिटा बहिरन्तर के व्यवधान
स्वर्ग की कर सकता नव सृष्टि !
प्रतीक्षित भौतिक जैविक क्रान्ति
बदल देंगी भू - जीवन रूप,
उसे ठहरा अनन्त तारुण्य
बनेगा नन्दन नव भव - कूप !

धूलि से भर - भर झरती मूठ
सोचता युग कवि [illegible] प्राण—
इसी रज में सोया चैतन्य
जगाता जिसको सद् विज्ञान !
और भी चिति के बहु [illegible] स्तर
प्राण - मन स्तरों में जो व्याप्त,
परात्पर, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
स्वयं [illegible], [illegible], [illegible] !

इधर कुछ ही दशकों में विश्व
सहस्रों वर्ष कर चुका पार,
और कुछ दशकों में विज्ञान
स्वर्ण युग को कर दे साकार !
महत् रचनात्मक अणु की शक्ति
बदल देगी मानव - संसार,
जनों को देगा अभिनव सिद्धि,
विद्युदणु का अद्भुत व्यापार !

चाहता यह, भौतिक - विज्ञान
बन सके जन - भू हित वरदान,—
मनुज था भीतर बर्बर हिंस्र,
भूत जीवी,—दुष्कर था त्राण !

बदल द्रुत रहा बहिर्गत विश्व
न गत भू - मन करता स्वीकार,
सत्य के प्रति नर आँखें मूँद
कर रहा निज पर अत्याचार !
प्राप्त कर सृजन मुक्ति, नव शक्ति,
न बदलें यदि हम जीर्ण विचार
रहेगा वर्तमान गति रुद्ध,
मचेगा भावी हाहाकार !

शक्ति साधन अर्जित कर नव्य
पाप यह, रहें पुरातन ध्येय,
बदलना मानवता को आज
इसी में भू - जीवन का श्रेय !
राजनीतिक स्वार्थों से मुक्त,
घृणित आर्थिक स्पर्धाएँ त्याग,
जाति - वर्णों के बन्धन खोल
निकट आयें खण्डित भू - भाग !

पाँव पैदल भू पर अभिसार ?
जीर्ण हो चुके वायु - जल - यान,
रश्मि - पंखों उड़ते दिग् अश्व
सफल नर अन्तरिक्ष अभियान !
ज्योति भुवनों में सम्भव आज
मनुज - संस्कृति का मुखर प्रचार,
भले ही न हो मर्त्य को ज्ञात
अमृत - घट संस्कृति का क्या सार !

सिन्धु नभ से ले विद्युत् - पख—
अपरिमित हरित नील जव - शक्ति,
बसायेगा नर भू पर स्वर्ग
धरा - जीवन प्रति दे अनुरक्ति !
झुला पलनों में श्यामल मेघ
सुलभ कर कृषि हित कृत्रिम वृष्टि,
बना मरुस्थल को उर्वर भूमि
सँवारेगा निसर्ग की सृष्टि !

भले ही तड़ित् वेग, अणु शक्ति
कर सकें बहिर्जगत निर्माण,
सोचता प्रेम, कौन - सी शक्ति
करेगी मानव का कल्याण !
बाह्य निशि को विद्युत् आलोक
प्रकाशित करे भले अनिमेष,

हृदय के अन्धकार का भार
करेगी कौन ज्योति निःशेष ?
देह - मन के जीवन का स्वर्ग ?
रहेगा मानव - स्वप्न अपूर्ण,—
उसे अवचेतन का आवेग
पूर्ण भी हो—कर देगा चूर्ण !
न हो जब तक आत्मिक अवलम्ब
मृत्यु का तल्प बाह्य संसार,
खोजना मानव को अमरत्व
वही उसकी आत्मा का सार !
आन्तरिक ही रे शान्ति समग्र—
अधूरे, निष्फल बाह्य प्रयास,
प्रीति आनन्द ज्योति के स्रोत—
हृदय अतलों में उनका वास !
बाह्य संयोजन निःसन्देह
मनुज को देगा सौख्य समृद्धि,
पूर्णता का स्वभाव सित ऊर्ध्व,
विकृति - भंगुर समतल अभिवृद्धि !
मनुज - आत्मा ही वह सित शक्ति
पूर्ण गढ सकती नव संसार,
सांस्कृतिक ऐश्वर्यों का स्वर्ग,
शान्ति शोभा प्रकाश का द्वार !
बनाये जो भौतिक विज्ञान
जगत को आत्म - ज्योति की पीठ
धरा पर विचरे स्वर्गिक शान्ति
लगे मन को न अन्ध तम दीठ !
स्थूल भौतिकता का आधिक्य
विपद् भय का सूचक अविवाद,
छा रहा मानव - जग में गूढ
मनोवैज्ञानिक जड़ अवसाद !
गलित दाव से अपने को बांध
प्रगति के पीछे पागल देश,
शान्ति के अपने - अपने अर्थ,—
सोच वंशी को होता क्लेश !
नव्य क्षमताओं का क्या अर्थ
मिटे जो नहीं लोक - दुख - दैन्य ?
लोह पद स्वार्थों में उन्मत्त
धरा - उर कुचलें बढ़ती सैन्य !
स्नायविक विक्षेपों की लक्ष्य
सभ्यता भू की रुग्ण, विकीर्ण,
शीत युद्धों से जन - मन त्रस्त
हो रहा संस्कृति - हृदय विदीर्ण !

क्रान्ति का होता मन में जन्म—
विजित हो रहा शक्ति - मद - मोह,
रुद्ध युग - मन में उठता ज्वार
दलित जन में भीषण विद्रोह !
न हम यदि बदलेंगे इतिहास
हमें बदलेगा बढ़ इतिहास,
शक्ति का भू - वितरण अनिवार्य
राशि गुण की सम - वृद्धि विकास !

बाह्य विस्फोट, युद्ध, जन - क्रान्ति,
मानसिक सामाजिक संघर्ष
गूढ़ अन्तर्विकास के चिह्न,—
बदलता अब ब्रह्मा का वर्ष !
ज्ञान के शत दृग खोल गवाक्ष
छोड़ जीवन का विगत अरण्य
जीर्ण भू - मन की केंचुल त्याग
प्रगति - पथ पर समग्र चैतन्य !

राजनीतिक - आर्थिक उत्थान
न केवल मानवता का ध्येय,
पूर्ण हो भौतिक बाह्य विधान,—
चेतनात्मक आन्तरिक विधेय !
युगों को अतिक्रम कर युग शीघ्र
देश का वदल देश - परिवेश,
दे रहे मानव को दिक् - काल
आत्मस्थित रहने का सन्देश !

विपुल वैज्ञानिक आविष्कार
दार्शनिक सामाजिक सिद्धान्त
समन्वय के सांस्कृतिक प्रयत्न
मिटा सकते न जगत का ध्वान्त !
दौड़ता चेतन में भूकम्प
उमड़ता अवचेतन में ज्वार,
प्रथम बदले भीतरी मनुष्य
बाहरी बदले तब संसार !

प्रतीक्षा करता विश्व विकास,—
घोर युग के सम्मुख संघर्ष,
परिस्थिति इधर, उधर सित मूल्य
उलझते युग - यथार्थ आदर्श !
व्यक्ति नर इधर, उधर जड़ तन्त्र—
बृहत् सामूहिक युग संकल्प,
उभय शिविरों में शक्ति विभक्त
ध्वंस का बन न जाय जग तल्प !

जीव ही प्रकृत प्रकृति का पुत्र
व्यक्ति इतिहास - पुरुष - सन्तान,

समूहीकरण नवीन अपेक्ष्य
जन्म ले व्यक्ति नवल गुणवान !
विश्व - सामाजिकता का केन्द्र !
ऊर्ध्व मानव हो भू - अवतीर्ण,
अहं हो विगत युगों का लीन
परिधि अन्तर की दिग् विस्तीर्ण !

विकट युग - भू मानस में भ्रान्ति
उभड़ते अग्निमुखी आवेश,
स्नायु भय संशय से धूमान्ध
सुलग सब रहे धरा के देश !
चाहिए युग को अन्तर्दृष्टि
धैर्य, सहृदयता, साहस, त्याग,
मनुज के चेतन उच्च प्रयत्न
बुझा सकते विनाश की आग !

व्यक्ति कर सके समग्र विकास
चाहिए सामूहिक आधार,
मूर्त हो जीवन में आदर्श
परिस्थिति का करना संस्कार !
विरोधी यदि आदर्श यथार्थ
व्यर्थ दोनों तब—अशुभ, अपूर्ण,
उभय को विकसित होना आज
मध्य अवरोधों को कर चूर्ण !

देखता क्रान्त दृष्टि कवि स्पष्ट
बहिर्मुख लुप्त मनुज का ध्यान,
वस्तु वैभव से जीवन पूर्ण,
शून्य आन्तरिक गुणों से प्राण !
चेतनात्मक संकट दुर्जेय
घिर रहा मानव जग में घोर,
अन्ध बढ़ वस्तु तिमिर का सिन्धु
लील जाये न कहीं युग भोर !

खोलकर निर्मम भौतिक ग्रन्थि
मुक्ति देता जड़ को विज्ञान,
और जड़ निज रहस्यमय शक्ति
मनुज को करता मुक्त प्रदान !
शक्ति मद - अन्ध, ज्ञान ही पंगु,
ज्ञान से ले चिद् दृष्टि महान्
मनुज कर युग - मन का संस्कार,
करे नव भू - जीवन निर्माण !

प्रणत कवि मन करता आह्वान
चेतना का हो पुनरुत्थान,
ध्वंस कर भू पर अखिल असत्य
करे नव युग रचना विज्ञान !

[illegible]

रूढ़ि - गत तर्कों से हो मुक्त
समन्वित हो जन - भू का ज्ञान—
सत्य,—विज्ञानों का विज्ञान,
मनुज जग को दे नव वरदान !

बन रहा अब नव भव इतिहास,
बज रहा वैज्ञानिक युग - तूर्य,
मनुज अन्तर्मन का तम भेद
प्रकट क्या हुआ सत्य का सूर्य ?
चेतना - स्वर्णिम कवि - आलोक
जगत जीवन विकास हित काम्य
पूर्ण संयोजित जिसमें सत्य—
भीतरी ऐक्य, बाहरी साम्य !

महत् संकल्प बनाये मार्ग,
विजय पाये विकास पर क्रान्ति,
सफल हो मानव जीवन ध्येय
सृजन अनुकूल संगठित शान्ति !
लौह स्थितियों के शृंखल खोल
प्रकट हो मुक्त ऊर्ध्व चैतन्य,
विगत युग कपि से ले फिर जन्म
विश्व मानव—जन भू हो धन्य !

सुलभ मानव को उन्नत मूल्य,
शक्ति साधन उपलब्ध अपार,
नहीं क्यों मानव - जीवन स्वर्ग
धरा पर होता फिर साकार ?
सोचता कवि, निश्चय ही राग
चेतना भू - पथ की अवरोध,
मुक्त हो भाव - जगत की शक्ति
मनुज को दे नव जीवन - बोध !

कुरेदा जिज्ञासावश गूढ़
सभ्य गोरी का कवि ने मर्म,
वही सामन्ती स्त्री थी खर्व
रिक्त था हृदय, सँवारा चर्म !
प्रेम का अर्थ द्वन्द्वमय प्रेम,
चेतना ?—मूर्तिमती थी देह,
भाव से अधिक त्वचा का मूल्य,
रूप छवि शिखा—न उर में स्नेह !

छोड बर्बर विध्वंसक रूप
बन सके सृजनशील जो काम
मनुज को अन्तरैक्य में बाँध
बनाये जग को शोभा धाम !
ऊर्ध्वमुख हो प्राणों की ज्योति
रूपगत राग - द्वेष से हीन,

भावना का बरसा सौन्दर्य
रचे भू - जीवन स्वर्ग नवीन !

भेंट पश्चिम की वैभव - भूमि
हुआ कवि - मन में घन आह्लाद,
विपुल जीवन - शोभा से पूर्ण
सभ्यता का विलोक प्रासाद !
रम्य गृह श्रेणि, मार्ग, उद्यान,
धरा के प्रति सजीव अनुराग,
गौर देशों का था स्पृहणीय
संगठित जीवन का सहयाग !

रोम यूनान मिस्र की स्वर्ण-
सांस्कृतिक निधि का पाकर दाय,
हुआ जिसका अन्तर्निर्माण
सभ्यता का बन नव पर्याय !
विविध विज्ञानों की जो भूमि
विश्व बौद्धिक विकास सोपान—
चार शतियों से सक्रिय मंच
प्रगति का योरप रहा महान् !

प्रकृतिप्रिय कवि ने सबसे पूर्व
आल्पस् शृंगों का देखा देश,
स्मरण कर जन्म - भूमि का दृश्य
हुआ तन पुलकित, दृग अनिमेष !
शुभ्र हिम शिखर किरीटित भाल,
हरित, फर - तरु रोमांचित ढाल,
घाटियाँ मखमल की मृदु ज्वाल,
नील दर्पण थे निर्मल ताल !

मोहते फालसई हिम शृंग,
ह्लीन निर्झर करते सित नाद,
सुभग तलहटियाँ, शिखर, पठार,
हृदय में भरते स्मय आह्लाद !
पीत वाष्पों की चूनर ओढ़
बदलती प्रकृति चमत्कृत वेश,
सरकती निःस्वर पग हिम राशि,
दौडती फेन सरित सावेश !

जिनेवा - सर मे तिरती मौन
शृंग छाया—चित्रित साकार,
ढाल पर द्राक्षा के प्रिय खेत
दृश्य - पट का करते शृंगार !
वनों को बाँफ़, बीच, फर, चीड
मर्मरित रखते, दल प्रच्छाय,
यात्रियों की स्विस - भू सुख - स्वर्ग,—
उन्ही पर निहित प्रमुख व्यवसाय !

स्वच्छ पश्चिम का यह कश्मीर
शिखर पर योरप के आसीन,
खिलाड़ी जगत, पर्यटक विश्व
इसे रखता आमोद - नवीन!
तक्ष सूचिका कला में दक्ष
शृंग शोभी दिगन्त अभिराम
मनुज कर कौशल से सम्पन्न,
निभृत नैसर्गिक सुषमा धाम!

फांस में कर सोत्कण्ठ प्रवेश
हुआ कवि - मन में भावोन्मेष
कला संस्कृति का यह भू - स्वर्ग
कीर्ति पश्चिम की रहा विशेष!
स्वर्ण भृंगों की - सी गुंजार
मधुर भाषा हरती मन - प्राण,
मिलन सौष्ठव, विनम्र व्यवहार
सहज आकर्षित करता ध्यान!

क्रान्ति के पलने में भर पेंग
हुआ उद्‌बुद्ध यहाँ चैतन्य,
विश्व बन्धुत्व, साम्य, स्वातन्त्र्य,
वरे जन ने आदर्श अनन्य!
झेल वह झंझा झड़ भूकम्प
बना संगठित साहसी देश,
रहा पश्चिम की मानस भूमि
कला चिन्तन ऐश्वर्य निवेश!

दिव्य गिरजों का गोथिक शिल्प
शान्ति - सम्मोहित करता प्राण,
निर्धनों की बाइबिल जो मूर्त
वास्तु प्रतिभा के विशद प्रमाण!
शिल्प प्रतिमानों का दिग् व्याप्त
शिष्ट सौन्दर्य - सृष्ट परिवेश—
कला चिद् वैभव प्रसू अनिन्द्य
फ्रांस भू जीवन स्वर्ग अशेष!

भाव आन्दोलित जन - भू प्राण
नित्य नव उन्मेषों के स्रोत,
विश्व - प्रिय, रुचिकर षड्रस खाद्य,
रूप - सज्जा से ओत - प्रोत,—
सुमन, सौरभ, द्राक्षा रस भूमि,
सुघर, मधु - प्रिय, जीवन रत लोग,
कला वाङ्‌मय हो, शोभा भोज,
फ्रास में सुलभ सुरों के भोग!

जहाँ नयनों में शोभा - स्वप्न,
हृदय में नित नव भावोच्छ्‌वास,

प्राण में युग - जीवन उन्मेष,
बुद्धि में नव चिन्तन उल्लास,—
बदलती हों रुचि, सज्जा, वेश
कला - विधियाँ पा नित्य विकास,
वहीं रे गौल देश प्रिय फ्रांस
जहाँ निशि जीवन मुक्त विलास!

सद्य स्फुट सुन्दरता का पद्म
दृगों के सम्मुख खुल अम्लान
मुग्ध कर देता पेरिस दृष्टि
शिल्प स्वर संगति का हो गान!
जनों के प्राणों का हृत्स्पन्द,
कलाकारों का स्वप्नागार,
सतत जो नव श्री सुषमा रक्त
शिराओं में करता संचार!

वास्तु कौशल का अपलक स्वप्न
अमर प्रस्तर छेनी का काव्य,
स्वर्ग का बिम्बित भू पर चित्र
शिल्प से ऋभुओं के सम्भाव्य,—
विश्व सम्मोहन कला प्रतीक
स्वयं में पूर्ण मधुरिमा लोक,
रूप आनन्द प्रेम का कुंज
सफल दृग पेरिस को अवलोक!

भव्य प्रतिमाओं से सम्पन्न
विविध सौन्दर्यस्थल, उद्यान
राजपथ, वीथि श्रेणि प्रच्छाय,
नगर निज शोभा का उपमान!
भेदता ऊर्ध्व दृष्टि से नील
दीर्घ आइफ़िल टावर का दृश्य,
नागरिक गरिमा का दिङ्मुग्ध
प्रदर्शित यहाँ अनिन्द्य भविष्य!

कल्पना नयनों में चुपचाप
फूल द्रुत उठा पुरातन रोम,
खँडहरों से शतियों के जीर्ण
जग उठे वृत्त, कोण, बहु डोम!
रोम की शक्ति, रोम की कीर्ति,
विश्व - उर पर करता जो राज—
वास्तु - चिह्नों - शिल्पों में शेष
भग्न वह गौरव - गरिमा आज!

श्वेत स्तम्भों की शोभा श्रेणि
उच्च सौधों गिरिजों की सृष्टि,
शिल्प कृति चतुष्कोण, उद्यान,
कला रुचि अपलक रखती दृष्टि!

संग्रहालय दिगन्त - स्मित रोम
ललित वैभव का अक्षय कोष,
काल लगता स्तम्भित, दिङ्मूढ़
देख सौन्दर्य, स्वप्न निर्दोष !

पोप का नगर विश्व विख्यात,
हृदय ही जिसका स्वर्गिक राज्य,
रोम का बहिरन्तर ऐश्वर्य !—
और सब वैभव लगते त्याज्य !
आज भी कला शिल्प अवशेष
स्वप्न - जीवी में भरते स्फूर्ति,
सभ्यता - संस्कृति का यह केन्द्र
ध्वंस में गत गौरव की मूर्ति !

कला - प्रेमी इटली के लोग,
मुक्त नभ से झरता संगीत,
अमर दाँते - वर्जिल की कीर्ति—
धूलि में स्मृतियाँ बिछी पुनीत !
नील झीलों के जल में मौन
सुनहली शोभा - सी तिर धूप
रोमियों की पलकों पर मुग्ध
ज्यूलियट का सँवारती रूप !

यहीं गाया नीरो ने मत्त
ज्वाल - पंखी निज दीपक राग,
वादकों चित्रकरों की भूमि,
विपुल संचित शोभा की आग !
मध्य युग से ही रहा अजस्र
यहाँ राज्यों में कटु संघर्ष,
मिले सीजर को उसका दाय,—
न्याय का रहा लौह आदर्श !

यहाँ का पुष्प - नगर फ्लोरेंस
कलात्मक बौद्धिक केन्द्र समृद्ध,
वधू सागर की वेनिस चारु
नहर - द्वीपों की पुरी प्रसिद्ध !
संगमर्मर सौधों का शुभ्र
रेशमी श्री - शोभा का देश,
रिनेसाँ से पश्चिम को नव्य
दिया जिसने जीवन सन्देश !

रोम के सँग ही स्मृति में ग्रीस
जगा, अँगड़ा ध्वंसों में भग्न,
देवप्रिय यह पौराणिक भूमि
खड़ी अकलुष शोभा में नग्न !
खँडहरों में सोया सौन्दर्य
काल के उर पर करता राज,

स्वप्न - दृग महत् शिल्प ऐश्वर्य
प्रेरणा देता जग को आज !

दिया होमर को जिसने जन्म,
जहाँ विचरे द्रष्टा सुकरात,
सभ्यता — संस्कृति का जो देश
जगत में लाया स्वर्ण प्रभात !
प्रथित थी डेल्फी की दैवज्ञ,
गूँजती अब भी गिरा गभीर—
गीत प्रिय फिरता वन मे पैन,
शौर्य प्रतिमा थे स्पार्टन वीर !

मातृ नगरी प्यारी एथेंस,—
ध्वंस - शेषों से उठ इतिहास
जहाँ अब स्वप्न - मूर्त अनिमेष
स्वर्ण युग का देता आभास !
शिल्प सौष्ठव के सुघर प्रतीक
स्तम्भ डोरिक शैली के भव्य,
मन्दिरों हर्म्यों का सौन्दर्य
जगाता कला प्रेरणा नव्य !

रूप - गरिमा - प्रेमी थे ग्रीक—
स्वप्न - सुषमा से कल्पित मूर्ति
अंग संगति में ढली अनिन्द्य
स्वर्ग - शोभा की करतीं पूर्ति !
काव्य संगीत कला विज्ञान,—
देवियों की छवि में अवतीर्ण,—
वृहत् क्रीड़ा - प्रांगण अब ढूह,
रम्य रंगस्थल स्मृति - भर जीर्ण !!

काल का ध्वंस लाँघ—अविजेय
बढ़ रहा मानवता का यान,
यन्त्र - युग करता नव निर्माण
नही पीछे जग से यूनान !
जर्मनी में रुककर कुछ काल
रहा युग कवि - मन चिन्तन - मग्न,
महत् प्रतिभाओं का यह देश
जहाँ नाची युग - चण्डी नग्न !

यही शाकुन्तल शोभा - मुग्ध
फ़ास्ट का कवि - ऋषि हुआ प्रसिद्ध,
स्वर्ग भू - श्री जिसको एकत्र
मिली कवि - गुरु कृति मे रस - सिद्ध !
सृजक चिन्तक वैज्ञानिक साथ
विदित रंगों पर जिसकी शोध,—
निखारा लाइबिनीज ने तत्व
यहीं वेग्नर ने स्वर - लय - बोध !

दार्शनिक वैज्ञानिक जन - भूमि
जहाँ के कवि गायक विख्यात
अभी सापेक्षवाद का घोष
किया जिसने—जगती को ज्ञात!
युद्ध में विजित शौर्य - प्रिय लोग
खोजते नव प्रेरणा, प्रकाश,
नाट्य मंचों संग यहाँ प्रभूत
गीति, वाद्यों का आज विकास!

वृहद् उद्योगों का गत केन्द्र
यन्त्र - बल कौशल में निष्णात—
मिल सकें पूर्व पश्चिमी भाग
धरा पर विचरे नव युग प्रात!
ऊष्ण फिर शीत - युद्ध से त्रस्त
प्रथित बर्लिन नगरी आक्रान्त,
यहाँ अब साम्यवाद जन - तन्त्र
सामने खड़े, सशंक, अशान्त!

खोजने नैसर्गिक सौन्दर्य
न जाने कब पहुँचे अनजान
नॉरवे स्वीडन में कवि प्राण—
प्रकृति के जो शोभा संस्थान!
इन्द्र ने वज्र - मुष्टि से कूट
किया हो नॉरवे का निर्माण,
घाटियों शृंगों का यह प्रान्त
वन्य श्री - शोभा में असमान!

खाड़ियों से घुस शतमुख सिन्धु
अँगुलियों से पकड़े हो केश,
सहस्रों सुरधनुओं से दीप्त
फेन झरनों का यह प्रिय देश!
गूँजते इन्द्रचाप के सेतु
अप्सरा चलती जब लघु चाप,
निभृत वन गिरि शिखरों पर उर्ध्व
रेशमी उड़ते वाष्प कलाप!

घाटियों से गर्तों में कूद
भागती नदियों की सित धार,
चीड़ के वृक्षों की वन - भूमि
सिहरती रहती सिसक अपार!
उग्र गिरि चट्टानों के ढाल
हरे गहरे सागर - से ताल,
सैकड़ों मधु - मक्खी - से द्वीप,—
नॉरवे का वैचित्र्य विशाल!

दृष्टि - विस्मय स्वीडन की भूमि
क्षिप्र नद, वनों, सरों का देश,

ग्रीष्म में अर्ध रात्रि का सूर्य
जहाँ भर नव सौन्दर्योन्मेष
सिन्धु नभ पर बरसा दिक् पीत
उषा - मुख का श्री - विगलित स्वर्ण
स्वप्न तूली से रँगता मौन
घाटियों शिखरों को शत वर्ण !

स्फटिक शृंगों के तीव्र प्रपात,
गलित हिम जल के मुकुर तड़ाग,
घाटियों के प्रसन्न दिक् प्रान्त
प्रकृति सुषमा का अचल सुहाग,—
सुरँग पुष्पों के हँसमुख तल्प
शाद्वलों का करते शृंगार,
रंग वस्त्रों में सज - धज लोग
मनाते गीत - नृत्य त्योहार !

दीर्घजीवी जन, दीर्घाकार,
विभव सम्पन्न, स्वेड अति गौर,
स्वस्थ, बहु कर्म कुशल, अभिजात,
सभ्य, संस्कृत, प्राशन - प्रिय पौर !
प्रकृति की यौवन - श्री का स्वर्ग
अतिथि निशि - गृह में जहाँ प्रभात,...
कला का स्टाकहोलम प्रिय केन्द्र
सुघर उत्तर का वेनिस ज्ञात !

आंग्ल धरती पर धर निज पाँव
हुआ कवि को गोपन आह्लाद,
विश्व में रहा एक स्वर व्याप्त
सिंह - सा जिसका पौरुष नाद !
ससागर रहा विजय साम्राज्य
अस्त होता था जहाँ न सूर्य,
आज युग - जीवन के अनुकूल
बज रहा वहाँ प्रगति का तूर्य !

सत्य बनता रहता क्षण - स्वप्न,
चतुर्दिक् फहराता जय - केतु,—
युद्ध के ध्वंसों से जग आज
बनाते जन नव जीवन - सेतु !
स्वाभिमानी, निर्भय अंग्रेज
सन्तुलित, सभ्य, सौम्य, सविवेक,
वज्र संकल्प,—न हृदय विहीन,
आज के विप्लव - युग के टेक !

अथक पौरुष से यह लघु द्वीप
विश्व - मन पर रखता अधिकार,
शान्ति संयम से चढ़ पथ दुर्ग
कृत्स्न संकट क्षण करता पार !

आंग्ल जन कूट - नीति में दक्ष—
विश्व रहता हत, विस्मय मूढ़ !

राजधानी यह जगत - प्रसिद्ध
पूर्ण अपने में नव ग्रह - लोक,
भव्य गिरजों हर्म्यों की पाँति
दृष्टि को लेती बरबस रोक !
देखने में छोटा यह द्वीप
महत् इसका मानस चैतन्य,
लोकप्रिय शेक्सपियर को जन्म
दिया जिसने, उस भू को धन्य !

यहाँ का जीवन - गौरव देख
सहज जगता मन में सम्मान,
हृदय में युग - कवि के विश्वास
सुनेंगे आंग्ल समय आह्वान !
इन्हें संसद् पद्धति का श्रेय—
प्रजा - युग के हित जो वरदान,
इन्हीं का पा चेतन सम्पर्क
हुआ भारत का पुनरुत्थान !

देख पश्चिम की श्रम तप वृत्ति
स्वर्ण - भारत की आयी याद,
दैन्य दुख कर्दम का कर ध्यान
घिरा कवि - मन में मौन विषाद !
स्वर्ग को बना नरक का कुण्ड
अन्ध धार्मिकता का अभिमान
बनाये जन को कर्म विरक्त
रिक्त निष्क्रिय आध्यात्मिक ज्ञान !!

जहाँ भू - जीवन प्रति औदास्य,
मूर्त दारिद्रय दुःख घन घोर,
रेंगता मनुज कीट - सा तुच्छ,
अविद्या का तम—ओर न छोर !
रूढ़ि कृमि जर्जर रुग्ण समाज,
व्यक्ति बहुमत विदीर्ण, निष्प्राण,—
सोच पाया न क्षुब्ध मन और—
सोवियत - भू में पहुँचा यान !

मित्र भारत के सब भू - देश
रूस का उनमें अपना स्थान,
दलित भू - जन को जिसने भव्य
स्वप्न जीवन का दिया महान् !
प्राप्त कर जन का निश्छल स्नेह
सहज भारत के प्रति सम्मान,
हुआ कवि का मन स्नेह कृतार्थ
हृदय का कर आदान - प्रदान !

नव्य जाग्रत यह जन - भू - भाग
धरा की अब समृद्ध जन - शक्ति,
महत् सामाजिकता का अंग
यहाँ का जीवन - सक्रिय व्यक्ति !
घृणित शोषण पीड़न से मुक्त
मनुजता पाती युग अभिव्यक्ति,
लोक - मंगल सामूहिक ध्येय,
श्रेय के प्रति अखण्ड अनुरक्ति !

वज्र - दृढ़ सामूहिक संकल्प
प्रेरणा का अदम्य सित स्रोत
मनुज - समता रस से अभिषिक्त
प्राण - बल से जन ओत - प्रोत !
पूर्ण करते क्षण में युग - कर्म
सहस्रों कर - पद - मन संयुक्त,
बना नारी को यहाँ स्वतन्त्र
शक्ति का महत् स्रोत उन्मुक्त !

जठर - रण से हो जन - मन मुक्त
कर सके निज सांस्कृतिक विकास,—
हृदय में आध्यात्मिक सौन्दर्य
प्राण में हो चैतन्य प्रकाश !
आज अन्तर्वैभव से शून्य
गुहा - सा अन्ध मनोमय द्वार,
मनुज बन रहा दनुज - सा हिंस्र
धरा जीवन दुख - कल्मष - भार !

यहाँ सह कृषि से श्यामल खेत,
प्ररोहित शतमुख जन भू - शक्ति !
बृहत् सह उद्योगों का लाभ
भोगते सम वितरण प्रिय व्यक्ति !
सभी को स्वर्णिम अवसर प्राप्त
करें निज क्षमता का उपयोग,
स्थूल श्रम - अवधि यहाँ अब स्वल्प,—
कला - संस्कृति - साधक हों लोग !

स्वस्थ शिशुओं का यह भू - स्वर्ग
देश की जो भविष्य सम्पत्ति,
संगठित जहाँ अर्थ मन कर्म
टूट सकती क्या वहाँ विपत्ति ?
शान्ति - कामी यह जनप्रिय भूमि
बृहत् हो रहा लोक - निर्माण,
मिटा जन का दुख - दैन्य तमिस्र
दे रही भू नव युग आह्वान !

अथक भौतिक साधन से लब्ध
चेतना का हो रहा विकास,

मानना जड़ - चेतन को भिन्न
भेद मति का भ्रम, द्वन्द्वाभास!
रक्त बलि दे जन ने अश्रान्त
मिटाया भू से अत्याचार,
अग्नि - ज्वालाओं में कर स्नान
हटाया वैषम्यों का भार!

जगा हो जन - समुद्र में ज्वार,
डुबा युग - भू तट उमड़ी क्रान्ति,
प्रलय - मेघों से नव युग - ज्योति
धरा पर उतरी—समता, शान्ति!
प्रबल था जन - मन का आवेश
निमिष में बदल गया परिवेश,
विषमता, दैन्य, दुःख तम चीर
स्वर्ण रूपान्तर हुआ अशेष!

प्राप्त कर नर को भौतिक शक्ति
सबल रचना - साधन नव यन्त्र
विश्व जीवन का गढ़ना रूप
नव्य रच वैज्ञानिक भू - तन्त्र!
विविध भू - भागों के अनुरूप
पूर्ण होगा निश्चय युग - कार्य,
जार से शोषित था जन - सिन्धु
यहाँ थी रक्त क्रान्ति अनिवार्य!

मानसिक भौतिक था भूकम्प
रुद्ध अवचेतन पावक पूर,—
कष्ट श्रम तप दम त्रास दुरन्त—
कल्प परिवर्तन होते क्रूर!
ध्येय था निखिल लोकगण श्रेय,—
रुधिर - कर्दम - सागर कर पार
लाँघ विघ्नों के शृंग अलंघ्य
विहँसता नव मानव - परिवार!

प्रथम इसने ही स्पुतनिक छोड़
शून्य उर का नापा विस्तार,
गुह्य नभ के असुरों को जीत
नील ग्रह - पथ का खोला द्वार!
प्रतीक्षा में भू की शशि लोक,
अप्सरा लिये रश्मि जय हार,—
दिगश्वों पर ले युग अभियान
धरा - यौवन करता अभिसार!

संग्रहालय जन - शिक्षा केन्द्र,
जहाँ रक्षित युग - भू इतिहास,
नृपों के वसन, विभूषण रत्न,
चित्र सम्पद्, उद्योग विकास!

हर्मिटेज् लेनिनग्राद में मुख्य,
कला - कृति, वास्तु - शिल्प का कोष,
प्रदर्शक दे विस्तृत वृत्तान्त,
दर्शकों को देते सन्तोष !

कीव, प्रिय मॉस्को, लेनिनग्राद
नगर वर यहाँ अनेक प्रसिद्ध,
मातृ नगरी, नव निर्मित कीव,
नियीपर तट पर सुभग समृद्ध !
क्रान्ति का गढ़ था लेनिनग्राद
खड़े ज़ारों के हर्म्य अवाक्,
राजधानी मॉस्को प्रख्यात,
दुर्ग क्रेम्लिन, जन - भू पर धाक !

लाल काले स्फटिकों का सौम्य
यहाँ लेनिन का स्तूप पवित्र,
पारदर्शी वेष्टन में भव्य
सुरक्षित हाड़ - मांस का चित्र !
लौह - दृढ़ शिरा, वज्र संकल्प,
हृदय हो विगलित करुणा स्वर्ण,
धरा पर विचरा नव युग - दूत
दलित को करने मुक्त, सपर्ण !

उमड़ रेड् स्क्वायर मनाता हर्ष—
क्रान्ति का जन्म - दिवस त्योहार,—
गरजती, पद - चापों से भूमि,
लाल सेना में उठता ज्वार !
विश्व की एक महत्तम शक्ति
सोवियत - भू का यह जन - राज,
अमित सामूहिक बल का सिन्धु,
धरा पर वर्ग - विहीन समाज !

महत् था वैज्ञानिक युग सिद्धि
सर्वहित कर उसका उपयोग,
ग्राम को ला पुर के समकक्ष
रूस कर रहा विराट् प्रयोग !
वज्र - दृढ़ जनगण मन संकल्प,
समुन्नत मनुष्यत्व का मेरु,
सांस्कृतिक रथ जीवन - प्रासाद
बने जन - धर्म - तन्त्र परिवेश !

शीत - रण भीत धरा - जन प्राण
गरजता सिर पर विश्व विनाश,
शान्ति - रक्षक होगा जन - देश
हृदय में युग - सन्धि के दिनमान !
शान्ति के बिना अधूरी क्रान्ति—
मिल गये शक्ति - शिखर भू - भाग,

सोवियत का भू प्रति सित दाय,
दिखाये सद् विवेक, सत् त्याग !

लोक - जीवन की भावी ज्योति
असंशय आज रूस के पास,
स्वस्थ स्पर्धा से हो चरितार्थ
साम्य का भू पर भव्य विकास !
वर्ग - मानव बुद्‌बुद हो लीन
लोक - सागर - उर में दिग् व्याप्त,
क्षीण प्रस्तर - युग का चैतन्य,
खर्व वर्बर हो स्वतः समाप्त !

देख जनप्रिय वोल्गा की भूमि
गया कवि की आँखों में घूम
कुबेरों का वह देश विशाल
डालरों की जिसके अब धूम !
गगन - भेदी अट्टों की पंक्ति
दर्शकों को रखती अनिमेष,
त्रि - भुवनों के वैभव से पूर्ण
स्वर्ण - श्री - शोभा मुकुर अशेष !

नम्र उन्मुक्त हृदय के लोग
अतिथि - जन का करते सत्कार,
सभ्यता - संस्कृति पर अनुरक्त,
विचारों के प्रति चित्त उदार !
सुरभि - श्री सुषमा - प्रतिमा मुग्ध
अप्सरा करती यहाँ विहार,
देवदूतों का यह प्रिय देश,
प्राकृतिक भौतिक विभव अपार !

धूलि कण - कण में यहाँ अनन्त
बिछा वैभव - उर्वर विस्तार,
विधाता ने इसका निर्माण
किया निज महिमा से साकार !
शिखर हों घाटी, नदी तडाग,
गहन वन हों, दिक् श्यामल खेत,
प्रकृति औदार्य, धरा ऐश्वर्य—
यहाँ सब ऋद्धि - सिद्धि समवेत !

निरख नैसर्गिक छटा विराट्
हृदय निस्तब्ध, निर्निमिष दृष्टि,
छाँह गुम्फित वन, शृंग प्रचण्ड
आदि - विस्मय की करते सृष्टि !
तरुण भू का बहुमुख वैचित्र्य
तरंगित जल - सा वक्ष उभार
देख स्तम्भित रहता आश्चर्य
प्रकृति का वन्य भीम शृंगार !

सर्व वैभव साधन - सम्पन्न
शक्ति भू पर दोनों ही देश!
चन्द्र - बल से ज्यों घट - बढ़ नित्य
लोटता सागर - उर में ज्वार,
नियन्त्रित करते ये भू - भाग
धरा - जीवन का सब व्यापार!

परिस्थिति! संकट स्थिति भी घोर—
विपक्षों में अब उभय विभक्त,
विश्व - ध्वंसक अस्त्रों से नद्ध
प्रलयकर हों दो रुद्र सशक्त!
व्यक्तिगत हो, सामूहिक मार्ग,
नहीं वह मानव - जीवन ध्येय,
मनुज - मूल्यों को कर स्वीकार
उभय पथ से ही सम्भव श्रेय!

नये युग की हो वैभव सिद्धि
धरा के ओर छोर - में व्याप्त,
लोक वन हो सम्पन्न, प्रबुद्ध,—
न वर्गों के उपवन पर्याप्त!
सभी कुछ नहीं घुमंकर आज
विश्व - रण ढा सकता भू - ध्वंस,
जनों को रहना सजग, सचेत
नष्ट हो जाय न मानव - वंश!

रोकती प्रकृति न अशुभ, असत्य,
असत् सत् से वह परे, अनन्त,
चेतना में पथराया धुन्ध
छँटे जब, निखरे नया दिगन्त!
असत् हो महत्, महत्तम सत्य,
असत् पर सत् की जय अनिवार्य,
हिरण्यात्मा का यही विधान
सत्य हित निखिल सृष्टि का कार्य!

व्यक्ति मन के, समूह के मूल्य
मिलेंगे—पा गति, प्रगति, विकास,
मनुज गुण ही दोनों का केन्द्र,
मनुज जग परिधि,—सत्य - अधिवास!
गढ़े विज्ञान बाह्य युग पीठ,
तन्त्र दे अन्न, वस्त्र, श्रम, धाम,
सँजोये मनुष्यत्व का स्वर्ग
मनुज - चेतना निखर अविराम!

देखता मनश्चक्षु से प्रेम—
तड़ित् अणु से भी महत्, सशक्त
ज्योति आनन्द प्रीति की शक्ति,
हो रही जन - भू पर अभिव्यक्त!

फूल ज्वालाओं की वन कान्ति
सँजोती रँग नव शरद दिगन्त,
इन्द्रवन - से अनिन्द्य उद्यान,
सहस्रों हँसते जहाँ वसन्त !
स्फटिक निर्झर, नैसर्गिक सेतु,
मुखर सरिता, मरकत जल ताल,
इन्द्रधनु वेणी बाँधे मेघ,—
दिशा - मुख - श्री पर मोहित काल !

विपुल कृषि, खनिज, वन्य सम्पत्ति,
अमित जीवन सौष्ठव, जन सिद्धि,
बृहद् उद्योगों का यह देश
उगलती धरती अतुल समृद्धि !
कुशल, कर्मठ, कौशल प्रिय व्यक्ति,
विभव की होती प्रतिपल वृष्टि,
मनुज निर्मित स्वर्गों का स्वर्ग—
चमत्कृत रहती मोहित दृष्टि !

साहसी अमरीकी निर्भीक
सुज्ञ, युग स्थिति प्रबुद्ध, स्वच्छन्द,
वायु जल स्थल बल कम्पित विश्व,
गरजते सिन्धु व्योम निर्द्वन्द्व !
नगर ऊँचे अट्टों के पुंज
स्वर्ग स्पर्धी अलंघ्य सोपान,—
विपुल औद्योगिक - वैभव सत्र,
कला - शिक्षा के केन्द्र प्रधान !

देव दुर्लभ प्रभूत रस भोज,
रात्रि विद्युत् द्युति के दिनमान,
चूमती जन - चरणों को ऋद्धि,
विभव में करती शोभा स्नान !
साधते यन्त्र मनुज का कार्य,
सीढ़ियाँ करतीं स्वयं प्रयाण,
कोटि मस्तिष्कों से भी सूक्ष्म
कुशल गणितज्ञ कलें निष्प्राण !

नहीं आश्चर्य, यन्त्र युग तन्त्र,
बाँध दिग् छोरों में गति - सेतु
ग्रहों के प्रांगण में भू - पुत्र
गाड़ने को अब निज जय - केतु !
अभी यह प्रथम चरण ही मात्र,
भूति युग - स्रष्टा जड़ विज्ञान,
मनुज को लाँघ विगत इतिहास
स्वर्ग का पाना नव वरदान !

व्यक्ति में यहाँ प्रेरणा - स्रोत,
रूस में सामूहिक उन्मेष,

सर्व वैभव साधन - सम्पन्न
शक्ति भू पर दोनों ही देश!
चन्द्र - बल से ज्यों घट - बढ़ नित्य
लोटता सागर - उर में ज्वार,
नियन्त्रित करते ये भू - भाग
धरा - जीवन का सब व्यापार!

परिस्थिति! संकट स्थिति भी घोर—
विपक्षों में अब उभय विभक्त,
विश्व - ध्वंसक अस्त्रों से नद्ध
प्रलयकर हों दो रुद्र सशक्त!
व्यक्तिगत हो, सामूहिक मार्ग,
नहीं वह मानव - जीवन ध्येय,
मनुज - मूल्यों को कर स्वीकार
उभय पथ से ही सम्भव श्रेय!

नये युग की हो वैभव सिद्धि
धरा के ओर छोर - में व्याप्त,
लोक वन हो सम्पन्न, प्रबुद्ध,—
न वर्गों के उपवन पर्याप्त!
सभी कुछ नहीं शुभंकर आज
विश्व - रण ढा सकता भू - ध्वंस,
जनों को रहना सजग, सचेत
नष्ट हो जाय न मानव - वंश!

रोकती प्रकृति न अशुभ, असत्य,
असत् सत् से वह परे, अनन्त,
चेतना में पथराया धुन्ध
छँटे जब, निखरे नया दिगन्त!
असत् हो महत्, महत्तम सत्य,
असत् पर सत् की जय अनिवार्य,
हिरण्यात्मा का यही विधान
सत्य हित निखिल सृष्टि का कार्य!

व्यक्ति मन के, समूह के मूल्य
मिलेंगे—पा गति, प्रगति, विकास,
मनुज गुण ही दोनों का केन्द्र,
मनुज जग परिधि,—सत्य - अधिवास!
गढ़े विज्ञान बाह्य युग पीठ,
तन्त्र दे अन्न, वस्त्र, श्रम, धाम,
सँजोये मनुष्यत्व का स्वर्ग
मनुज - चेतना निखर अविराम!

देखता मनश्चक्षु से प्रेम—
तडित् अणु से भी महत्, सशक्त
ज्योति आनन्द प्रीति की शक्ति,
हो रही जन - भू पर अभिव्यक्त!

स्पर्श से जिनके हर्षोन्मत्त
सिन्धु कर कोटि फणों में नृत्य
आत्म-मन्थन शोभा पर मुग्ध
नव्य मणि रत्नों से कृतकृत्य !

हृदय में छिपे शुभ्र मैनाक
क्षितिज-धूमिल मेघों को चीर
उठाते धरा-गर्भ से शीश
नील को भेद ज्ञान गम्भीर !
गन्ध से रोम प्रहर्षित वायु,
भृंग भरते वसन्त गुंजार,
कण्ठ में कोकिल के नव गीत,
विश्व श्री-शोभा से साभार !

जन्म ले भू पर अन्तर-प्रेम
जाति-वर्गों के बन्धन खोल
प्राण-मन-जीवन की उन्मुक्ति
मनुज को सौंप रहा अनमोल !
शुभ्र गरिमा का शोभा वक्ष,
कामना संस्कृत, अकलुष प्रीति,—
प्रतिष्ठित मन में अन्तः शान्ति
मनुजता में सित स्वर्ण प्रतीति !

लोक-मन नव प्रकाश में स्नात
सुघर भू-रचना में अब लग्न,
उच्च प्रेरणा-रश्मि से दीप्त
हृदय सौन्दर्य-बोध रस-मग्न !
सोचता वंशी, भाव विमुग्ध,
उन्हें धिक्, भू-जीवन से भिन्न
मानते जो मानस, ऐश्वर्य,
रूप-गुण-चिति को कर विच्छिन्न !

शान्ति से प्रिय न जिन्हें श्रम-श्रान्ति
मूल्य से प्रिय न मूल्य की सृष्टि,
नाम से गौण जिन्हें धिक् रूप,
सत्य जीवन से प्रिय सत् दृष्टि !
उन्हें धिक्, जिन्हें न प्रिय संघर्ष,
राग मद द्वेष रोष से भीत,
विश्व-रचना से विमुख, विरक्त,
आत्महन्, जिन्हें पलायन जीत !

सुहाता जिन्हें मधुर ही स्वाद
सालता अम्ल लवण कटु तिक्त,
जानते वे न विश्व-वैचित्र्य
चेतना जिससे रस-अभिषिक्त !
चयन कर रिक्त आत्म-चैतन्य
विश्वमय की महिमा से दूर,

शून्य रत वे,—ईश्वर चिद् सिन्धु,
जगत - जीवन जिसका प्रिय पूर !

देख भू - जीवन का वैचित्र्य
हो उठी वाष्प - सजल कवि - दृष्टि,
प्रकृति - सुभगा भू—इसे मनुष्य
बनायेगा कब स्वर्गिक सृष्टि !
मनुज से पृथक् परम चैतन्य
नहीं भू पर लेता अवतार,
कोटि - कर - पद जो मर्त्य - अमर्त्य
उसी पर क्रम विकास गति भार !

विश्व को होना अब संयुक्त,—
मनुजता के हित उसे विशाल
योजनाएँ रचनी बहुरूप
कर्म - गरिमा में जीवन ढाल !
सांस्कृतिक, जैविक, भौतिक मूल्य
समन्वित कर, हर दैन्य विषाद,
मूर्त कर आत्मा का ऐश्वर्य
सँजोना भू - जीवन - प्रासाद !

देख पश्चिम भू सौष्ठव चित्र
हुआ कवि के मन में आभास—
बहिर्मुख जीवन में जन मग्न,
न अन्तर्जीवन पर विश्वास !
विश्व - मंगल हित यह दुर्भाग्य
कि पश्चिम बहिर्जगत में लीन,
भाव - जीवी भारत - जन - भूमि
वस्तु - जीवन - महत्व से हीन !

ह्रास - तम का—भारत में रूप
पलायन, पाप - पुण्य की भीति,
पारलौकिकता, कर्म विरक्ति,
अन्ध विश्वास, रूढ़ि, जड़ रीति !
सभ्य पश्चिम में स्थापित स्वार्थ,
अनास्था, रण - भय, कटु सन्देह,
शक्ति का मोह, राष्ट्र का दर्प,
बहिर्मुख भौतिक जाड्य सदेह !

राष्ट्र - जीवन का निर्मम प्रेम
बन गया मन की सीमा घोर,
विश्व - मंगल का इनका स्वप्न
चंग—जिसमें न प्रेरणा डोर !
कभी मज्जित थी जैसे भूमि
सिन्धु जल अंचल मे अनजान,
दबा अब मनुष्यत्व का तत्व
स्थूल भौतिकता में निष्प्राण !

शान्ति - कामी सित भारत - वर्ष
अहिंसा - प्रिय, प्रबुद्ध, तप धीर !
किन्तु भू - मन की प्रगति विकास
विरोधों में गतिरुद्ध—विभक्त,
आक्रमण कर दे यदि जो शत्रु
करेगा क्या भारत ?—निःशक्त !

लड़ेगा भारत—अन्तःशक्त,
दिया मन ने उत्तर सावेश,
आत्म - रक्षा हित दृढ़ संकल्प
एक हो युद्ध करेगा देश !
लगा वन - पशुओं के नख - दंष्ट्र
लौह के हाथ - पैर विकराल
रक्त तृषितान्ध धरा मे घूम
न ठोंकेगा प्रमत्त वह ताल !

वीर भोग्या वसुधा—यह सत्य,
धीरता के पर रूप अनेक,
आज जन - मानस - भू रण - क्षेत्र
विजय नित पाता जहाँ विवेक !
राष्ट्र - भेदो में धरा विदीर्ण,
मनुज - जग को होना अब एक,
बहिर्मुख खोये मन में नव्य
चेतना का कर सित अभिषेक !

रँगा केसरिया बाना मत्त
रक्त रोली से रच जन - भाल,
गरजती रही यहाँ रण - भूमि
पहन खर अरि मुण्डों की माल !
आज अणु - अस्त्रों से अभिभूत
प्रकृति का आदि शक्ति का दर्प,—
खोलता पुरुष ज्ञानप्रभ चक्षु,
विनत फन तमस, शक्ति मद सर्प !

रक्त पद्मासन पर आसीन
दिव्य - भू धर फिर चण्डी वेश
किरण के कर - पद बढ़ा सहस्र
अग्नि बरसायेगी सोन्मेष !
सत्य हित होगा वह युग युद्ध,
विश्व - जन - मंगल होगा ध्येय,
मनुजता के विकास का द्वार !
मुक्त कर देगी ज्योति अजेय !

शक्ति का दर्प मनुज को हिंस्र
दनुज का बना रहा प्रतिरूप,
ध्वंस के लिए नद्ध नर आज
खोदता निज विनाश का कूप !

कला - दर्शन से अधिक महत्व
जहाँ रखते सशस्त्र रण यान,
हृदय में हिंसा चिर आराध्य,
गवाक्षों पर शोभा का स्थान!
स्वल्प हों संस्कृत सुखी समृद्ध,
अनगिनत दैन्य ग्रस्त म्रियमाण,—
सभ्यता कब न उगल दे ध्वंस
वहाँ फट ज्वालामुखी समान!

दुःख से कैसे हो जन - मुक्ति
धर्म ने दिया त्याग, विश्वास,
भूत जग से जूझा विज्ञान
परिस्थितियों का किया विकास!
उभय पथ ही एकांगी सत्य,
व्यक्त उनमें न समग्र प्रकाश,
मिलें जब तक न ज्ञान - विज्ञान
सभ्यता का रे नियत विनाश!

महत्ता संग जो हो सौजन्य,
शक्तिमत्ता के संग कारुण्य,
विभव के संग हो आर्थिक - न्याय,
न संशय हत हो भू. तारुण्य!
राष्ट्र के संग जो प्रिय हो विश्व
सभ्य पश्चिम की भू हो धन्य,—
बुद्धि संग हो जो श्रद्धा - भाव
बहिर्जग संग अन्तश्चैतन्य!

धरा - जन में हो आर्थिक साम्य,
घृणित ध्वंसास्त्रों का हो त्याग,
विश्व शासन हो जन - संयुक्त,
शान्ति, भू - रचना प्रति अनुराग!
विजित हों क्षुधा, दिशा, जल - वायु,
समन्वित संस्कृत मनुज विचार,—
न बदले यदि अन्तश्चैतन्य
मात्र ये बाह्य अंश उपचार!

मात्र मानवता रे अब देश,
और सब देश प्रगति - पथ रोध,
निखिल संस्कृतियों का नवनीत
शुभ्र नव मनुष्यत्व का बोध!
सभ्यता को करना संघर्ष
मिटें राष्ट्रों की रेखा स्थूल,
मथें जन गत इतिहास समुद्र
दिखे नव मानवता का कूल!

किया पश्चिम जग ने हो प्रश्न,
जगी कवि - उर में गिरा गभीर—

शान्ति - कामी सित भारत - वर्ष
अहिंसा - प्रिय, प्रबुद्ध, तप धीर !
किन्तु भू - मन की प्रगति विकास
विरोधों में गतिरुद्ध—विभक्त,
आक्रमण कर दे यदि जो शत्रु
करेगा क्या भारत ?—निःशक्त !

लड़ेगा भारत—अन्तःशक्त,
दिया मन ने उत्तर सावेश,
आत्म - रक्षा हित दृढ़ संकल्प
एक हो युद्ध करेगा देश !
लगा वन - पशुओं के नख - दंष्ट्र
लौह के हाथ - पैर विकराल
रक्त तृषितान्ध धरा में घूम
न ठोंकेगा प्रमत्त वह ताल !

वीर भोग्या वसुधा—यह सत्य,
वीरता के पर रूप अनेक,
आज जन - मानस - भू रण - क्षेत्र
विजय नित पाता जहाँ विवेक !
राष्ट्र - भेदों में धरा विदीर्ण,
मनुज - जग को होना अब एक,
बहिर्मुख खोये मन में नव्य
चेतना का कर सित अभिषेक !

रँगा केसरिया बाना मस्त
रक्त रोली से रच जन - भाल,
गरजती रही यहाँ रण - भूमि
पहन खर अरि मुण्डों की माल !
आज अणु - अस्त्रों से अभिभूत
प्रकृति का आदि शक्ति का दर्प,—
खोलता पुरुष ज्ञानप्रभ चक्षु,
विनत फन तमस, शक्ति मद सर्प !

रक्त पद्मासन पर आसीन
दिव्य - भू धर फिर चण्डी वेश
किरण के कर - पद बढ़ा सहस्र
अग्नि बरसायेगी सोन्मेष !
सत्य हित होगा वह युग युद्ध,
विश्व - जन - मंगल होगा ध्येय,
मनुजता के विकास का द्वार !
मुक्त कर देगी ज्योति अजेय !

शक्ति का दर्प मनुज को हिंस्र
दनुज का बना रहा प्रतिरूप,
ध्वंस के लिए नद्ध नर आज
खोदता निज विनाश का कूप !

शक्ति - मद हो जब युग का शान्त
खुले तब रचना - दीप्त दिगन्त,
जगत की भूत निशा का दैन्य
हरे चेतना प्रभात तुरन्त !

अन्ध भय से जर्जर अब विश्व,
चाहिए देश एक स्थित प्रज्ञ,
जिये जो मरे सत्य के हेतु
निखिल जीवन हो जग हित यज्ञ !
जिये, हाँ, जो ईश्वर के हेतु,
अनास्था का जड़ तम कर दूर,
देह - मन से पर जो चिद् ज्योति
हृदय में उमड़े उसका पूर !

मनुजता का ले दिग् अभियान
करे युग अन्तरिक्ष जो पार,
ऊर्ध्व ज्योतिर्मण्डल का बोध
समाधित, भू पर सहज उतार,
रहस् अन्तर्नभ से संकेत
भेज,—दे पुनः सत्य सन्देश,
भेद जड़ भौतिकता का ध्वान्त
भरे भू - मन में नव उन्मेष !

मनुज को अर्जित करनी आज
धरा पर ईश्वरत्व की शक्ति,
लोक - अन्तर्मन का निर्माण
कर सके जो,—संस्कृत हो व्यक्ति !
बृहद् अणु - बल हो रचनाशील
सँवारे बहिर्जगत का वेश,
सँजोये अन्तर्जग का सत्य
आत्म - बल,—भू हो स्वर्ग अशेष !

सत्य ? ईश्वर ? — शब्दों मे बाँध
उन्हें, विबुधों में बनता मूढ़,—
न हो यदि ईश्वर पर विश्वास
(शुभ्र श्रद्धा आस्था अति गूढ़ !)
लोक - मंगल, भू - रचना, शान्ति,
सत्य—ईश्वर के युग प्रतिरूप,
इन्हीं मूल्यों की रक्षा हेतु
लड़े भारत—सह झंझा - धूप !

युद्ध यदि युग - भू पर अनिवार्य
मनुजता हित दे निज बलिदान
अन्ध भू - तम का मुख कर दीप्त
करे भारत - जन - भू कल्याण !
हृदय लेगा दानव में जन्म,
हिंस्र जन को बाँधेगा प्रेम,

सत्य के हित अर्पित कर रक्त,
बढ़ेगा भू का योग क्षेम !
नाश के हित हो जग में नाश
नाश के हित हो जग में नाश
दैत्य पाते इसमें आनन्द,
नाश से हो नूतन निर्माण,—
सृजन ही सित विकास का छन्द !
यज्ञ हो, सामूहिक जन मृत्यु,
नयी भू निखरे, नूतन स्वर्ग,
ध्वंस, नव जीवन का हो द्वार,
मिलें मानवता में गत वर्ग !

युद्ध यदि दुर्निवार युग सत्य—
रक्त वह धोये धरा कलंक
खिले नव जीवन - शोभा पद्म
जन्म दे नव युग को भू पंक !
हिंस्र जड़ भौतिकता को चेत
ऊर्ध्वमुख पाना सौम्य विकास,
यही जन नियति, सृष्टि का ध्येय,
मृत्यु तम में अमृतत्व प्रकाश !
भागवत सत् पर ही विश्वास
लोक - मंगल की करता वृद्धि,
असत् दानवता की उपलब्धि,
शुभ्र सत् मानवता की सिद्धि !
असत् से महत् सृजन - रत सत्य,
अचित् पर चित् की जय अनिवार्य,
तमस से कढ प्रकाश की ओर
सृष्टि जाये—विधि से निर्धार्य !

सभ्य जग में अर्जित कर ज्ञान
प्रौढ़ कवि लौटा अपने देश,
मार्ग में सूर्योदय की भूमि
प्रतीक्षा करती थी अनिमेष !
चम्पई आतप की मृदु देह,
झुके स्मित दृग, रुचि मण्डित केश,
गन्ध फूलों में लिपटे अंग
सहज था शील, सुघर प्रिय वेश !
देख भू का अनिन्द्य सौन्दर्य
किया कवि के मन ने स्वीकार
सूर्य देवी की यह प्रिय भूमि
धरा जन को स्वर्गिक उपहार !
चुवाकर चार ओस की बूंद
सिन्धु - जल करतल में साकार
दिया जिसने द्वीपों को जन्म
धरित्री को पहना मणि हार !

सूर्य - पौत्रों का प्रिय नृप वंश
स्वर्ग - सी भू पर करता राज,
देवता की सेवा के काज
प्रजा बन उतरा देव समाज!
अलौकिक श्री - शोभा का देश
शैल वन हों, नभ सिन्धु अकूल,
युवति वक्षःस्थल, वेणी, वस्त्र—
तूलि चित्रित प्रिय मुख, मृदु फूल!

सहस्रों वर्णों से दिग् दीप्त
सौमनस सुषमा का भू प्रान्त,—
उच्च फ्यूजी का गौरव शृंग
चकित करता दृग,—शुभ्र प्रशान्त!
सँजो फूलों के हँसमुख पर्व
प्रकृति करती, अजस्र अभिसार,
डाल सलिलों पर सतरँग छाँह
देख अपलक वन प्रिय शृंगार!

तने मृदु गन्ध - फेन अरुणाभ
चेरी पुष्पों के शुभ्र वितान,—
बैंगनी फूलों की तरु वेणि,
नील दृग आइरिस हरती ध्यान!
शिखर, वन, सर, स्रोतों की भूमि
घाटियाँ गाती कल - कल गान,
धरा सौन्दर्य - स्थल, छवि मौर,
जुडाती चन्द्रमल्लिका प्राण!

प्रकृति मुख शोभा प्रेमी लोग,—
फूल का पागलपन प्रख्यात,—
दूर शोभा - यात्रा के हेतु
प्रकृति पूजक जाते दिन - रात!
नाचती अप्सरियों - सी चारु
सुघर गेशाएँ उत्सव नृत्य,
मधुरिमा शील - स्नेह की मूर्ति
अतिथियों को करतीं कृतकृत्य!

वाटिकाओं मे हो समवेत
चाय सँग आत्म - शान्ति कर पान,
बुद्ध सौरी के प्रेमी भक्त
प्रकृति - शोभा का करते ध्यान!
टोकियो राज्य नगर विख्यात
जन्म ले चुका अनेकों बार—
हिंडोले - सा भू को भू - डोल
झुलाता—बने नया संसार!

सरल, कौशल प्रिय, कर्मठ, नम्र,
यहाँ नारी रंग - स्मित वेश

स्नेह नय सहृदयता की मूर्ति,
यत्न विरचित जिनके मृदु केश !
कलात्मक श्रमरत - कर सुकुमार,
सूक्ष्म सौन्दर्य बोधमय दृष्टि,
चित्र हो काव्य, नृत्य हो नाट्य,
भाव - रुचि - संस्कृत उनकी सृष्टि !

किमोनो मे चित्रित - सी चारु
यौवना चम्पक - तन वन फूल,
कर्म उर्वर, दिक् सुन्दर भूमि—
दैव इसके प्रति हो अनुकूल !
अन्ध भौतिकता का उन्माद
इन्हें दे पुनः न सेनावाद,
सन्तुलन बहिरन्तर का सौम्य
सभ्यता का सर्वोच्च प्रसाद !

स्मरण कर हिरोशिमा का काण्ड
हरा हो उठा मनुज का घाव,
पुरेगा कब संस्कृति का मर्म,
रुकेगा कब उर - रक्त स्राव !
घाव की ग्लानि निगलकर आज
रच रहा मानव सर्व विनाश,
दीखता—धधक उठे भू - सिन्धु,
घृणा से ढँकता मुख आकाश !

विश्व स्थिति से मन मे अवसन्न
पहुँच फिर तपोभूमि में प्रेम
गया दक्षिण सागर के तीर
खोजने जन - भू योग - क्षेम !
प्रथम भी मिला उसे संयोग,—
खोजने अन्तः सत्य प्रमाण,
गया कवि दिव्य प्रीति के द्वार
ज्योति का पाने नव वरदान !

निभृत आश्रम में आत्म प्रशान्त
योग रत थे श्री - युत् अरविन्द,
दिव्य मानस के स्वर्ण प्रतीक
विश्व मन पर हो स्थित सित इन्द्र !
वहाँ देखा कवि ने दृग खोल
शुभ्र चैतन्य सूर्य आलोक,—
प्राण जीवन - मन से वह सूक्ष्म
तपः संस्कृत हो नव चिद् लोक !

दृष्टि थी कवि के ईश्वर दत्त
उतर आया उर मे अज्ञात—
डुबाकर विश्व बोध का शृंग—
चेतना का नव स्वर्ण प्रभात !

सूर्य - पौत्रों का प्रिय नृप वंश
स्वर्ग - सी भू पर करता राज,
देवता की सेवा के काज
प्रजा बन उतरा देव समाज !
अलौकिक श्री - शोभा का देश
शैल वन हों, नभ सिन्धु अकूल,
युवति वक्षःस्थल, वेणी, वस्त्र—
तूलि चित्रित प्रिय मुख, मृदु फूल !

सहस्रों वर्णों से दिग् दीप्त
सौमनस सुषमा का भू प्रान्त,—
उच्च फ्यूजी का गौरव शृंग
चकित करता दृग,—शुभ्र प्रशान्त !
सँजो फूलों के हँसमुख पर्व
प्रकृति करती, अजस्र अभिसार,
डाल सलिलों पर सतरँग छाँह
देख अपलक बन प्रिय शृंगार !

तने मृदु गन्ध - फेन अरुणाभ
चेरी पुष्पों के शुभ्र वितान,—
बैंगनी फूलों की तरु वेणि,
नील दृग आइरिस हरती ध्यान !
शिखर, वन, सर, स्रोतों की भूमि
घाटियाँ गाती कल - कल गान,
धरा सौन्दर्य - स्थल, छवि मौर,
जुड़ाती चन्द्रमल्लिका प्राण !

प्रकृति मुख शोभा प्रेमी लोग,—
फूल का पागलपन प्रख्यात,—
दूर शोभा - यात्रा के हेतु
प्रकृति पूजक जाते दिन - रात !
नाचती अप्सरियों - सी चारु
सुघर गेशाएँ उत्सव नृत्य,
मधुरिमा शील - स्नेह की मूर्ति
अतिथियों को करतीं कृतकृत्य !

वाटिकाओं में हो समवेत
चाय सँग आत्म - शान्ति कर पान,
बुद्ध सौरी के प्रेमी भक्त
प्रकृति - शोभा का करते ध्यान !
टोकियो राज्य नगर विख्यात
जन्म ले चुका अनेकों बार—
हिंडोले - सा भू को भू - डोल
झुलाता—बने नया संसार !

सरल, कौशल प्रिय, कर्मठ, नम्र,
यहाँ नारी रंग - स्मित वेश

स्नेह नय सहृदयता की मूर्ति,
मरन विरचित जिनके मृदु केश!
कलात्मक श्रमरत - कर सुकुमार,
सूक्ष्म सौन्दर्य बोधमय दृष्टि,
चित्र हो काव्य, नृत्य हो नाट्य,
भाव - रुचि - संस्कृत उनकी सृष्टि!

किमोनो में चित्रित - सी चारु
यौवना चम्पक - तन वन फूल,
कर्म उर्वर, दिक् सुन्दर भूमि—
दैव इसके प्रति हो अनुकूल!
अन्ध भौतिकता का उन्माद
इन्हें दे पुनः न रोनावाद,
सन्तुलन वहिरन्तर का सौम्य
सभ्यता का सर्वोच्च प्रसाद!

स्मरण कर हिरोशिमा का काण्ड
हरा हो उठा मनुज का घाव,
पुरेगा कब संस्कृति का मर्म,
रुकेगा कब उर - रक्त स्राव!
घाव की ग्लानि निगलकर आज
रच रहा मानव सर्व विनाश,
दीखता—धधक उठे भू - सिन्धु,
घृणा से ढँकता मुख आकाश!

विश्व स्थिति से मन मे अवसन्न
पहुँच फिर तपोभूमि में प्रेम
गया दक्षिण सागर के तीर
खोजने जन - भू योग - क्षेम!
प्रथम भी मिला उसे संयोग,—
खोजने अन्तः सत्य प्रमाण,
गया कवि दिव्य प्रीति के द्वार
ज्योति का पाने नव वरदान!

निभृत आश्रम में आत्म प्रशान्त
योग रत थे श्री - युत् अरविन्द,
दिव्य मानस के स्वर्ण प्रतीक
विश्व मन पर हों स्थित सित इन्द्र!
वहाँ देखा कवि ने दृग खोल
शुभ्र चैतन्य सूर्य आलोक,—
प्राण जीवन - मन से वह सूक्ष्म
तपः संस्कृत हो नव चिद् लोक!

दृष्टि थी कवि के ईश्वर दत्त
उतर आया उर मे अज्ञात—
डुबाकर विश्व बोध का शृंग—
चेतना का नव स्वर्ण प्रभात!

ज्ञान - विज्ञान लक्ष्य जो सत्य
न तप मेधा दर्शन से प्राप्त
अनिर्वचनीय तत्व था मूर्त
बुद्धि गोऽतीत सर्व में व्याप्त !

निखिल बोधों का अक्षय बोध,
बिना जिसके जग भूत - विनाश,
स्पर्श मणि,—जड़ जिससे चैतन्य,
ज्योति तम से पर, स्वयं प्रकाश !
अथक मथ अगम गिरा का सिन्धु
व्यक्त हो सका न जिसका अर्थ,
मूर्त देखा कवि ने वह सत्य
सूक्ष्म दर्शन में,—सर्व समर्थ !

गुह्य निश्चेतन से नभ - व्याप्त
दिव्य अतिचेतन तक सोपान
योग सक्रिय था,—दिखा निगूढ़
विश्व का अन्तर्दीप्त विधान !
कोटि सूर्यो - सा हो जाज्वल्य
ऊर्ध्व चिद् विद्युल्लोक विशाल,—
रहा आश्चर्य - चकित, हृत् वाक्
ज्योति तन्मय कवि - उर कुछ काल !

दिखा कवि को विशुद्ध चित् तत्व
सच्चिदानन्द, अनिर्वचनीय,
आदि जो अन्त, रूप का रूप,
शुभ्र सौवर्ण, परम कमनीय !
प्रीति, आनन्द, शान्ति नीरन्ध्र,
ज्योति - रस, श्री - शोभा कर पान
जगा कवि - उर में नव उन्मेष
हुए विस्मय रोमांचित प्राण !

जगत - जीवन में जो कुछ व्यक्त
मात्र उसका धूमिल आभास,—
शक्ति को होना था अवतीर्ण
मनुज का करने ऊर्ध्व विकास !
जगा क्षण - भर में सुप्त प्रबोध
विश्व - जीवन का क्या शुभ ध्येय ?
कौन - सा युग विकास का द्वार,
निखिल मानवता हित क्या श्रेय ?

मिटा माधो के व्रण का चिह्न,
निखर फिर उठा मनोमय लोक,
तीर्थ जल में कर ज्योति स्नान
प्राण हो उठे कृतार्थ, अशोक !
ढला युग - कवि का अन्तश्चित्त
चेतना शोभा में साकार,

प्रेम का तद्गत पावक स्पर्श
खोल देता शाश्वत के द्वार !
अर्थ, तान्त्रिक सामाजिक शास्त्र
ज्ञान - विज्ञान - बोध का सार—
समन्वय से वह तत्व विराट्
मूर्त था—शब्द अर्थ के पार !
नाद का था कवि को अवलम्ब—
चेतना का पा अब नव लोक
उठ रहे थे जब भू से पाँव
लिया उसको वाणी ने रोक !
शुभ्र पद्मासन पर ध्यानस्थ
स्वर्ण प्रतिमा ने अपलक देख
जगा कवि तन्त्री में झंकार
खींच दी सम्मुख भावी रेख !
हरित अप्सरी समान अनिन्द्य
प्राण यौवन से भरी अनन्त
धरा फहरा वन सुरभि दुकूल
खोल उर में सौन्दर्य दिगन्त—
विहँस बोली,—प्रकाश का वीर्य
किसे सौंपोगे, कवि, छविकार ?
धरा ही की वह उर्वर योनि
उगाने का जिसको अधिकार !
बिना धरणी का ले आधार
शून्य में होगी ज्योति विलीन,—
ओस - से पिघल अग्नि के बीज
ज्वाल विरहित—होंगे बलहीन !
सत्य दो तत्वों का एकात्म्य—
प्रेम जिसका स्व - रूप, सित नाम,
इधर जड़, उधर वही चैतन्य
सृष्टि श्रेणी जिसका परिणाम !
धरा जीवन के बन्धन खोल
नयी चेतना करो संचार,
इसी से तुमको, वत्स, अनन्त
स्वर्ग का मिला अमर उपहार !
छिपा था भू - प्राणों में सूर्य
फूटती स्वर्ण - हरित थी ज्वाल,
चकित देखा कवि ने,—भूपिण्ड
चेतना का नीराजन - थाल !
निरख भू का चैतन्य स्वरूप
बढ़ी मृद् - प्रतिमा प्रति अनुरक्ति,
पुष्ट करता था जड़ विज्ञान
सकल जड सत्ता सक्रिय शक्ति !

गन्ध - ग्राही कवि मधुकर कर्म,
जगी हृत्तन्त्री में गुंजार,
कल्पना के फड़के सित पंख,
चुना कवि ने भू मधु रस सार!
कला रुचि, प्रतिभा भगवत् देन,
चूम चख शोभा उपवन फूल,
मोम - सी भाव - बुद्धि से नम्र
रचा चिच्छत्र लोक अनुकूल!

रुपहली थी आश्रम में शान्ति
सिन्धु - सी निस्तरंग गम्भीर,
सुनहला प्रति मानस आलोक—
ज्योति के हों सहस्र सित तीर—
व्याप्त था आर - पार,—नीरन्ध्र
संगठित था जीवन चैतन्य,
लोटता प्राणों में आनन्द,
धरा पा स्वर्ग - स्पर्श थी धन्य!

दिव्य भावों के स्वर्ण मरन्द
लिपट रोमांचित करते प्राण,
ज्योति - निर्झर - सी झर सित - धार
प्रेरणा गाती मन में गान!
विचरती सुन्दरता श्री - मूर्ति
शूल बन जाते पद छू फूल,
प्रीति थी बाहर भीतर मुक्त—
प्रीति सरिता भव सिन्धु अकूल!

खुल रहे थे नव शोभा - लोक
मनो नयनों में छबि - अनिमेष,
चेतना आभा से था पूर्ण
स्वप्न सौरभ मधु का परिवेश!
सिहर उठता था सुख से गुह्य
शिराओं में गा स्वर्णिम रक्त,
अलौकिक आकर्षण था व्याप्त
अभीप्सा प्राणों में अव्यक्त!

शान्ति भी अनुभव करती शान्ति
प्रीति की निःस्वर विद् झंकार,—
शुभ्र अन्तर्मुख मणि सोपान,
दिव्य आत्मा की हो सित द्वार!
ज्योति आनन्द मधुरिमा पर्व
मनाती प्रकृति, भेद भय त्याग,
बरसती स्वर्गिक भूति असीम,
समर्पण,—श्रद्धामय अनुराग!

देख आश्रम अम्बर में दीप्त
औपनिषदिक चित् सूर्य प्रकाश,

सभ्यता क्यों अब रिक्त, अपूर्ण,—
हुआ कवि के मन में विश्वास!
खड़े कर भौतिक पंजर भव्य
आज पश्चिम जग में विज्ञान
दिव्य आत्मिक आभा से शून्य
हृदय स्पन्दन विहीन, निष्प्राण!

विरस आध्यात्मिकता में मग्न
भग्न भारत मे जीवन दैन्य,
अचिर भौतिक वैभव मे मत्त
ध्वंस पश्चिम में, हिंसा, सैन्य!
समन्वित कैसे रस अध्यात्म
धरा जीवन में करे विलास,
इन्द्रियों के मन्दिर मे शुभ्र
देवता करें पवित्र निवास!

व्यक्ति उन्नयन मान आधार
नहीं सम्भव जन - भू उद्धार,
सोचता वंशी,—भगवत् ज्योति
धरा पर हो कैसे साकार!
ऊर्ध्व जीवन,—इसका क्या अर्थ?
कहाँ समदिक् पथ में अवरोध?
जगा मन्थन कवि - उर में तीव्र,
कलुष तम का हो क्या प्रतिशोध?

व्यक्ति हो देह प्राण रज मुक्त
धरा पर लाये ऊर्ध्व प्रकाश,—
सिद्ध हो सके न पूर्व प्रयत्न,
पूर्ण हो सका न मनोविकास!
मूल्यगत कही दृष्टि का दोष,
कही भगवत् जीवन प्रति भ्रान्ति,
जगत ही में ईश्वर का वास,
प्रकृति पथ ही में स्वर्णिम शान्ति!

प्रकृति गुण हों आत्मा हित पाश,—
कर्म - गति, विधि पर आया क्रोध,—
खुले सहसा तम - लौह कपाट,
हृदय में उतरा स्वर्णिम बोध!—
दिखा अग - जग में ईश्वर व्याप्त,
खोजना था न उसे अन्यत्र,—
मनुज सम्बन्धों को कर शुद्ध
स्वर्ग को रचना था सर्वत्र!

न ईश्वर के हित थी अभिप्रेत
मनुज को निज आत्मा की शुद्धि,
मनुज प्रति बने मनुज - उर मुक्त,—
न अब संशय मे थी कवि बुद्धि!

शून्य में थे कितने ही सिद्ध
श्रवण कर चुके अनाहत - नाद,
द्रवित हो सका न बहरा नील,
मिटा जन - धरणी का न विषाद !

नहीं जब तक होगा चरितार्थ
राग का जग में मुक्त विकास,
द्वेष दंशित भू पर विष तिक्त—
न सम्भव सित भगवत् उल्लास !
यही स्वर्णिम सामूहिक द्वार
चेतना का सुरधनु स्मित सेतु,
मुक्त - उर नारी - नर हों पार
प्रीति का फहरा ऊर्ध्वग केतु !

यही सामूहिक भगवत् मार्ग
राग का सित आदान - प्रदान,
काम का मुख हो रश्मि प्रदीप्त
भाव गुम्फित नर - नारी प्राण !
ऊर्ध्व प्रेरित हों जीवन मूल्य
प्रेम की हों सब जन सन्तान,—
चाहिए जीव जगत् को आज
ज्ञान से आलोकित विज्ञान !

भावना ही वह स्वर्णिम रज्जु
जनों को करती भगवत् युक्त,
मनुज - उर में ईश्वर का वास,
मनुज के प्रति हो उर उन्मुक्त !
सदाशय हो व्यक्तिगत प्रयत्न
न सम्भव उनसे भू - कल्याण,
पलायन - मुक्त लोक - भू - प्रीति
करे जन - धरा - स्वर्ग निर्माण !

मनुज सत् पर करना सन्देह,
जगन्मिथ्या का होना भान,
जीव को कहना अशुभ - स्वभाव,
भेद मति का निर्मम अज्ञान !
सत्य ही की रे सत्ता एक,
वही चर अचरों का संस्थान,
मनुज निश्चय ईश्वर का अंश
भले जाने न मनोविज्ञान !

न जब तक सामाजिक परिवेश
बनेगा ईश्वर के अनुकूल,—
न होगा प्राण भुवन छबि दीप्त,
न डूबेंगे गत नैतिक कूल !
जाति - वर्णों में मूल्य - विभक्त
रहेंगे मनुज ऊँच या नीच,

मतों - धर्मों में वर्ग विदीर्ण
स्वार्थगत स्पर्धाओं के बीच !

न जप तप संयम ज्ञान विराग
मुक्ति या इष्ट - सिद्धि के द्वार,
राग चेतना शुद्धि ही पूर्ण
भागवत भक्ति, मुक्ति का सार !
शान्ति, सौन्दर्य, प्रीति, आनन्द
धरा पर करें सतत अभिसार
राग हो शुद्ध बुद्ध जो मुक्त
हिरण्यात्मा हो थी साकार !

मन्दिरों मे बन प्रस्तर मूर्ति
हो गया ईश्वर निष्क्रिय आज,
नाम आस्था का अन्ध प्रतीक,
सम्प्रदायों में छिन्न समाज !
मनुज सम्बन्धों में धर रूप
दिव्य को करना भाव - प्रवेश,
हृदय हो उसके सुख का धाम,
दृगों में उसका रूपोन्मेष !

काम बन मानवीय, रस - शुद्ध
रचे नव शोभा का संसार,
प्राण सुख वैभव से महिमाभ
धरा - जीवन का कर श्रृंगार !
न आध्यात्मिक सास्कृतिक विकास
मनुज जग में सम्भव निर्बाध—
तीर - सी चुभे फूल छवि देह,
प्रेम यदि रहे पुष्पधनु व्याध !

खुलेगी यदि न काम की ग्रन्थि
रहेगी बुद्धि धूम - आच्छन्न,
वन्य नर देश - जाति कुल भक्त
रहेगा षड्रिपु खड्ग विपन्न !
खोल उन्मुक्त हृदय के द्वार
प्रीति - शोभा - जग में विस्तीर्ण,
पिये मानव शाश्वत मुख हर्ष
अग्नि - दीक्षा में हो उत्तीर्ण !

राग चेतना स्वर्ग सित वह्नि,
शुद्ध भगवत् आनन्द स्वरूप,
तपे इसमें, निखरे उर स्वर्ण,
मनुज हो ईश्वर के अनुरूप !
ऊर्ध्व अन्तर्मुख वह प्रभु - भक्ति,
बहिर्मुख जन - भू - जीवन - शक्ति,
बहे भू प्राणों में चिन्मुक्त
प्रेम को मिले पूर्ण अभिव्यक्ति !

सोच रहा था प्रेम,
कैसे खुले हृदय की ग्रन्थि कठोर,
गाहा उसने गुह्य
प्राण भुवन—जिसका था ओर न छोर !

अवचेतन तम अन्ध—
जब तक उसका करे न नर संस्कार,
राग मुक्ति प्रभु ध्येय—
नहीं करेगी मनुज बुद्धि स्वीकार !

रुद्ध राग ही बन भीषण अणु अस्त्र
जन जीवन का करने को संहार,
धरा योनि तम भरता गुरु हुंकार—
खोलो, नर, खोलो निरुद्ध उर द्वार !

ज्योति-द्वार

१. अन्तर्विकास

खोलो बुद्धि कपाट
झरती ज्योतिर्धार,
जग विकास क्रम क्षेत्र
निराकार साकार
हो अन्तः रस सृष्टि
बहिर्जगत व्यापार,
भू हो संस्कृति केन्द्र
स्वर्ग करे अभिसार !

निभृत कौन चल रहा मनोभू पर
स्वप्न सुभग, चेतना सजग पग धर,
खोल सुनहले गोपन वातायन,
बरसा रस शोभा प्रकाश निर्झर !
अन्तर्जीवन का स्वर्गिक प्लावन
तन - मन - प्राणों को करता मज्जित,
आत्मा के अन्तर्मुख यौवन से
हृत् तन्त्री आनन्द छन्द झंकृत !
मुक्त प्रीति के संस्कृत स्पर्शों से
स्वर्णिम संगति में बँधता जीवन,
नव मानव की अस्फुट चापों से
शनैः गूँजता कला शिविर प्रांगण !
खुलते सित लावण्य लोक उर में
नव भावों का भर रस सम्मोहन,
उपचेतन इच्छा पावक में तप
कांचन बनता प्राणों का यौवन !
नयनों की नीलम जल - सरसी में
रूप - चेतना तिरती स्वप्नप्रभ,

सद्यःस्फुट फूलों - से मासल तन
स्नेह मधुर बरसाते उर सौरभ !
राग चेतना की शोभा सम्पद्
नव यौवन उर में होती जागृत,
अननुभूत सौन्दर्य बोध से घिर
जीवन मुख होता अभिनव भासित !
उषा लाज लोहित सुरबाला - सी
मोहित मानस क्षितिजों पर आती,
षड्ऋतुओं की धूपछाँव ओढ़े
मधु अनन्त यौवना धरा भाती !
स्वप्न - मंजरित - से लगते गृह वन
सुन अन्तः - प्रेरित कल पिक कूजन,
कलियों की पंखड़ियाँ रँग उठतीं
गन्ध मदिर स्वर पी मधुकर गुंजन !
जन - धरणी की हरीतिमा लगती
मखमल ज्वाला - सी जीवन मांसल,
भावों की कलिका उर मे अपलक
फैलातीं स्वप्नों के रेशम दल !
उस संस्कृति के नन्दन कानन की
परिक्रमा करतीं षड्ऋतु छन्दित,
जहाँ चेतना मन का रस वैभव
जीवन मंगल मे होता सर्जित !
ग्रीष्म तड़पता, अन्तर्ज्वाला को
आत्म - शान्ति सुख मे करने मज्जित,
संघर्षों के उठ प्रचण्ड अन्धड़
जन भू मानस को करते कम्पित !
बांसो के वन - सा जलता युग मन,
अणु विस्फोटों का निदाघ भीषण
यहाँ खोजता शाश्वत सुख तन्मय
बन्धूक पुष्पों - से आशा के क्षण !
पावस झरता रस उर्वर बनने
तड़ित् स्फुरण से होने उन्मेषित,
श्री - सुषमा की रस - फुहार बरसा
मरकत भू पर बिछने हर्ष हरित !
इन्द्रधनुष प्रभ स्वप्न सेतु रचकर
भू - जीवन हित बनने आरोहण,
भाव - बोध का बर्ह व्योम खोले
पी-खग स्वर में कह नव प्रणय वचन !
स्निग्ध शरत् मुसकाती आंगन मे
निज शशि - मुख से उठा वाष्प-गुण्ठन,
धूपछाँह आँचल - सी जड ज्योत्स्ना
हो अन्तर आभा प्रतीक चेतन !

कांस फेन की फूल सेज मे जग
नव वन गन्ध दुकूल धरे तन पर
कमल - मुखी फेरती हंस - ग्रीवा
चंचल खंजन चितवन से मन हर !

हरसिंगार - शोभा पडती झर - झर
स्वच्छ चेतना दर्पण - से सरि - सर,
कुन्द स्मिति, मालती मुकुल पुलकित
पक्व शालि तन श्री शारद सुन्दर !

हिम आती, युग के पतझारों का
नग्न देह - पजर ले लज्जाऽवृत,
शिशिर लोटती, धूल भरे मुख को
जीवन - गरिमा से करने मण्डित !

कैसे हो विवसन जन - मन कानन
विश्व - चेतना - श्री मे दिङ् मुकुलित,
अन्ध कुहासों से धूमिल भावी,
जीवन - डाली अश्रु - तुहिन विजड़ित !

सूने मानस, विश्री मुख सरसिज,
दु:सह दैन्य समीर सर्प दंशन,
जौ गेहूँ मे रोम हरित जन - भू
प्रीति स्वर्ग खोजती लोध्र लोचन !

नव वसन्त हँसता रस प्रांगण में
चिर किशोर मन ले, अनन्त यौवन,
स्वर्णिम केसर की अलकें मुख पर,
घनीभूत सौरभ से विरचित तन !

पाटल ज्वालाओं के सुलगे वन,
मुद्ग प्रवाल क्षितिज भरते मर्मर,
गन्ध मरन्द ग्रथित समीर अंचल,
नील रेशमी रश्मि छत्र अम्बर !

फालसई तूली से स्वर्ण किरण
चित्रित करतीं गृह पथ पुर कानन,
बहुरंगी छायाओ में लिपटे
स्वर्ग स्नात - से लगते भू - रज - कण !

खुल पडते कलियों के क्वारे भग
सुन मधु गुंजन, कर रज गन्ध स्रवण,
ज्वाल पख फूलों में खिल उठती
धरा योनि की कांक्षाएँ मादन !

महके हलके पीले चम्पक वन,
गाते ताम्र क्षितिज पल्लव - चंचल,
जगी आम्र मंजरियां रोमांचित
ज्वलित पलाश शिखा के दिङ् मण्डल !

कोकिल आशा का सँदेश देती
चीर प्राण मन का विषण्ण गह्वर,

सौरभ, निःस्वर रस तन्मय करती,
छू पराग की लपटों से अन्तर!
चिर यौवना प्रकृति के अंगों से
फट पड़ती सौन्दर्य कान्ति नूतन,
नव वसन्त की, आत्मा अग जग में
रूप दृष्टि का भरती सम्मोहन!

गूढ सांस्कृतिक क्रान्ति हृदय भीतर
चलती, कला शिविर - मू रस मन्थित,
नव प्रकाश के अन्तरिक्ष खुलते
भाव-विभव से कर उर को विस्मित!
रजत बैंगनी अधिमन शृंगों से
दीप्त प्रेरणाओं के झर निर्झर,
सूक्ष्म प्राण - वीणाएँ झंकृत कर
भरते अन्तस् में स्वर्णिम मर्मर!
मुक्त युवक - युवती जन निज मन में
गाढ़ एकता का करते अनुभव,
देह भाव की रज को अतिक्रम कर
कृच्छ्र जन्म लेता समग्र मानव!
रहस् सुरभि जाने किन सुमनों की
अन्तर भुवनों से उड़कर आती,
अमृत चेतना के रस स्पर्शों से
प्राणों को आलोकित कर जाती!
विस्मित लगती भू, प्रहसित अम्बर,
रस क्षितिजों में उड़ता प्रेरित मन,
अहं बोध से निखर खर्व स्त्री - नर
मुक्त भोगते आत्मा का यौवन!

विश्व भ्रमण से लौट क्रान्त कवि ने
देखा केन्द्र अभीप्सा था अनुक्षण,
अपलक जन लोचन, पुलक स्मित स्रक्,
हृदय प्रदीप सँजोये नीराजन!
शंख - ध्वनि से कर सित अभिवादन
गाया स्त्री नर ने स्वागत गायन,
कुसुमित बन्दनवारों से रच पथ
मंगल घट से सँजो शिविर प्रांगण!
शुभ्र हर्ष वह ध्वनित हुआ दिशि में
मुक्त भावना पंखों पर उड़कर,
अपने ही घर में अभिनन्दित हो,
शील संकुचित हुआ सुकवि अन्तर!

भाव लास्य कर नव युवती जन ने
मुद्राओं में बांधे आलिंगन,
नूपुर ध्वनि - झंकृत कर जीवन - क्षण,
वक्र भ्रुवों के रचे दीर्घ तोरण !
युवकों ने बन मार्ग बीथि स्मित दृग
युग - कवि को सम्मान दिया सानत,
कला प्रमोदों, क्रीड़ा नाट्यों से
संस्कृत युग - नर का कर वर स्वागत !
पुष्पहार ले छात्रों से कवि ने
हरि को पहनाया द्रुत उपकृत मन,
उसे हृदय से लगा हर्ष विह्वल,
स्नेह उच्छ्वसित, वाष्प द्रवित लोचन !
देखा हरि ने सिन्धु पार जाकर
लौटा संस्कृति - पिक प्रबुद्ध, विकसित,
क्रान्त दृष्टि का स्वप्न विश्व स्थिति के
वस्तु - बोध से हुआ शक्ति - मण्डित !
वंशी हरि का निश्छल प्रेम मिलन
हो पंग्वन्ध समागम युग कांक्षित,
मिले प्रेरणा - कर्म भाव - तन्मय
हुए चेतना - प्राण प्रीति - अर्पित !
हरि के तप से युवकों के भीतर
जन्म ले रहा था नव मनोभुवन,
विश्व क्रान्ति का चीर युगान्ध तमस
हँसता हो चित् स्वर्णिम नव पूषण !
देखा कवि ने संस्कृति मन्दिर में
तम प्रकाश खोजते विशद जीवन,
सूक्ष्म राग चेतना तरुण उर के
रस मूल्यों में भरती संयोजन !
भावोद्वेगों में मचती हलचल
मन को मथते गोपन संवेदन,
प्राणों के शोभा पावक में तप
घटते उर में अघटित परिवर्तन !
खोल अचेतन तम के जड़ शृंखल
रजत मुक्ति अनुभव करता, उठ मन,
देह कामना बनती स्वर्णोज्वल
सहजीवन का पा सित अनुशासन !
अनुशासन, अनुशासन, कहता हरि,
अनुशासन ही जन - भू का जीवन,
अनुशासन की वज्र रश्मि से बिंध
सम्भव सामूहिक जन संवर्धन !
उपचेतन छायाप्रभ घाटी में
बहता मोहित सुषमा का प्लावन,

आँख - मिचौनी खेल मुग्ध जगता
रश्मि प्रेरणाऽकाशों में यौवन !
इन्द्रिय द्वारों से आ - जा बाहर
मन सित जीवन मधु करता संचय,
भू इच्छाओं का मुख दीपित कर
आत्मा के स्वर्गिक वर से अक्षय !
भावों की हीरक सरसी में तिर
संवेगों के हरित पुलिन छू - कर
रसोन्मुक्ति में मज्जित होता उर
चिन्मूल्यों के मुक्ता चुन भास्वर !
मनु का सुत बन आत्मा का मनसिज
मुक्त विचरता, मानस रस ईश्वर,
जन - भू को कर जीवन - श्री उपकृत
भू - रज में रत, भू - रज से ऊपर !
सिन्धु गर्त गूँगे निश्चेतन के
हो उठते नव इच्छा से गुंजित,
सित सामाजिक प्रीति - सेतु बनकर
अन्ध वासना होती रस दीपित !
ज्वलित प्रवालों के गिरि शिखरों पर
इन्द्रनील घन आभाएँ तिरती,
पीरोजी मरकत तलहटियों में
मर्म स्पृहा की मदिर घटा घिरती !
निश्चेतन उपचेतन अतलो से
अतिचेतन आकाशों तक प्रसरित,
सुगल रही थी पावक सागर - सी
प्राण भूमि, आनन्द - ज्वार स्पन्दित !
कवि मानस शिखरों पर था उमड़ा
जो श्रद्धा आस्था प्रकाश का घन
शत रस धाराओं में वह झरता
कला पीठ को कर शोभा चेतन !
कहता कवि मन, ईश्वर को होना
भू संस्कृति में रस वैभव मूर्तित,
निज सन्निधि की चन्दन सौरभ से
जग को कर पावनता में मज्जित !
अहं बुद्धि के, जड़ भू स्थितियों के
निर्मम व्यवधानों को कर लुण्ठित,
मनुज ऐक्य की मंगल गरिमा से
जन मन को होना श्रद्धा मण्डित !
विचरे मानव सँग भू पर ईश्वर
दिशि क्षण हों चित् सम्पद् में कुसुमित,
बुद्धि भावना, धर्म काम, इह - पर
भू - मानस में हों नव संयोजित !

जीवन शोभा हो नव प्रभु प्रतिमा,
जन - प्रांगण देवालय श्रद्धा स्मित,
मानव हृदय मिलन ही तीर्थस्थल,
भू-मंगल प्रति हो रति कृति अर्पित !
ध्यान धारणा, प्रणति भावना में
सीमित हो क्यों स्रष्टा का पूजन ?
श्रद्धा भक्ति कृतार्थ न हो सकती
पत्र पुष्प भरकर प्रभु को अर्पण !
रचना मंगल श्रम से ही जन के
सम्भव जीवन ईश्वर का अर्चन,
जन - मन की उन्नत आकांक्षा ही
प्रभु पद पूजन की पवित्र साधन !
निश्छल उर नैवेद्य अनघ निश्चय
सरल दृष्टि ही अपलक नीराजन,
अस्थि मांस की स्वस्थ देह मन्दिर,
जन - जीवन - गरिमा ईश्वर दर्शन !
नव सम्बन्धों मूल्यों में विकसित
प्रेम - मूर्त होना प्रभु को भू पर,
ज्योति: क्षितिजों में खुल अन्तर्मुख
बने नाम साकार, रूप नव धर !
जीवन की रस संस्कृत श्री - सुषमा
सृजन प्राण ईश्वर को हो अर्पित,
यौवन - मासल अवयव संगति ही
आराधन उपकरण भाव - सुरभित !
चिन्मय में तन्मय जीवन - इच्छा
ऊर्ध्व स्पर्श पा हो उठती ज्योतित,
भेद - बुद्धि अन्तश्च्युति ही रे अघ,
प्रेम सृष्टि यह,—पाप पुण्य विरहित !
हुआ गूढ़ अनुभव कवि के उर में
स्वर्ग खण्ड हो संस्कृति केन्द्र सुघर,
मनोभुवन नव,—जगती में उसको
मिला न ऐसा भावैश्वर्य अमर !
एक सिन्धु - निर्झर था उतर रहा
श्री - शोभा रस स्वप्नों से मुखरित,
नहीं व्यक्ति हित सम्भव, सामूहिक
रस - असीम सम्पद् करना संचित !
फिर भी लगता धरा स्वर्ग कवि को
जन्म नहीं ले सका प्रेम भू पर,
खिल न पंक में सका ऊर्ध्व सरसिज,
उलझ गये निशि-अलकों में शशिकर !
नवल राग - चेतना भाव नभ में
सुरधनु रस वैभव करती वितरित,—

प्राण कामना का पावक रखता
उपचेतन सलिलों को समुच्छ्वसित !

भूली मनोदृगों में युग द्वाभा
कवि की दृष्टि गयी बाहर - भीतर,
जीवन आकांक्षा का वारि प्रलय
लिये हुए था स्वर्ग चेतना वर !
नव वसन्त के क्रीडा उपवन में
सौन्दर्योत्सव मना रहे थे जन,
रूप रंग मधु रसमय विश्व प्रकृति
आमन्त्रण देती मन को प्रतिक्षण !
खोल पल्लवों के नव वातायन
उषा दिखाती शील - सलज आनन,
पावक क्षितिजों से झर रजत किरण
धोती जन रज पावक भू - प्रांगण !
रंग शिखा फूलों के दीप जला
उपचेतन को वाणी दे कुसुमित,
पर्व मनाता जन - भू का यौवन
रज के तम को कर दिगन्त दीपित !
सुन्दरता,—गाते फूलों के क्षण,
सुन्दरता ही धरती का जीवन,
सुन्दरता !—भू का मुख निर्गुण नभ
मुग्ध देखता, अपलक नील नयन !
मुक्त समीरण कहता कँप थर - थर—
महानन्द ही आत्मा का यौवन,
स्नेह श्वास - सा लिपट चराचर में
करता भू पर उर सौरभ वर्षण !
गा उठता पिक अन्तःसुख विस्मृत,
गन्ध स्फुरण पा भरते अलि गुंजन,
जाने कैसी रहस् वृष्टि होती
रस तन्मय हो उठते जीवन क्षण !
जाने कितने धूपछाँह चित्रित
पंखों में उड़ मधु अम्बर गाता,
प्राणों का आनन्द - मुखर रस घन
शत कण्ठों से कलरव बरसाता !
ज्योति प्रीति सौन्दर्य मधुरिमा मिल
भू पर मुग्ध मनाते स्वर्गोत्सव,
कोमल रंग - ध्वनि, मधु परिमल से
स्थूल इन्द्रियों में भर सूक्ष्म विभव !
शोभा की ज्वाला - अंगुलि से छू
जन-भू का हिम - जर्जर जड़ खँडहर,

अगणित मांसल रंगों से भरती
नव वसन्त चेतना धरा - पंजर !
चपल सरोवर जल से उठ ऊपर
अन्तः स्मित खिलते अपलक पुष्कर,
मूल अचेतन जड़ - कर्दम में रत
दिव प्रकाश में लीन मुक्त अन्तर !
नव संस्कृति सन्देशवाह बनकर
युवक - युवति जन गाँवों में जाते,
नव युग का अभियान कुटीरों में
कर्म वचन, तन - मन से पहुँचाते !
मानवता के दूत जनों में घुल
भू - मन की रचना करते नूतन,
बीज स्वच्छता का बो जन - भू में,
शोभा का स्वर्णांकुर कर रोपण !
मनुज प्रेम में बाँध लोक - मन को
दैन्य निराशा का हर दारुण तम,
लोक प्रेरणा की किरणें बरसा
प्रोत्साहित करते सामूहिक - श्रम !
स्फटिक स्वच्छ, श्री - सुन्दर हो भूतल
जीवन - मूल्यों पर देते वे बल,
श्रम की गति लय में निर्मित हो मन,
जीवन - रचना - श्रम ही में मंगल !

जाग रहा था शनैः रुद्ध जन - मन
ग्राम धरा का होता रूपान्तर,
जड़ अतीत से जूझ अथक, अविरत
अभिनव कर पाता भू - मन में घर !
जन्म - कर्म - फल कर्दम से निष्क्रिय,
रूढ़ि रीति कृमि से भू - मन जर्जर—
भाव - भूमि नव देनी थी जन को
विधि-निषेधतम, नियतिनरकभयहर !
जाति - वर्ण प्रेतों से जन पीड़ित
गत आदर्शों मानों से शासित,
श्री समग्र बनना नव मानव को
बहु उर में हो पुनः एक स्थापित !
पशु नर हो न सका था परिमार्जित
अभी प्रेम का हृदय रुद्ध भू हित,
काम तप्त, कटु स्वार्थ लिप्त जन मन,
शोभा भू पर भीत, असंरक्षित !
गत भू - जीवन वृत्त व्यक्ति केन्द्रिक
नव विकास - क्रम में होता विघटित,

राग द्वेष स्पर्धा, पर-निन्दा रत
जाति वंश कुल परिजन में सीमित !
प्रीति मुक्ति के साथ द्वेष कुण्ठा
दुराचार को करना उन्मूलित,
पूर्ण प्रस्फुटित हो न प्रीति जब तक
नैतिक संयम अपरिहार्य निश्चित !
लघु आँगन, खलियान, खेत, पशु, हल
लाँघ जीर्ण मेड़ें, खेड़े, पुर, घर,
निखर रहा था धीरे नव मानव
निकल घरौंदों विवरों से बाहर !
कला शिविर का अन्तः सुरभित श्रम
नव जीवन में होता श्री कुसुमित,
मानव गरिमा के प्रतीक लगते
गाँवों के स्त्री नर शोभा संस्कृत !

होड़ लगी हो ज्यों प्रकाश तम में
दो वर्गों में थे जनपद भाजित,
एक नव्य के प्रति जीवन-अर्पित
प्राक्तन मद से इतर अहं दर्पित !
नव के आगम से हर्षित कुण्ठित
गुह्य विरोधों में थे जन खण्डित,
ज्योति तड़ित् के शक्ति पात से हत
धरा चेतना स्तर थे आन्दोलित !
कुछ दुर्मति-ग्रामीणों के मन में
धधक रहा था गुप्त विरोधानल,
कला-शिविर सौष्ठव प्रति-स्पर्धा-रत
फैलाते जन-मन में घृणा गरल !
हीन भावना पीड़ित नव शिक्षित
घृणा द्वेष विष दंशन से कुण्ठित
स्वप्न पलायन कहते संस्कृति को
भौतिक वैभव मद से आकर्षित !
परम्परा प्रिय वृद्ध मौन रहते
सह-जीवन के प्रति मन में शंकित,
भोगी कामी रिक्त हाथ मलते
क्रीड़ा-कन्दुक नारी जिनके हित !
क्षणिक बहिर्जीवन गति का पूजक
जड़ यथार्थ हँसता अवहेला कर,
अन्तर्जीवन चिद् वैभव के प्रति
जाग्रत् था न धरा जन का अन्तर !
समझ न पाते कला पीठ आशय
लघु साधारणता में खोये जन,

जनरव फैला माधो के अनुचर
आग उगलते कवि के प्रति अनुक्षण !
द्वेष दग्ध, कुण्ठित, युवकों का मन,
आत्म रिक्त थे प्रौढ़, पराजित पण,
अहम्मन्य पागलपन के पूजक—
विश्व ह्रास विघटन का था युग रण !
कहते संस्कृति दूत नम्र स्वर में
द्वेष प्रेम ही का दिग् भ्रान्त चरण,
छोड़ो घृणा विरोध—निशा का पथ,
करो ज्योति रस का अभिषेक ग्रहण !
हम जन - भू प्रेमी, मानव सहचर,
जीवन शोभा शिल्पी श्रद्धामय,
आत्म प्रकृति पर विजयी हो जन को
विश्व विकृतियों पर भी पानी जय !
उच्च धरातल पर अन्तर्योजित
कला शिविर का जीवन-रस संस्कृत,—
लोग प्रेरणा ग्रहण करें उससे
धरा-स्वर्ग जग में वह ज्योति गठित !
क्षुद्र अहंता स्पर्धा से उठ जन
नव प्रकाश का कर अब आवाहन,
छोड़ें एकांगी भौतिक आग्रह,
अधः ऊर्ध्व में भर नव संयोजन !
ग्राम नहीं हो नगरों - से दूषित
जीवन रचना हो अन्तः संस्कृत,
भौतिक विभव शिला पर हो स्थापित
मानव आत्मा सौध स्वर्ग चुम्बित !
खोलो बुद्धि अहं पट रुचि निर्मम
छोड़ो वस्तु विभव मद, स्थिति पुंजित,
कवि से लो स्वर्णिम रस अमृत कलश
नव आस्था को कर तन- मन अर्पित !
सम्प्रदाय मत धर्म न यह दर्शन,
स्वप्न सत्य बनता जाता नूतन,
अश्रुत पग धरता मानव ईश्वर,
मूर्त बन रहा हो, अमूर्त प्रतिक्षण !
ज्योति स्पर्श हो मिला तुम्हें गोपन
जन - भू मार्ग करो आ निर्देशन,
भटक रहा यदि अन्धकार में मन
कवि प्रकाश में खोलो उर लोचन !
अहंकार ही अन्धकार दुर्गम,
भेद बुद्धि, तम की ही ग्रन्थि गहन,
जो प्रकाश का साथ न देंगे जन
अन्ध कूप ही बना रहेगा मन !

विश्व ह्रास के कर्दम सागर में
कृमियों - सा रेंगता जन जीवन,
दुर्गम कुद्ध बिच्छू - सी आहत मति
घृणा द्वेष के देती विष दंशन!
ज्योतिवाह बनना अविरत जलना,
इष्ट ज्योति को पूर्ण समर्पण नित,
कवि की हृदय शिखा से निज मन को
रस शोभा में करो स्वप्न दीपित!

इस प्रकार वे भू - जीवन प्रेमी
जन - भू - मन को करते सम्बोधित,
सूक्ष्म चेतना के बहु पक्षों को
भाव श्रेणियों में कर उद्घाटित!
आस्था - प्राण अनेकों सरल हृदय
नव्य प्रेरणा किरणें कर संचित,
घृणा द्वेष कल्मष से कढ़ बाहर
नव भू - रचना प्रति होते प्रेरित!
भव संस्कृति के स्वप्न सँजो उर में
क्षुद्र अहंता से कर संघर्षण
भू - रज को शोभा उर्वर करने
जीवन का सित श्रम करते अर्पण!
उच्च धरातल पर रस मंगल के
शुभ्र संगठित कर वे निज तन - मन
युग - कर्दम संस्कृत श्रम - जल से धो
अक्षय चित् सम्पद् करते वितरण!
रचना उन्मेषों के पावक से
मन.स्वर्ग करते भू पर निर्मित,
दीप्त चेतना - नभ में रोहण कर
भाव विभव मन में भर रस संस्कृत!
शतियों से जीवन कुण्ठित स्त्रीजन
मर्म - उष्णता का करतीं अनुभव,
धरा शिल्पियों की प्रिय वाणी में
मिलता उनको सत्य स्पर्श अभिनव!
काम - दग्ध जग - जीवन के मरु में
चातक - सी प्यासी मृगजल सुख हित,
स्वाति चेतनाऽमृत पीकर, उर में
भरता रुद्ध प्रहर्ष - स्रोत रस - सित!
रुढ़ि-ग्रस्त, भय कल्मष - गढ़ गत - मन
स्वस्थ घात पा रस चिति का भीतर,
सुलग उठा नव शोभा लपटों में
ऊर्ध्व अभीप्सा के नभ को छूकर!

रीढ़ - हीन रेंगा करती रज में
जीवन आकांक्षा, सहसा जगकर,
नव प्रतीति के शुभ्र पंख फड़का
उड़ी भावना कापा ऋत अम्बर!

नव जीवन शोभा गरिमा का जग
मनोदृगों में हुआ मौन जागृत
देह बोध की धूल झाड़ मन से
प्राणों में रस छन्द हुआ झंकृत!

जीवन - गृहिणी ने मानव - भू पर
नयी दृष्टि डाली जन प्रीति द्रवित,
उपचेतन का जग रस - उपकृत हो
नव सुख में हो उठा भाव मुकुलित!

अन्तःपुर मे पैठ क्रान्ति चुपके
बरसाती जागृति चिनगी प्रतिक्षण,
राग चेतना की सित ज्वाला में
काम-द्वेष कल्मष बनते व ईंधन!

विस्तृत जन पथ, निशि विद्युद्दीपित,
पुष्प वाटिकाएँ, विहार, पुष्कर,
उन्नत विद्या मन्दिर, ग्रन्थ भवन,
नगरों - से लगते जनपद सुन्दर!

पहिले से सम्पन्न सभ्य थे जन
सह कृषि, बहु उद्योग यन्त्र विकसित,—
मध्य वर्ग की स्पर्धा कुण्ठा से
अर्थ लुब्ध जन जीवन अब पीड़ित!

मौलिक परिवर्तन था आवश्यक
सम विकास पद्धति पर आधारित,
आर्थिक क्रान्ति यथेष्ट न थी साधन
भू को होना था अन्तः संस्कृत!

नहीं दिखायी देता जनगण में
मनुष्यत्व का श्री - नव संवर्धन,
एकांगी समदिग् भौतिक जीवन
मनुज उन्नयन पथ हित था बन्धन!

बाह्य धरा जीवन रचना के सँग
अन्तः रचना होनी थी निश्चित,
भू अन्तर्दीपित हो, रस संस्कृत,
केन्द्र इन्हीं ध्येयों से था प्रेरित!

सृजन कर्म, सहृदयता, स्नेह ग्रथित
सुन्दर स्वच्छ सरल हो भू जीवन,
ऊर्ध्व ज्योति - सौन्दर्य - प्रीति वाहक
अन्तर्वैभव प्रेमी हो जन मन!

शत सहस्र रतियों के दंशन-सा
शाश्वत रस, आनन्द स्पर्श पुलकित,
सूक्ष्म प्रेरणा से भर हृदय गुहा
आत्मा के अतलों में हो जागृत !

सामूहिक भौतिक विकास तल पर
शिविर चाहता था करना स्थापित
स्फटिक सौध नव मानव संस्कृति का
स्वर्णिम चित् किरणों से आलोकित !

साध्य नहीं था बाह्य यत्न से ही
स्वर्ग पीठ भू पर करनी निर्मित,
कृच्छ्र आन्तरिक साधन तप से भी
सृजन शान्ति से रही धरा वंचित !

बहिरन्तर गतियाँ संयोजित कर
बढ सकता मानव जीवन का रथ,—
चेतन अविजित अश्व, मृच्छकट जड़,
सारथि सित रस ज्योति, विपुल भू पथ !

मानव को अब निज प्रबुद्ध कर में
प्रगति रश्मि ले, करनी संचालित
जटिल विकास सरणि भू जीवन की—
समतल को कर ऊर्ध्व ओर प्रेरित !

भावों के संस्कृत ऋत पावक से
गत पाहन मन को करना विगलित,
बहिर्जगत मद से मूर्छित जन को
अन्तर्जीवन के प्रति कर जीवित !

पर्वत बाधाएँ सम्मुख दुर्वह,
नव के प्रति चेतना नहीं जागृत,
बहिरन्तर दुर्लंध्य दैन्य दुख तम,
अहं कूप में जन जीवन सीमित !

अन्तर्द्रष्टा था युग कवि का मन
देख रहा था वह भावी आनन,
मनःस्वप्न उसका—न उसे संशय,
कल का जीवन, वस्तु सत्य नूतन !

जन जीवन के बहुमुख पक्षों को
छात्र सँजोते नव चित् स्पर्शों से,
नव प्रकाश से उन्मेषित कर मन
अनुप्राणित हो नव आदर्शों से !

जीव-वृत्त के जाने किस युग में
प्रागितिहास करों से सम्पुंजित
हुआ संगठित मानव अवचेतन
निर्मम प्रतिक्रियाओं से निर्मित !

अधः ऊर्ध्व मानव मन के स्तर छू
दृष्टि अन्ध कोनों को कर ज्योतित
कटु नृशंस ईर्ष्यालु भीरु पशु को
मनुज बनाना था नव रस - सस्कृत !

जन धरणी के ओर छोर का तम
आवेशों उद्वेगों से मन्थित
झंझा पीड़ित था विपण्ण सागर,
ज्योति सेतु नव करना था विरचित !

जाति वंश कुल के संस्कारों को
नव जीवन आस्था में कर विकसित
क्षुद्र घरौंदों से उबार जन को
मानवता में करना था गुम्फित !

भू पर था संक्रान्ति काल भीषण
बँटते जाते देशों के जन, मन,
अकुलाते नर - बन्दी अणु दानव
भरता मन - ही - मन विनाश गर्जन !

रिक्त मतों, जड़ जीवन मूल्यों में
पथरा से थे गये नागरिक जन,
राजनयिक आर्थिक पद्धतियों के
पाटों में पिसता हत जन - जीवन !

गोपन आशंका थी जन - मन में
अरि न आक्रमण कर दे फिर भू पर,
अन्तर्राष्ट्रिय स्थिति का भी जनरव
आन्दोलित रखता उनका अन्तर !

बुद्धि प्राण नागरिक मुण्ड दर्पित,
गत जीवन - बोधों से जन पीड़ित,—
कला मनोरति, सुन्दरता मदिरा,
भू - विकास गति - क्रम से उच्छेदित !

अन्तर आस्था पथ से भू - मन में
ज्योति नींव नव करनी थी स्थापित,
नयी दृष्टि दे जीवन प्रति जन को
शुभ्र चेतना रस से अनुप्राणित !

जन - ग्रामों में उग भू - जीवन की
स्वर्ण हरित चेतना प्रीति संस्कृत,
शुभ्र बुद्धि तम से कवलित मन को
करे हृदय की प्रतिकृति में निर्मित !

वासन्ती सौन्दर्य पर्व में कवि
नव रस मूल्यों को करता वितरित,
जीवन शोभा विकसित प्रांगण को
राग - चेतना से कर सित सुरभित !

शोभा सज्जा में भूषित स्त्री नर
नव वसन्त - श्री का कर अभिनन्दन,
गीत नृत्य रस भाव व्यंजना से
सृजन चेतना का करते अर्चन !

लोक - नृत्य - गीतों का रच उत्सव
जन - संस्कृति में भरते वे नव स्वर,
मुखरित कर जन - भू प्राणों का सुख
धरती गा उठती उनके भीतर !

हाव भाव लय, अवयव संगति में
जीवन - शोभा होती रस कुसुमित,
उपचेतन पावक लपटों - से वे
गहरे रंगों में लगते शोभित !

जीवन - लहरें जीवन - लहरों से
टकरातीं, हो हर्ष ज्वार मज्जित,
युवक - युवतिजन भावों की लय में
तन्मय होते प्राण स्पर्श प्रेरित !

सौरभ में घुलती मिलती सौरभ
उर से मिल उर होते सुख पुलकित,
खुलते श्री - सुषमा के अगणित स्तर
मधु आत्मा होती दिगन्त मुकुलित !

नयनों के स्मित नील - मुक्त नभ में
उड़ता मन फैला स्वप्नों के पर,
आत्मा का सुख छूता आत्मा को
स्वर्ग विभव से प्राण गुहा को भर !

देह - प्राण के खुलते पट पर पट,
अन्तर भुवनों में कर मन रोहण
रस सित आभा सरसी में करता
चित् शोभा सलिलों में अवगाहन !

स्वप्नों की सुरधनु सम्पद् हँसती
मनोदृगों को कर सौन्दर्य चकित,
भाव सेतु पर अन्तः क्षितिजों के
सुर बाला आतीं नूपुर - झंकृत !

मानस शिखरों पर झर रश्मि विभव
मोहित करता प्रज्ञा के लोचन,
तम प्रकाश के भू - विकास रण में
विजय ज्योति की कर निःस्वर घोषण !

अर्थ काम के उमड़ तृषातुर घन
धरा उदर में करते संघर्षण,
सृजन कर्म—सामूहिक जीवन का
विश्व शान्ति हित करता आवाहन !

उठता चिति मुख से भू छाया पट
मन के अन्धे स्थल कर आलोकित,

खर्व मानसिकता से जग मानव
धरा स्वर्ग ध्रुव तक लगता विस्तृत !
फेंक रूढ़ियों का कूबड़ भू पर
ऊर्ध्व रीढ़ चलता वह अन्तःस्थित,
गत जीवन के बौनेपन से कढ़
देह भाव तज, आत्म बोध दीपित !
युवति युवक रस स्मित नक्षत्रों-से
जीवन शोभा सरसी में बिम्बित
आत्म नग्न तिरते, सित संयम से,
अंगों की इच्छा को कर शासित !
रचनात्मक बन राग, संयमन से,
सृजन प्रेरणा में होता सजित,
प्रीति सर्व-गत सामूहिक रस बन
भाव मुक्त अब फिरती अकलंकित !
मुक्त प्रेम की नींव डाल गहरी
भू-जीवन प्रासाद स्वर्ग चुम्बित
स्थापित करने को आतुर था कवि
शुभ्र रस कलश धर,—जन-मंगल हित !

देखे कवि ने युवति युवक प्रमुदित
क्रीड़ा-वन अंचल में एकत्रित,
रूप रंग मय रुचिकर वेशों में
एक राग के स्वर-से लय झंकृत !
हलके गहरे रंगों की मैत्री
नव मधु वभव को करती लज्जित,
फूलों-से मृदु अंगों में अँगड़ा
धरा चेतना लगती दिक् शोभित !
चटकीले रँग में भूषित दक्षिण
हीरक कनियों से हरता लोचन,
फूल अँगूरी, हवा गुलाबी पट
सलज उत्तरा के विमोहते मन !
स्वर्ण कान्ति, रस स्वर्ण कलश लेकर,
स्वर्णिम स्मिति किरणें बरसा भू पर,
स्वर्ण द्वार खोलती स्वर्ग शोभा
स्वर्ण अलक से मुख दिखला सुन्दर !
रंगों की सौ छायाएँ चल-फिर
श्री-सुषमा का रचती सम्मोहन,
अग-जग को कर छवि रहस्य मण्डित,
शशि-किरणों का धर मुख पर गुण्ठन !
मखमल साटन ज्वाला मे लिपटी
पंजाबी युवती थीं जीवन प्रिय,

रक्त गौर पावक गुलाब - सी स्मित
स्नेह मुखर, सौन्दर्य शिखा, सक्रिय !
जन उत्सव रत, कर्मठ, मिलन कुशल,
संकट - अविचल, पथ करती निर्मित,
उन्नाबी, कासनी, कुसुम्भी पट
फुल्ल यौवना पर फबते निश्चित !
रूप गर्विता राजस्थान वधू
आभिजात्य गरिमा से मुख मण्डित,
प्रीति व्रता, मृदु स्मिता, दीप्ति लतिका,
गोरी भोरी, तन्वी, चित्रांकित !
लँहगे चूनर की शोभा - लहरी
मरुथल उर रखती पायल मुखरित,
पीत, केसरी, तूनी, अलवानी
मिश्रित पट - छाया में परिधानित !
प्रीति प्राण, शोभा नत, रस संस्कृत
जल विहगों - सी स्नेह स्निग्ध चितवन,
बंग युवतियाँ थीं बहु कला कुशल
भाव यौवना, अर्पित जीवन मन !
शील मूर्ति, लम्बे, लहरे कुन्तल,
स्वर्ण घण्टियों - से श्रुति कोमल स्वर,
फालसई, चम्पई, सरदई रुचि
धूपछाँह - सी तिरती प्रिय तन पर !
गुजराती बाला थीं श्री - निर्मल
सौम्य सुघर संस्कारों से कल्पित,
कला रंगिणी, पति परिजन प्रीता,
मार्दवता की लतिका, मुख मुकुलित !
उनके निश्छल अन्तः सौष्ठव से
कला शिविर का जीवन था सुरभित,
सोनपीत, सूही, गुलबाँसी रँग
गौर त्वचा पर लगते प्रतिबिम्बित !
ऊर्ध्व रीढ़, श्री संयोजित अवयव,
महाराष्ट्र - कन्या थीं दीप्तानन,
दीप शिखा - सी तेजस्वी तनिमा
कार्य दक्ष, कर्तव्य निष्ठ, दृढ़ मन !
कला - पीठ की संस्कृति में पोषित
ऊषा - सी लगती वे रस दीपित,
सिन्दूरी, सोसनी, सेमई धज,
कच्छ बाँधती, नव यौवन दर्पित !
नीलारुण रवि किरणों में लालित
कश्मीरी मुग्धा विधि - कर विरचित,
हिम शृंगों - सी थी अनिन्द्य गरिमा,
मणि निर्झर - सी लीला गति झंकृत !

मृदु गिरि मुकुलों से ले कोमलता
चार वायुओं से चंचल यौवन,
वह निसर्ग प्रतिमा - सी सद्य खिली—
स्वप्न नील अपलक रसमय चितवन !

नाल कमल लटके चल श्रुतियों से
हँसी मोतियों की लड़ - सी मुखरित,
कचनारी, काही, मूँगी, तूती
मसृण रेशमी शोभा में भूषित !

नृत्य भंगि निपुणा दक्षिण वामा
गीत- कण्ठ में जलधि - तरल लय-स्वर,
धीर, अकुण्ठित, पट संस्कृति विरहित,
सरल हृदय, जीवन - पथ की सहचर !

सद्गृहिणी, अनुश्रुतियों में पालित,
षड् रस व्यजन प्रिय, सात्विक जीवन,
हरे, मँजीठी, चम्पी, गुलनारी
चटक कौश मृदु वसन, रत्न भूषण !

मेघों से निकली शशि - बाला - सी
यवन नारियाँ भाती सद्यः स्मित,
बुलबुल गाती मुग्ध मदिर स्वर में
स्वप्न भरी चितवन अजस्र विस्मित !

लाज लता - सा खिला लचीला तन
शिष्ट शील प्रतिमा, शोभा - गुण्ठित,
करौंदई, पिस्तई, लाजवन्ती
रग अंग छू हो उठते जीवित !

अन्य प्रदेशों की भी थी नारी
धरा स्त्रीत्व सुषमा ही एकत्रित,
कोमल अंगों का मुकुलित मधुवन
भू - पथ भावों से रखता सुरभित !

प्रिय लगते नव छवि कुसुमित तन मन,
उरोभार, अवयव संगति शोभन,
भृकुटि लास, मधु स्मिति, चल नील नयन,
सुन्दर,—रूप पुरस्कृत भू - जीवन !

कृश कटि, शिखर उरोजों में उठ - गिर
नव यौवन - श्री, रेखा - छवि अंकित,
मुक्त - हस्त लावण्य शिल्प - वितरित
ऊरु श्रोणि पर शोभा - सम्पुंजित !

शिष्ट युवक थे बल पौरुष प्रतिनिधि
वंश प्ररोहों - से दृढ, ऊर्ध्व, अभय,
पुष्ट पेशियाँ, नम्य स्नायु, मृदु त्वच,
स्त्रीवत् गरिमा, हृदय शौर्य तन्मय !

सुधर कला - संस्कृत स्थितियाँ पाकर
युवति - युवक- मानस होता विकसित,
काम द्वेष से मुक्त राग - परिणति
सरसिज वन - सी भाती सद्यः स्मित !
नव भावों के सौष्ठव से वेष्टित
सृजन प्रेरणा अर्पित, अन्तः स्थित,
तन का यौवन अतिक्रम कर स्त्री-नर
मन के यौवन से थे सुख पुलकित !
देख रूप - वैभव कहता कवि - मन
नारी तुम भू - शोभा हो अक्षय,
भू पर अभय फिरेगी जब शोभा
स्वर्ग उतर आयेगा तब निश्चय !
विविध प्रदेशों के रस द्रव्यों के
प्रीति - भोज से गुंजित था उपवन,
भारत रसना सम्पद् पर विस्मित
छात्रों सँग करते विनोद गुरुजन !
विविध विदेशों की किशोर तरुणी
कला शिविर संस्कृति में थी दीक्षित,
मुग्ध भाव सौन्दर्य, परिष्कृत छबि,—
जीवन मधु - रस वैभव में लालित !
बहिर्मुखी भौतिक सम्पद् स्तर पर
देह - प्राण के मूल्यों में सीमित
सुख विलास के मधुर क्षणों में रत—
राग चेतना थी न ऊर्ध्व विकसित !
नवल जैव मूल्यों से परिचालित
प्रीति तत्व से थीं न पूर्ण परिचित,
प्राणों के मरकत सागर तट पर
खुलता अन्तस् में गवाक्ष रस सित !
अन्तर्जीवन के पथ से धीरे
कला - पीठ में होतीं वे संस्कृत,
अन्तर्मुख भावों की चित् स्वर्णिम
श्री - शोभा उर में करतीं संचित !
वायवीय मार्दव से तन निर्मित
ऋतु कुसुमों-सी सुरँग सुरुचि सज्जित,
सहज स्नेह मधु सौरभ का अन्तस्,
मुक्त-प्रकृति आनन्द - स्पर्श पुलकित !
भाव गौर पश्चिम की बालाएँ
कला पीठ को रखती श्री स्पन्दित,
उनके प्राणों में भू - जीवन का
स्वर्ण छन्द रहता यौवन झंकृत !

नत था कवि - मन ईसा के सम्मुख
जिसने जीवन - प्रेम दिया जन को,
ममतामय सक्रिय मानव करुणा
स्वर्ग - राज्य भू-स्वप्न दिया मन को !

दुखमय, मिथ्या बतला भू - जीवन
जिसने नहीं सिखाया ऋण - वर्जन,
पाप पुण्य भय त्रस्त मनुज उर को
चित् शोणित से किया धौत पावन !

प्रेम प्रकाश धरा उर व्रण में भर
किया चेतना का रस रूपान्तर,
नव संस्कृति सौन्दर्य बोध देकर
ईश्वर की प्रतिछवि बतलाया नर !

पश्चिम का जन जीवन ईसा के
प्रभु के मुख का रहा न अब दर्पण,
धर्म दिवंगत ! राम, कृष्ण, गौतम,
ईसा को बनना प्रकाश नूतन !

संस्कृति - प्रांगण में मिल नारी - नर
नव जीवन में करते अवगाहन,
विश्व भावना पट में कर गुम्फित
नव्य चेतना स्वर्णिम पावक कण !

अतिक्रम कर गत - भू - मन - बाधाएँ
नव रस शिखरों पर कर आरोहण,
न्यस्त स्वार्थ से मुक्त विचरता मन
देश - जाति के लाँघ क्षुद्र प्रांगण !

अन्तरिक्ष युग का व्यापक सित पट,
नयनों के सम्मुख होता अंकित,
विवरों से कढ़ चींटों - से लघु नर
मानव सागर बनते दिग् विस्तृत !

पंख खोल उड़ता जड़ भू - मानस
नव्य चेतना नभ में ज्योति द्रवित,
नक्षत्रों के हार गूँथ मानव
जन - भू चरणों पर करता अर्पित !

बहती उर से उर में सहृदयता
मन को छूते मन के संवेदन,
सहज उमड़ता स्नेह धरा के प्रति
पुष्प हृदय से उड़ ज्यों सौरभ घन !

खर्व नीति पाशों को कर खण्डित
लघु साधारणता से उठ ऊपर
जड़ यथार्थ की धूल पोंछ मुख से
आदर्शों का भेद रिक्त अम्बर—

उमग भावना उठती हिल्लोलित
भू - जीवन के कर विरोध मज्जित,

झुला प्रीति पलने में मानव को
भू-मन के कल्मष कर अवगाहित!
दीप्त चेतना नव जन गृहिणी-सी
ऋत भू-जीवन-शोभा कर रोपित,
उर्वर करती जीवन-मन के स्तर
प्राणों के स्वर्णिम सुख से सिंचित!
इन्द्रिय दर्पण में बिम्बित प्रभु मुख,
मनोगुहा ऊषा से आलोकित,
अन्तस् की पावक रस सरसी में
तिरती शोभा देह बोध विरहित!
'अन्तर्मन के स्वर्ण नील में उड़
मनो भावना मधु पिक-सी गाती,
रजत अनिल कर साँसों से सुरभित
इच्छाएँ रस तन्मय हो जाती!
राजनयिक भू-जीवन संघर्षण
स्वर संगति में बँध जाते विस्तृत,
ऊर्ध्व ज्योति से समदिक् जड सीमा
हो उठती चित् स्वर्गों में विकसित!

अन्ध विरोधों में जन-भू प्रागण
द्वेष-भक्त अब ध्वंस-नद्ध भीषण,
समतल युग मन ऊर्ध्व बोध वंचित
जड़ीभूत, गिनता निज अन्तिम क्षण!
व्यक्ति साधना का कृश पथ निष्फल,
गत अमूर्त आस्था श्रद्धा कुण्ठित,
भू विकास की पृष्ठभूमि से च्युत
आदर्शों के शृंग धूलि लुण्ठित!
सामूहिक पथ नव भू-मानव हित
शुभ्र भावना रस से अभिसिंचित
कला शिविर रचता, जीवन श्रम रत,
स्वर्ण प्रीति में कर स्त्री-नर गुम्फित!
भू-रज से कर मुक्त भावना पग,
मनश्चेतना सोपानों से सित
हीरक शिखरों पर नव युवति युवक
विचर सकें—चिद् आभा में मज्जित!
खुलें प्रेरणा क्षितिज मनोदृग में
सुर सम्पद् अन्तः शोभा दीपित,
सूक्ष्म भावना स्वर्गों में उठ मन
भू को करे अमर गरिमा मण्डित!
नव मूल्यांकन कर भू-जीवन का
देखे नर ईश्वर-महिमा जीवित,

तन - मन प्राणों के सुख-वैभव में
इन्द्रिय द्वारों तक आत्मा प्रसरित !
शृंगों से नव शृंगों पर विचरे
गत भू - मन छाया से उठ ऊपर,
नव प्रकाश रस दंशन प्रति चेतन
भोगे अभिनव आनन्दों का वर !
मान - चित्र बदले जन - धरणी का
नव जीवन - पद्धतियाँ हों विकसित,
देश - जाति कारा से कढ पृथ्वी
मानवता की प्रतिमा हो जीवित !
अधिनीलों में जहाँ अरुणिमाएँ
रजत दीप्तिमाओं मे प्रतिबिम्बित,
फालसई आभा रस भुवनों मे
हृदय स्वर्णिमा में रहता मज्जित !
आत्मा के श्री - शरद प्रसारों मे
भावों की शत आभा फहराती
सुषमा की स्मित रत्नच्छायाएँ
प्राणों की सरसी मे लहराती !
नव वसन्त - श्री क्रीडा उपवन मे
फिरती भू तारुण्य मूर्ति कुसुमित,
फूल ज्वाल रंगों में वेष्टित तन,
अवयव गन्ध मरन्दों से विरचित !
वर्ण छटाओं के सहस्र सीकर
फूट पड़े हों भू के अन्तर से
नव यौवन आवेगों से पुलकित
प्राणों के रस पावक निर्झर - से !
रंगों का प्रिय पर्व मनाती भू
सोन जुही, कामिनी, जपा फूली
अलक्तकी, ताँबई, पतंगी दिशि,
नारंगी, माधवी लता भूलीं !
नील गगन के नीचे फालसई
गगन पुष्प - छत्रों का कर निर्मित
फुल्ल जैरकण्डा,—गुलमोरों की
रक्त - पीत श्री से अब पथ शोभित !
अमलतास के स्वर्णिम मुकुटों से
हरित वनानी लगती आभूषित,
रंग स्पर्श से नव मधु पावक के
भू - यौवन हो उठता रस पुलकित !
दृष्टि अन्ध करती पुष्पों की रज,
मदिर गन्ध से मलय अलक गुम्फित,
त्वच-रंग किसलय से दिशि-अंग मासल,
कुन्तल - घन छाया करती मोहित !

नव कनेर टेसू अशोक के वन
यौवन अंगारों - से दिग् - दीपित,
आम्र मौर, चम्पक, चन्दन मुकुलित,
कचनारों में हँस भू रोमांचित !

मधु स्वप्नों से ले शोभा साधन
रूप रंग रुचि सौष्ठव की प्रतिमा,
सार भाग चुनती सर्जन प्रतिभा —
कला - दृष्टि से रच जीवन प्रतिमा !

युवती - युवक विचरते रस स्पन्दित
भाव प्रहर्षों से अन्तर झंकृत,
राग चेतना करती आरोहण
नव श्री - शोभा वैभव से दीपित !

निखर युवतियों की छवि से युवती
सूक्ष्म भावना सौरभ से कल्पित
नव श्री - सुषमाओं में सी लिपटीं
मन की आँखों को करती मोहित !

राग - चेतना इधर तरुण उर में
भाव स्वर्ग करती नव उद्घाटित,
उधर रूप रस पावक स्पर्शों से
उपचेतन को करती आन्दोलित !

रूप मोह था शेष युवक गण में
लगता उर में गुह्य द्वैष दंशन,
मुक्त विचरतीं जब नव सुहृदों सँग
गन्ध अनिल लहरी - सी युवतीजन !

स्फटिक शिला पर बैठ प्रीति शंकर
मधु उर - भावों का करते विनिमय,
सोनपीत नव मुकुलों में सुलगी
पास रुक्मिणी सुनती रस तन्मय !

सागर लहरी रेशम में परिवृत
प्रीति कला - शशि - सी लगती शोभित,
स्वच्छ केवड़ी कुरते में शंकर
शील नम्र, निःस्वर अन्तः संस्कृत !

प्रणय चन्द्रिका व्याप्त हृदय भीतर
जिसकी स्थिति से प्राण न थे अवगत,
लोक कर्म में रहते उभय निरत
मर्म चेतना स्मृति रस में तद्गत !

एक मधुर झंकृति उनके उर में
सृजन प्रेरणा भरती जन - भू हित,
लोक श्रेय की आस्था से सुरभित
प्राण कामना को करती विकसित !

व्यक्ति प्रेम था या वह सार्वजनिक
सहज न सम्भव था इसका निर्णय,
व्यक्ति केन्द्र था, विश्व परिधि सुखमय,
भू - मंगल हित हृदयों का परिणय !
प्राणों से उठकर, उर मे केन्द्रित,
भोग न रह वह देह - बोध सीमित
हृदय - सुरभि का भरता भू प्लावन—
संस्कृति रस सम्पद् थे उर अर्पित !
सोच रहा था भाव मुग्ध शंकर
देख प्रीति का मुख,—सुख से विस्मृत,—
तुम ऊषा हो, या पवित्र ज्योत्स्ना
सद्यः स्फुट सौरभ - तन में मूर्तित !
सित शोभा सरसिज - सी अन्तःस्मित
छू पाते जिसको न स्पर्श - प्रिय कर,
भाव रूप परिमल पराग - सी उड़
भरती मौन. मधुरिमा से अन्तर !
तुमको बिना छुए ही हो उठती
आत्मा आत्मा के सुख में मज्जित,
श्री - सुषमा ऐश्वर्य फूट मन से
प्राणों को करता विस्मय मोहित !
क्या है प्रेम ? जलधि रस - पावक का,
तन - मन - जीवन होते क्षण में लय,
प्राणों की तृण इच्छा जल उठतीं,
मनोगुहा मे होता स्वर्णोदय !
गुह्य स्पर्श पा जिसका पागल उर
अग - जग पर हो उठता न्योछावर,
सुषमा रस आनन्दों के नभ में
कर्दम से उठ फैलाता मन पर !
तुम्ही प्रेम हो क्या, शोभा प्रतिमे,
चिर रहस्यमयि, खोलो अवगुण्ठन,
स्वप्नों की मधु रस निर्झरि, तुमसे
अन्तःसुख में मुखरित मेरा मन !
कितनी सुषमाओं में कितने शशि
तुम्हे देख उगते निरभ्र मन में,
रूपों की स्वर्णिम छाया तिरती
निर्निमेष नयनों के दर्पण में !
गौर मराल मिथुन शोभा - स्पन्दित
चम्पक सरसी मे सोये भाते,
प्रणय - स्रोत कण्ठ - ध्वनि से प्रेरित
कितने पिक, कितने पी खग गाते !
अपलक नीलों में उड़ आकुल मन
नीड़ खोजता सुरधनु सुख निर्मित,

हृदय - चेतना - रस - आभाओं मे
भाव - पंख लिपटा आशा - दीपित !
मधुर गीति लय - सी चित्रित स्मिति से
लगता जीवन का दिगन्त प्रहसित,
मधु स्मृति पुलकित फूल लताओं में
निखिल स्वर्ग का सुख वैभव वेष्टित !
प्राण, तुम्हारे भाव गौर तन मे
स्वर्ग उपाएँ हों शत श्री - मूर्तित,
इतना पावन हो सकता रज तन
मन निज मित संयम तप पर लज्जित !
उच्च नीलिमा किन नीहारों की
झाँक रही स्मित नयनों से निस्तल,
पंख खोल उड़ता स्वप्नों का मन
किन शोभा आकाशों में निर्मल !
घन उरोज किन रस आनन्दों के
स्वर्ण हंस—चिद् गौर सलिल दोलित,
प्रीति श्रृंखला - सी अटूट बाँहें,
जघन मूल शोभा - तरु - आत्मा हित !
जी करता, तुमको मन मन्दिर में
नव श्रद्धा आस्था में कर स्थापित,
सित रचना श्रम से नव भू - जीवन
करूँ तुम्हारी शोभा में निर्मित !
तुम्हें समर्पित कर तन - मन - जीवन
शाश्वत यौवन के सुख में तन्मय,
जन - संस्कृति का स्वर्ग रचूँ भू पर
आत्मा इन्द्रिय में भर रस अन्वय !
शुभे, तुम्हें सम्मुख पा मेरा मन
नव्य चेतना में करता रोहण,
शुभ्र सन्तुलन की तुम सित प्रतिमा,
स्वर्ग मर्त्य की स्वर संगति नूतन !
स्वर्णिम नीलों से झर चिद् वैभव
हरित प्रसारों में हो मधु गुंजित,
रस प्रतीति से, अमृत प्रीति से तुम
जन - भू को करने आयी उपकृत !
प्रिय सन्निधि से होता मन पावन
तीर्थ जलों में कर ज्यों अवगाहन,
सर्व प्रीति बनती तुममें आत्मिक,
बिन्दु बिन्दु में तुम रस सिन्धु गहन !
तुम्हें बाहुओं मे भरने को मन
सहसा हो उठता जब लालायित,
सौ शोभाएँ तुमसे सूक्ष्म निखर,
मधुर रूप धर करतीं उर विस्मित !

काम पंक से ऊपर उठ भू के
तुम अनिन्द्य सौन्दर्य पद्म - सी स्थित,
कौन सत्य का सूर्य तुम्हें करता
स्वर्गिक भाव परागों मे विकसित !
शुभ्र प्रीति आनन्द शान्ति शोभा
प्रथम बार नारी - तन में मूर्तित,
सुलभ हो सका आज धरा मन को
गोचर सूक्ष्म अगोचर रस निश्चित !
फूट ज्योति रस निर्भर रोम्रों से—
उसे कहूँ चैतन्य, भाव गरिमा ?—
पूत गन्ध से भरते तृप्त हृदय
अँटती शब्दों मे न अतुल प्रतिमा !
प्रणय निवेदन कहूँ, समर्पण या
मोह शोक कुण्ठा शंका विरहित,
भर जाता सित आस्था से नत उर
प्रेम स्वर्ग भू पर करने सर्जित !

सुर वीणा - सी बोली कलध्वनि कर
प्रीति —स्वर्ण किंकिणियो-सी झंकृत—
देख रूप मे तुम अरूप शोभा
सार्थक करते कला दृष्टि निश्चित !
निज वैभव मे रहा न उर परिचित,
पहिले ज्ञानोदय हो तुम, शंकर,
आत्मबोध देकर जिसने मुझको
दिया स्वर्ग जीवन का भू पर वर !
देख मूर्त ही मे अमूर्त तुमने
रज मे विरज, क्षणिक ही मे शाश्वत,
दृष्टि मनुज को दी जीवन - नूतन,
नाम वृन्त पर खिला रूप अक्षत !
जिसे बुद्धि मन निज अक्षमता से
किये हुए थे इह पर में खण्डित,
भाव दृष्टि ने उसे पूर्ण कर फिर
किया जगत को प्रभु से संयोजित !
राग शुद्धि ही सृष्टि ध्येय स्वर्णिम
विश्व समस्याएँ जिसके आश्रित,
विस्तृत हों भू स्थिति, विकसित जन-मन,
बदले जीवन परिभाषा निश्चित !
मुक्त सुरभि - सा प्रेम बसे उर में
नर - नारी जीवन कर रस संस्कृत,
रचना शोभा में तन्मय हो मन
जीवन-मधु जन-मंगल हित संचित !

प्रीति भुक्ति स्थित हो सित संयम पर
उभय परस्पर हो रस संवर्धित,
स्फटिक शिला पर उर्वर संयम की
हर्म्य प्रेम का उठे स्वर्ग चुम्बित !
अमृत प्रीति,—आत्मा से अनुशासित
धरा - स्वर्ग स्वप्नों से अनुप्राणित,
भू - रज पर लोटे,—जीवन पावन,
स्त्री-नर उर कर स्वर्ण रश्मि गुम्फित !
ग्रहण शील हो तुम विनम्र शंकर,
प्रेम शक्ति को करो मूर्त, सार्थक,
लघु सत्यों से शासित भू - जीवन,
लांघो भू - तम, कर पुरुषार्थ अथक !
देखो, सम्मुख ज्योति लोक शाश्वत
कब से मौन प्रतीक्षा - रत अपलक,
काम पंक से उठे धरा जीवन
राग बने प्रज्वलित प्रेम पावक !
भू - जीवन हो श्री - शोभा मण्डित
नव वसन्त आत्मा से आलिंगित,
जन के तन - मन प्राणों का पतझर
प्रीति स्वर्ग में हो दिगन्त मुकुलित !
सृजन - कर्म रत रहो वधू - भू हित
हृदय - ज्योति से कर उसको भूषित,
रूप मोह हो भाव प्रीति विगलित,
स्वर्ग शान्ति उतरे भू पर श्रम-सित !
व्यक्ति प्रेम सामूहिक सागर में
करे रजत धारा श्रद्धा - अर्पित,
खुले हृदय की राग ग्रन्थि,—शोभा
भोग करें नर - नारी रस संस्कृत !
अन्ध धरा तम के व्यवधानों को
धैर्य शौर्य से करना पद लुण्ठित,
गत भू - मन से कर कटु संघर्षण
अभिनव को करना जीवन मूर्तित !
गत अन्तः संगठन वृत्त अवसित,
बिखर रहा भू - मन समदिक् तट पर,
रसः शुभ्र शिखरों पर ऊर्ध्व विचर
अधिक बहिर्मुख खुले मनुज अन्तर !
प्रीति - मुक्त बरसे सित रस वैभव,
श्री - शोभा हो जन जीवन का धन,
कृमि - सा रेंग रहा भू कर्दम में
काम द्वेष से विजित लोक - जीवन !
तन - मन की ही गतियाँ जगती में
नहीं हो सकीं जीवन संयोजित,

मनुज हृदय का स्वर्ग हमें भू पर
स्थापित करना भाव-विभव संस्कृत !

पुष्प वीथियों में एकान्त विचर
युवति - युवक करते पर्यालोचन,
राग - ग्रन्थियाँ खुलती मानस की
सुर वन में उन्मुक्त पिकी कूजन !
जीवन क्या ? करते विचार विनिमय,
निश्चय ही आनन्द सृजन का क्षण,
संस्कृति ? अन्तः पावक स्पर्शों से
श्री - शोभा मुकुलित हो जन-कानन !
बँध प्रतीति के स्वर्ण - सूत्र में मन
स्वप्न मंजरित धरे धरा जीवन,
प्रीति प्राण विचरें निर्भय स्त्री - नर
उपकृत हो रस गुंजित नव यौवन !
कहते वे, गत संस्कारों का मन
विश्व - मुक्ति के लिए लौह बन्धन,
अतिक्रम कर इतिहास नीति दर्शन
उठे चेतना में स्वर्गिक प्लावन !
तन को दे रस भोज स्नेह सित तन,
शोभा स्वप्नों में हो तन्मय मन,
हृदय सृजन - आनन्द छन्द झंकृत,
हो कृतार्थ प्राणों का भू - जीवन !
यौन कर्म हो रस पवित्र संस्कृत,
देह—प्रणय स्वप्नों की मुग्ध शयन,
फूलों के मधु शोभा तलों पर
शुभ्र प्रीति ले जन्म स्वर्ग पावन !
मानव रचना - मंगल में हो रत,
आत्मा अन्तः सम्पद् में दीपित,
प्रकृति वक्ष की मांसल शोभा में
ईश्वर ही हो स्वयं भाव - मूर्तित !

शोन चमेली के निकुंज भीतर
लेटी थी अरुणा ऊषा - सी स्मित,
सुन्दर बैठा निकट भाव - नत शिर
गन्ध मुग्ध मधु पवन स्पर्श पुलकित !
करतल पर कर-पल्लव धर अरुणा—
कोमलता - सा पुंजित, भार रहित—
पीती पौरुष की शोभा गरिमा,
नव रंगिनी पावक—सराग विरंचित !

शील गठित तन संयम - यौवन का,
सूक्ष्म बोध छाया तिरती मुख पर—
पीन अंस, विस्तीर्ण वक्ष सुन्दर,
आयत नील नयन प्रकाश के सर !

अपलक चितवन पैठ मर्म भीतर
उड़ नव शोभा क्षितिजों में निःस्वर—
मुग्ध खोजती आत्मा के नभ में
सुरधनु तृण स्मित प्रीति नीड़ सुखकर !

प्रेम समर्पण से आन्दोलित उर
बोला सुन्दर, दृष्टि गड़ा मुख पर,
भाव यौवना हो तुम रस मुग्धे,
मधु धाराओं की पावक निर्झर !

धरती - सी लेटी तुम रज - सुभगे,
जीवन - शोभा में अनन्य वेष्टित,
प्राणों की आकांक्षा का सागर
नव यौवन पुलिनों पर समुच्छ्वसित !

तुम्हें देख रस की सुख आकांक्षा
फूलों की शय्या बनती पुलकित,
झरती मधु श्री - सुषमा की कलियाँ
अंग - स्पर्श से होने मृदु मर्दित !

तुमको छू शोभा का मधु अनुभव
हृत्तन्त्री को कर तन्मय झंकृत
भावों की स्वर्गिक संगति में बँध
आत्मा को करता विस्मय मोहित !

रज की सोंधी इच्छा - सी उसमें
रहती मादक देह गन्ध मिश्रित,
प्राणों के मेघों मे कौंध तड़ित्
अन्तर्मन को करती दीप्ति चकित !

शशि स्पर्शों से कुमुदों के सर - सी
खिल पड़ती इन्द्रियाँ रोम हर्षित,
भाव वाहिनी मनः शिराओं में
बहता शोभा पावक रस विगलित !

तारों से गुम्फित निशि अलकों - सा
उपचेतन तम हँसता छवि स्पन्दित,
धँसता स्वर्णिम तीर व्यथा - सुख का
निश्चेतन मन का पथ कर दीपित !

लीला विभ्रम स्मृति शंका व्रीड़ा
ललित प्रणय भावों का मधु संचय
लहरों - सा उठ - गिर, शोभे, तुममें
होता सहृदय रस मानस में लय !

स्वप्न - पुष्प तुम, स्वर्गिक सौरभ से
ढँक लेती आत्मा का सित अम्बर,

अनता रूप अरूप निखर प्रतिपल
ढल अरूप, छवि में, हरता अन्तर !

जाने कौन सुधा स्रोतों को छू
देह लालसा हो जाती प्रशमित,
काम हृदय में बन संगीत मधुर
मधु भावों में हो उठता मुखरित !

जाने कैसी प्रीति पुरुष - स्त्री में
नया हृदय कर रही सूक्ष्म सर्जित,
बांध युग्म को नव मानवता में
श्रद्धा की कर स्वर्ण रज्जु निर्मित !

पावक सलिलो में तिर नारी - नर
रस - ज्वाला में न्हा होते शीतल,
विष को अमृत, तमस को कर ज्योतित,
भू में स्वर्ग, त्रिदिव से रच भूतल !

सुभगे, तुम रस योनि, प्राण तम को
श्री - शोभा में करती आलोकित,
दृष्टि अन्ध था काम, थाम अंगुलि
किया भाव पथ तुमने निर्देशित !

जीवन के शोभा आनन्द शिखर
उभर वक्ष में रहते सित स्पन्दित,
स्वर्ग, मर्त्य में पूर्ण रूप धरने,
दो भुवनों में हुआ मधुर वितरित !

देही से मानसी, मानसी से
तुम रस प्रतिमा—मानस से अतिशय,
आत्मा की पा ज्योति - दृष्टि अकलुप
देह रूप रस में ऋत - सुख तन्मय !

चित् - प्रकाश - नभ में आरोहण कर
अवरोहण करता भू पर नव मन,
कवि रस प्रतिभा पा नर धरती पर
नये स्वर्ग का करता आवाहन !

उठो, काम अंगारों पर लेटी
पूत योनि भूमिजे, अभय जागो,
उठो, भावना के नव स्वर्गों में
मुक्त प्रीति में विचरो, भय त्यागो !

स्वर्ण शिंजिनी बजती प्राणों में
कटि की काक्षा - कांची रस झंकृत,
नव भू - रचना हित अन्तर उत्सुक
अभिनव उपायों से उन्मेषित !

मानस तीर्थों में न्हा अप्सरियाँ
तिरती रस पावन जल में प्रमुदित,
मनः स्वर्ग की शोभा धरती की
प्राण अग्नि से होती अभिषेकित !

नव श्री - शोभा, नव संस्कृत सुख में
भू जघनों की ज्वाला अब कुसुमित,
रस स्वर्णिम आनन्द शिराओं में
भावों की रत्नाभा भर अगणित !
रक्त वेग का हर्ष - मत्त पावक
मधु शोभा सुख भुवनों में परिणत,
शिश्न दण्ड में सीमित था जो सुख
व्याप्त निखिल आत्मा में, बन उन्नत !
सृजन प्रेरणा दे अन्त: सुषमा,
निर्मम पशु - भू बने मानवोचित,
शुभ्र देह हो आत्मा की प्रतिमा,
इन्द्रिय पथ पर विचरे ईश्वर नित !
स्वर्ग धरा का सूक्ष्म रेख अन्तर
मिटे, झरे भू-रज पर ऋत उर्वर,
बहिर्दृष्टि का छँटे धूम भ्रामक
हृदय प्रेम के ईश्वर का हो घर !
बहिर्विभव से अन्तर्जग वैभव
अधिक पूर्ण, प्रेरक, बोधक, विकसित
भीतर से जो फूटे रस धारा
जीवन सुख मंगल हो संवर्धित !
अक्षय मधु रस सम्पद् प्राणों में,
भोगें उसको स्त्री-नर रुचि - संस्कृत,
शान्त निखिल हों पाप—घृणा कटुता,
कुण्ठा स्पर्धा,—हिंस्र युद्ध प्रशमित !
रस: तृप्ति का सुख अर्पित - मन को
करता रचना - स्वप्नों से प्रेरित,
रस अनन्त, रस का प्रहर्ष अक्षय,
शाश्वत मधु शर से वह सुख उपमित !
रस सहस्र रतियों का सित दंशन
करता सुख से रोम - रोम झंकृत,
तन्मय हो आनन्द - सिन्धु में मन
स्वर्गिक विस्मृति में होता मूर्छित !
अहं वृत्ति से मुक्त—प्रीति व्यापक,
प्रकृति,—भाव समता से अनुप्राणित,
बिना किसी अधिकार लालसा के
स्वप्न नीड़ रचती उर में इच्छित !
भू - शोभा उपभोग कर सकें जन
हृदय हृदय के प्रति हो आकर्षित,
काम संयमित, मुक्त प्रीति प्रेरित
मानव उर संवेदन हो विकसित !
प्रिये, न जो तुम होती, सरसी में
उठतीं नहीं हिलोर भाव चंचल,

गन्ध न उड़ती फूलों के उर से,
गाती मधु ऋतु में न मुग्ध कोयल !
गाती भी—होता न अर्थ गर्भित
पुलकित करता तन मन रिक्त न स्वर,
शोभा सृष्टि विफल होती विधि की
प्रेम बिना उर होता तम गह्वर !
तुम आँखों के सम्मुख रहती नित—
भू पर सुन्दरता होती उपकृत,
जीवन का सूनापन भर जाता,
मौन—मधुरिमा में होता मुखरित !
स्नेह सिक्त स्वर में बोली आस्था
भाव वह्नि में ढली स्वर्ण प्रतिमा—
संयम - सित - शोभा में हो मूर्तित
मानव आत्मा की महिमा गरिमा !
भू - जीवन प्रेमी हो तुम, सुन्दर,
आत्मा रह सकती न प्रीति विरहित,
मध्य युगों के जीवन वर्जन से
धरा, स्वर्ग की सुषमा से वंचित !
शुभ्र प्रीति रस में पोषित ईश्वर
जन भू हो उसका शोभा दर्पण,
इन्द्रिय विषयों, मानस भावों में
लिपटा जीवित रहता रस चित् कण !
खोल क्षुद्र नैतिकता के बन्धन,
धो भौतिक तृष्णा का भू - प्रांगण,
हमें मनुजता करनी नव निर्मित
उठा पुरुष - स्त्री देह भाव गुण्ठन !
अति दरिद्रता भू - पथ की बाधा,
अति वैभव भी उन्नति हित बन्धन,
ज्ञान दग्ध आध्यात्मिकता शापित,
शक्ति अन्ध भौतिकता मूर्त मरण !
कला पीठ अन्तर्विकास दर्पण,—
सम्प्रति जन - भू स्थितियों में सीमित,
नर - नारी की प्रीति चेतना उठ
नव भू - रचना में हो संयोजित !
उद्वेलित आनन्द - सिन्धु मन में
गत - भू जीवन पुलिन करे मज्जित,
संयम गुण से खींच स्वर्ग शोभा
शुभ्र मानवी प्रतिमा हो कल्पित !
प्राणों का संगीत लोट भू पर
निर्मम हृदयों को कर दे विगलित,
रस प्रहर्ष, श्री - शोभा की प्रतिमा
सम्मोहन भर दे जीवन में सित !

अन्तर के स्वर्णिम तारों में बज
नीलम झंकारें करती तन्मय,
मरकत उल्लासों में हँस उठता
प्राणों का सुख अति से हो अतिशय !
विगत प्राण मन जीवन के बन्धन
जड़ हिम खण्डों - से गल होते लय,
तन्मय सुख,—तन्मय सुख में विस्मृति,
यह असीम सीमा का रस परिणय !
भूमा की शिविका धर कन्धों पर
नृत्य निरत नक्षत्र, मुग्ध अम्बर,
भू - विकास क्रम ढोता मानव को
विविध पीढियों में नित नव पग धर !
रस पावक में जलता प्रतिपल मन
बरस रहे रति सुख के धाराधर,
अन्त शोभा पथ से लय अन्तर
पूर्ण प्रकृति गरिमा से जाता भर !
शोभा हो जीवन प्रतीक पावक,
जीवन अन्तर्भावों का दर्पण,
श्रद्धा प्रीति प्रतीति उसे दे जन
बिम्बित पायें उसमें निज तन-मन !
घृणा द्वेष दे घृणा द्वेष तम ही
पायेगा नर जीवन में बिम्बित,
सर्जन संस्कृत - जीवन का साधन
शिल्पी नर, भू स्वर्ग करे निर्मित !
हरित वेणु - सी प्रकृति मुग्ध - नारी
यन्त्री पुरुष, भरे स्वर लय नूतन,
प्रीति हर्ष शोभा प्रकाश, बरसे
स्वर्ग रागिनी हो जन - भू - जीवन !
सुन्दर, प्राण धरोहर तुम मेरी,
निखर रहा तन मे मन भाव - द्रवित,
हँसता प्राणो में नव सूर्योदय
उपचेतन मुख पर सौन्दर्य लसित !
अब न अपेक्षित चुम्बन परिरम्भण,
देख रही तुमको सित रस तन्मय,
बहता अन्तर का सुख अन्तर में
दो हृदयों का यह स्वर्णिम परिणय !
टकराते हों मेघों के पर्वत
घहराती जीवन की अभिलाषा,
जगते सूक्ष्म हृदय में संवेदन,
गाती शोणित में नूतन आशा !
अन्तः श्री - सुषमा का रस प्लावन
मेरे तन - मन - प्राणों मे बिम्बित,

सखे, तुम्हें जो लगता प्रिय मुझमें,—
पशु - जीवन करता न हृदय मोहित !
(नव प्रकाश प्रतिमा में सी परिणत
आस्था हुई उपस्थित दृग सम्मुख,
बदल गयी परिभाषा जीवन की
बदल गये गत मूल्य—प्रीति श्री, सुख !)
हम निज यौवन के मधु पावक से
आओ, नव संसार करें निर्मित,
देह प्राण मन आत्मा की निधि को
रस संस्कृत शोभा में कर गुम्फित !
आत्मदान दो, आत्मदान जग को,
उर आभा से सुरभित कर दिशि क्षण,
आत्मा का मधु संचित हो जन हित
भर जायें जीवन - अभाव के व्रण !
तम अनन्त,—उससे मत टकराओ,
वह संसृति आधार शिला गोपन,
तुम प्रकाश गूँथो भू वेणी में
सद्भावों का दर्पण हो जीवन !
टँगा अधर में हत मानव का मन,
ऊर्ध्व ज्योति में कर उसको मज्जित,
मुक्त प्रकृति के स्तर पर संस्कृति को
करो धरा - जीवन में संयोजित !
समय हो गया—चलो, मंच पर हम
देखें अब नव सृष्टि नृत्य रूपक,—
निखर रही सागर तल से पृथ्वी,
देख रहे नभ से सुरगण अपलक !
नील रेशमी चल पट फहर फहर
जलनिधि - लहरों को करता चित्रित,
हरित मखमली ज्वाला मे लिपटी
अनिल दुकूला भू उठती सस्मित !
मुग्ध नाचती वह दिक् - प्रांगण मे
रंगमंच पर छायी नीलाभा,
नाच रहे ग्रह तारक तुहिन - दशन,
स्वागत करती प्रथम स्वर्ण द्वाभा !
कनक मुकुर ले, आता हँस नव रवि,
रजत सुधा घट करता शशि अर्पित,
नाच रहा स्वर लय गति में भूमा
दिशा - काल क्षण - सज्जा में मूर्तित !
प्रकट हो रहे क्रमशः सचराचर
यह विकास-क्रम दृश्य, हृदय विस्मित !
तड़प मत्स्य बनता धीरे स्थलचर—
सरीसृपों से खग वन - मृग अगणित !

पंख उगा उड़ता नभ में जीवन,
मेरुघरों में मनुज ऊर्ध्व विकसित,—
गाते भू - भागों के नारी - नर
जीवन - पर्व मनाते, मिल हर्षित !

लो, जाने कितने युग आ - जाकर
विश्व मंच पर करते क्षण नर्तन,
तुरत बदलते इतिहासों के पट,
चिन्तन मग्न खड़ा पीछे दर्शन !

कौन सूत्रधर नटी ! हृदय - द्रावक
गूढ़ कथानक नाटक का कल्पित,
गत संस्कृति, सभ्यता, धर्म आहत—
बहु देशों, शिविरों में भू खण्डित !

अह, दिगन्त घिर, भरता गुरु गर्जन
अट्टहास करता युगान्त भीषण,
दुर्जय शस्त्रों सैन्यों से सज्जित
महानाश करता ताण्डव नर्तन !

अन्धकार यवनिका गिरी दुर्गम,
प्रलय नृत्य करता खर अणु दानव,
वैश्व क्रान्ति का दुर्वह दारुण क्षण,
श्रवण बधिर, छाया भैरव दिक्-रव !

ध्वस्त युगों का पथराया चेतस्,
प्रस्तर युग का हुआ समापन रण,
उदित वृत्त नव,—प्रज्ञा स्वर्णोदय,
विजयी पुनः विगत मन पर जीवन !

जन-भू संस्कृति स्वर्ग! सृजन - रत जन,
धर्म जाति से मुक्त विश्व मानव,
राग - चेतना के सित प्रांगण में
जन्म ले रहा मनुज प्रेम अभिनव !

श्री - शोभा आनन्द मधुरिमा का
रचना मंगल में कर नव सर्जन,
शुभ्र प्रीति परिणीत मुक्त स्त्री-नर,
रस संस्कृत भोगते स्वर्ग जीवन !

नव्य चेतना अतिक्रम कर जग को
भू को कन्दुक - सी धर करतल पर,
चित् स्वर्णिम स्रोतों का रस वैभव
बरसाती रज पर शाश्वत, अक्षर !

स्वर्ण ज्योति में लोक मंच प्लावित,—
मानव भावी उठा रही गुण्ठन—
नव जीवन आशा से उन्मेषित
ताली देते भाव - मुग्ध जनगण !

छायी थी मधु ज्योत्स्ना अम्बर में,
धरती लगती स्वप्नों से कल्पित,
तम प्रकाश गंगा यमुना - से मिल
प्राणों को करते मधु रस सिंचित !

कूक रही मधु कोयल तरु नभ मे
झरते मुकुल, पुलक भर मृदु तन में,
पार्श्व बिम्ब भाता लेखा शशि का
गन्ध पवन अँगड़ाती बस मन में !

भाव - मुग्ध उर, काल - बोध विस्मृत,
तिरते पुष्करिणी में नारी - नर
कुसुमित अंगों की शोभा सौरभ
रस प्रहर्ष से भर देती अन्तर !

चपल गात्र, मृदु सलिल लताओं - से,
लहरों पर शत छवियों में बिम्बित,
चित्र कक्ष में परिणत कर सर को
श्री - सुषमा से करते दृग मोहित !

काम वृत्ति अधिकृत करने पर भी
प्राण भावना हो तन से निःसृत
तिग्म सुरभि से कर तन - मन पुलकित
यौवन को करती आनन्द द्रवित !

बहता प्राणों मे संगीत अमर
उड़ता आकांक्षा मरन्द स्वर्णिम,
सूक्ष्म भाव - श्रम से चम्पक - पावक
अंगों में जलता लज्जा रक्तिम !

आत्म सन्तुलित मिलते युवति - युवक
सहज भाव से गन्ध समीरण वत्,
लहरें ज्यों लहरों में लय होतीं
देह - मुक्त अन्तर होते तद्गत !

भाव - समाधि - विरत कर छात्रो को
लोक - कर्म प्रति कर मन को जागृत,
केन्द्र, धरा रचना मंगल के प्रति
संस्कृत यौवन को करता प्रेरित !

चन्द्र ज्वाल कँपता सरसी का उर
अजित कुसुम तैरते तरल जल मे,
सुन्दरपुर के कुँवर कला प्रेमी—
वधू लाज डूबी - सी रस तल में !

शोभा पावक की मधु ज्वाला - सी
जल से पिघली शशि लपटें आती,
मुग्ध रूप यौवन की जगमग - सी
आँख - मिचौनी प्राणों को भाती !

स्वर्ण हंस - से सटा पंख मन के
कभी तैरते मिथुन निकट आते,
घुमा घुघर ग्रीवाएँ लीलावश,
देख दूसरे को फिर बिलगाते!

अर्ध विवृत तन - शोभा जल पट से
चम्पक पुष्पों - सी लगती पुंजित
मधु पराग पावक से विरचित-सी —
लता प्रता से थी सरसी परिवृत!

आर्द्र वसन, गिरि वर्षा से भीगी
ऊँच - नीच शोभाओं की द्रोणी,
शिखर कलश - से भाते उभरे स्तन
कृश कटि, पेशल जघन, पृथुल श्रोणी!

भारहीन शशि - लेखा - सी तिरती
कुसुम जलाशय में लगती शोभित,
काम पुरुष के स्वर्णिम दर्पण में
रति की शोभा हो अनिन्द्य बिम्बित!

मुग्ध करभ - सा लगता तरुण अजित
कमल लता - सी कुसुम कला - कल्पित,
शाश्वत रस चेतस - सी पुष्करिणी,
प्रकृति पुरुष हों लीला मुख मज्जित!

त्वच से लिपटे गीले मसृण वसन
प्रिय अवयव सौष्ठव करते अंकित,
सुगठित, अंगों में था दृढ़ पौरुष
तनु देही में कोमलता मूर्तित!

जल से ही उतरा स्थल पर जीवन
जल की चल उर इच्छा से विह्वल,
रस समाधि में थे निमग्न दोनों
पा जल का त्वच स्पर्श प्राण कोमल!

खोज रहे थे झिलमिल कर तारे
निश्चेतन जल तल रहस्य गोपन,
कर्दम शय्या में जग भू - शोभा
खोल रही थी स्वप्निल कुमुद नयन!

पुष्कर के स्फाटिक सोपानों पर
दम्पति बैठे थे अब पुलकित मन,
तृण तरु जग पर, तन - मन - प्राणों पर
ज्योत्स्ना का था छाया सम्मोहन!

स्वप्नों के झुटपुट - सी शशि आभा
सालस सुख में करती उर मज्जित,
अपराजिता लता - सी सित श्यामल
अग-जग को कर रस - तम से मण्डित!

खुल न सके थे कनक काम बन्धन,
देह वृत्तियों का द्रष्टा था मन,

अंक कुसुम को भर छवि - मुग्ध अजित
सहता रस आनन्द शक्ति दंशन !
प्राणों की हो सर्प शक्ति जाग्रत्
चढ़ती भावों के सित चक्रों पर,
सूक्ष्म रूप, रस बोध, मधुरिमा सुख
अन्तर में फूलों - से पड़ते झर !
लाज शुभ्र उसके मुख सरसिज पर
अंकित कर शत रस अतृप्त चुम्बन,
ज्योत्स्ना को लक्षित कर मुग्ध अजित
रूप समाधित, कहता प्रणय वचन,—

ओ विवसन अंगों की प्रिय प्रतिमे,
यह चन्दन सौरभ का चम्पक तन,
यौवन के मधु पावक में निखरा
शुभ्र प्रीति का रस प्रतप्त कांचन !
ओ प्राणों के सुख की तन्मयते,
आर - पार तुम दर्पण - सी उज्ज्वल,
अपने को कर तुम्हें प्रीति अर्पित
बन जाता मन पक - मुक्त निर्मल !
जगती हरित पुलिन पर आकांक्षा
सुन स्वर्णिम भृंगों का मधु गुंजन
स्वप्नों के सोपानों पर चढ़ - गिर
प्राण चेतना करती आरोहण !
भार मुक्त मन हृदय,—न मैं तुमसे
रख सकता हूँ अब कुछ भी गोपन,
अतिक्रम करता स्वर्ग मर्त्य का सुख
पूर्ण समर्पण का यह पावन क्षण !
तारा जड़ा पड़ा तन पर आंचल,
शशिमुखि, उर सरसी-नभ-सा स्पन्दित,
घने केश लहरे तम - से कोमल
शोभा तन मन करती आच्छादित !
अतल अचेतन का जाने कैसे
अँधियाला हो उठता हिल्लोलित,
काले घन की गौर दामिनी - सी
इच्छा प्राणों को करती मन्थित !
बांध गुंजलक, खोल दर्प स्मित फन
नाग गुहा में जग करता नर्तन,
सांसों से सुलगा उर में ज्वाला
मूर्छित करता मर्म मन्ध दंशन !
तुम रस पुष्करिणी हो सित शीतल
मन शोभा में करता अवगाहन,—

फैल बूंद विष की अनन्त जल में
प्रीति अमृत बनती— जीवन पावन !

रूप दृष्टि हो सित शोभा में लय
व्यक्ति मोह बन विश्व भाव विस्तृत,
राग कामना उठ कृमि कर्दम से
प्रीति चेतना में होती विकसित !

फिर भी आकुल मेरा उर सुभगे,—
प्रेम सर्वभक्षी पावक निश्चित,
पुष्प बाण ही नहीं, व्यक्ति रुचि भी
मुझे तुम्हारे प्रति करती प्रेरित !

शून्य वायवी क्षितिजों में उड़ता
सर्व - प्रेम उर - पंख खोल विस्तृत,
उपचेतन की वास्तवता को छू
व्यक्ति प्रेम होता सार्थक उपकृत !

अतः प्रिये, तुमको आलिंगन कर,—
अग - जग को बाँहों में भर अन्तर
रति तन्मय, अतिक्रम करता जग को,
छू असीम निस्तल प्रहर्ष के स्तर !

चन्द्र किरण पीकर स्मित - अधरों की
सुधा तृप्त होता रस आकुल मन,
पर्वत मांसल उर - घाटी में खो
पाता अपने को कृतार्थ यौवन !

ज्योति तमस गुम्फित तुम, प्रिय ज्योत्स्ने,
मेरे मोहित प्राणों को भाती,
हरित नील तलहटियों में बजती
मंदिर घण्टियों की मधु ध्वनि आती !

रक्त - नील घन - ताम्र वर्ण छाया
जाने कैसी वन मे मँडराती
सुनता द्राक्षा स्रोतों की टलमल,
रस निर्झरिणी कानों मे गाती !

प्राणों की झंझा, तृष्णा सागर
खींच रहे उर के निश्चेतन तल,
घूम तमो रस भंवर चेतना में
राग लालसा को करता चंचल !

लगा कुसुम को निज विह्वल उर से
कूदा वह पुष्कर में रंग दंशित,
जल - क्रीड़ा हो, यौन समाधि अगम—
फेनोच्छ्वसित पुलिन जल आन्दोलित !

स्फीत ज्वार में गिर ज्यों फूल युगल
ऊब - डूब करते गति जव ताड़ित,
प्राण - सिन्धु में तृणवत् दो देहें
तिरती तन्मय, मुग्ध आत्म - विस्मृत !

वज्र - स्तम्भ - सी थी बलिष्ठ जाँघें
तिग्म काम - ज्वाला से परिवेष्टित,
उमड़ अचेतन से प्रमत्त लहरें
दृप्त भुजंगों - सी लगतीं नर्तित !
तडित् पात होता रस का दुर्धर
अग्नि शूल - सा धँसता उर भीतर,
शत सहस्र अहि दंशों से विह्वल
प्राण खोजते शीतल मरकत सर !
बाहु पाश से छुड़ा देह लतिका
बोली क्लान्त कुसुम लज्जा लोहित,
प्रणय भोग के और विशद साधन,
धरा सृजन रति में ही वह कुसुमित !
संयम बल खो आत्म - ग्लानि-मन्थित
हुआ अजित का हृदय विरति पीडित,
मन्द पड गयी मानस शशि ज्योत्स्ना
तम समुद्र में हुई दृष्टि मज्जित !
नर - नारी की हृदय मुक्ति द्योतक
शुभ्र प्रीति - चेतना भाव - सुरभित
सित उड़ान भरती जो अम्बर मे
छिन्न पंख वह हुई पंक लुण्ठित !
हृदय कमल कुम्हलाया रति तम में
मांस पिण्ड बन गया प्रकाश अमित,
उदित हो रहा नव चैतन्य भुवन
हुआ अस्तमित—गर्त भुजग कवलित !
यौन कर्म प्रति वह पशु धर्म जनित
गत भू संस्कारो से था पीड़ित,
उठा नही था सका जिसे भू - मन
संस्कृत स्तर पर, सित प्रहर्ष प्रेरित !
जल विहगों - सा मधु कलरव भरते
आये वहाँ युवक - युवती उस क्षण,
तरल हँसी की रजत हिलोरों से
मधुर गुंजरित कर क्रीड़ा उपवन !
पुलिन कक्ष मे पहन वस्त्र नूतन
मिली कुसुम द्रुत सखा - सखी जन में—
केन्द्र प्रथा थी, वृन्दो मे स्त्री - नर
विचरण करते संस्कृति प्रागण मे !
निभृत मिलन का भी पाते अवसर
युवति - युवक भीतर से संरक्षित,
भावों, आवेगों का कर विनिमय
राग सन्तुलन हो जिससे स्थापित !
भाव प्रवण दुर्बल चरित्र के प्रति
जाग्रत् रहते स्नेही सहचर नित,

प्रीति - मनोहर विधियों से उसको
नव संस्कारों में करते दीक्षित !
व्यक्त न करती मर्म भाव सीमा
गत जन - भू संस्कारों से पीड़ित,
प्रणय - भीत उस भाव गुण्ठिता का
हृदय रूप प्रति था अपने कुण्ठित !
सहज स्नेह दे शंकर ने उसको
कुण्ठा मुक्त किया—अन्त: संस्कृत,
गुह्य कर्म अब था न प्रेम वर्जित,
मूक पिकी उर हुआ शील मुखरित !
गूढ़ समस्याओं पर कवि का मत
लेते सहृदय छात्र तर्क प्रेरित,
आदर्शों को कर जीवन मूर्तित
हृदय निकष में कसते श्रद्धान्वित !

व्यक्ति प्रेम, रुचि, अनुभव हो विकसित
मुझे नहीं इससे विरोध किंचित्,
निखिल अतीत, मनुज की गत संस्कृति
व्यक्ति प्रीति ही की परिणति निश्चित !
वंशी कहता,—सर्व प्रीति का सुख
कला स्वर्ग का लक्ष्य—मानवोचित,
शुभ्र प्रीति का सेतु भाव - संस्कृत
नर - नारी उर करे सहज निर्मित !
राग भावना का पट हो विस्तृत
प्राण प्रफुल्लित हो भू - जीवन पथ,
प्रीति भाल से मिटे द्वेष कल्मष,
पंक मुक्त विचरे शोभा का रथ !
प्रीति मुक्ति की शुद्ध पीठ पर ही
व्यक्ति प्रकृति भी हो सकती विकसित,
समदिक् जीवन विचरे शिखरों पर
ऊर्ध्व गमन हो सुलभ व्यक्ति के हित !
अजित कुसुम थे कला केन्द्र सन्तति
भू - शोभा रचना मंगल में रत,
उपचेतन सलिलों से क्षुब्ध अजित,
बनता धीरे रस संस्कृत, संयत !
चिनगारी पा मृत अँगार जैसे
नव ज्वाला मे हो उठता वेष्टित,
चैत्य स्पर्श पा अवचेतन का तम
रस प्रकाश लौ में होता जीवित !
खर्व राग रति भाव मूल्य पीड़ित
भू - जीवन का था उपचेतन मन,

देख रहा था कवि नव संस्कृति हित
व्यक्ति प्रीति मद, रूप मोह बन्धन !
नव्य चेतना ने उर क्षितिजों में
ज्योति रस भुवन किये जहाँ विकसित
रूढि मुक्त निश्चेतन गर्तों मे
हुई वहाँ रज तृष्णा आन्दोलित !
प्राणो का जीवन शत स्वप्नों मे
करता अपने को नित अभिव्यंजित,
जघन नाभि स्तन, अधर नयन मुख को
रूप प्रतीकों मे बहु कर चित्रित !
गज - कर भँवर, मराल, रक्त पल्लव,
नील कमल, शशि हो अनिमेष उदित
मनोदृगो को करते मुग्ध सहज,
नव शोभा सुषमाओ मे अंकित !
ऊर्ध्व चेतना के अन्तर - पट खुल
प्राणों की रुचि को करते विकसित,
निखर भाव शोभा के ज्योति क्षितिज
रस प्रहर्ष से करते उर पुलकित !
शोभा - प्रेम, सृजन - प्रहर्ष ही में
काम पूर्ण होता विकसित, उपकृत,
अधोमुखी वह, मानव मूल्यों से
रखना पडता पशु सुख को शासित !
कलापीठ में क्षणिक क्षुब्ध होकर
शनैः सन्तुलित हुआ काम का बल
श्री - शोभा रस के आनन्द भुवन
खुले, रहस्यों के फैला सित दल !
कमल फूल - से खिले अंग कोमल,
गाता प्राण - शिराओं में शोणित,
पारिजात चन्दन की - सी सौरभ
तन मे आ मन को करती मोहित !
सूक्ष्म भाव - शोभाएँ सहज निखर
आनन को करती आभा मण्डित,
नयनों की नीलिमा स्वप्न स्मित - सी
विस्मय सरसी में लगती मज्जित !
सित संयम ही से कृतार्थ होता
प्राणो के उन्नत सुख का जीवन,
रस समग्र पूर्णता प्राप्त कर ही
खुलता आत्मा का सौन्दर्य भुवन !
जीवन शोभा से मानस सुषमा
मानस सुषमा से चित् रस प्लावन
उमड़ प्रकाशों से प्रकाश अक्षय
पावन करते कला स्वर्ग प्रागण !

देह - मिलन के सुख को अतिक्रम कर
भाव - मिलन के रस प्रहर्ष में लय,
युवति - युवक के प्राणों के तम में
हँसता नव जीवन का अरुणोदय !

भाव - देह की शोभा से प्रेरित,
प्राणों के परिणय में बँध यौवन
सित रस - सागर में तिरता तन्मय
ऊर्ध्व अतलताओं में कर मज्जन !

मन के नभ में भावों के मधु नभ
भावों के नभ में शोभा शशि मुख,
मुख शोभा में सित सुरधनु किरणें
प्रतिच्छवित करती शाश्वत रस सुख !

अमित रंग - आलोकों में विगलित
लहरा उठते उर - पावक सागर,
सृजन प्रेरणा भर सित प्राणों में,
आमन्त्रित करते प्रकाश अम्बर !

मन कहता, यौवन के प्रांगण में
अन्तः शोभा पीठ गढ़े जीवन,
स्वर्ग प्रीति को मर्त्य प्रीति रस में
परिणत कर उपकृत हो युग दर्शन !

राग - भावना स्थिति से युवकों की
कवि ने हरि को बुला किया अवगत,
प्राण शक्ति, नूतन प्रकाश प्रेरित
भू - रचना कर्मों में हो परिणत !

नव वसन्त उत्सव की अवधि बढ़ा
भू श्रम पर्व बना उसको कुसुमित,
जन ग्रामों की शोभा रचना हित
किया युवक - युवती को उत्साहित !

प्राण दान देना था मृत शव को—
बहिरन्तर की स्थितियों से मर्दित—
भीतर थी जड़ परम्परा बाधक
बाहर था जन - जीवन असंगठित !

युवति - युवक भू - जन में घुल-मिलकर
हरते मन के शंका, भय, संशय,
संस्कृत स्तर पर कर व्यतीत जीवन
उच्च वृत्तियों का देते परिचय !

मूल जनों में थे गत संस्कृति के
उच्च मध्य स्तर पर थी जो विघटित,
काम पंक में सना धरा - जीवन
ऊर्ध्व श्रेणियों के प्रति था शंकित !

ग्राम युवतियों की सँवार प्रिय छवि,
शिशुओं के तन - मन कर श्री-भूषित,
शोभा का मित कल्प वृक्ष भू पर
उठा स्वर्ग से, करते वे रोपित !

बहिर्मूल्य बन, जन - भू पर शोभा
जीवन मंगल करे प्रथम वर्धित,
सुन्दर स्तर पर हो जीवन वाहित
श्रम से जन भू - स्वर्ग करें अर्जित !

अन्तर्मूल्य बने फिर सित शोभा
राग चेतना हो व्यापक, विकसित,
गीति छन्द में जियें मुक्त स्त्री नर,
हृदय सुरभि से हो धरती सुरभित !

जन - श्रम में भर नव युग संयोजन
कला छात्र ऋत चित् से अनुप्राणित,
भू - जीवन की शोभा प्रतिमा में
शुभ्र सत्य शिव को करते स्थापित !

घृणा द्वेष के कण्टक चुन उर से
मनुज हृदय को कर शतदल विकसित,
मध्य युगों के मुण्ड - भक्त मन को
नव समाज में करते संयोजित !

अधोमुखी बन उलट गया था उर
पर-हित निर्मम, जीवन प्रति कुण्ठित,
सहृदयता, सहभाव जगा उसको
ऊर्ध्व प्राण करते करुणा - विस्तृत !

गाँवों में सक्रिय था अब नव मन,
तर्क - वितर्कों में रहते जन रत,
कभी जूझ टकराते आपस में
प्रगतिशील प्रतिगामी दल के मत !

इस प्रकार नव मानव का यौवन
अमर वीर्य बन उगता धरती पर,
श्री - शोभा आनन्द शस्य में फल
ज्योति प्रीति मंगल मधु संचय कर !

सृजन हर्ष से रोमांचित यौवन
लोक कर्म प्रेरित होता सार्थक,
स्वर्ग प्रीति में गुँथा हृदय - संयम,
श्री स्वप्नों से रहते दृग अपलक !

कहते वे धिक् मध्ययुगी मन को
जिसने भू को दी विरक्ति, वर्जन,
दिया पारलौकिक का आकर्षण
कर्म प्रेरणा से वंचित कर जन !

बाँध कर्म - फल - क्रम में जीवन को
पूर्व जन्म की रच निर्मम शृंखल,

अजगर बना नियति बिल का निष्क्रिय
पाप पुण्य भय दिखा, किया निर्बल !
धिक्, जग - जीवन को मिथ्या बतला
रिक्त मुक्ति हित भेजा गृह को वन,
घोर दरिद्र, कुरूप, बना भू को,
झूठी आस्था दी, झूठे साधन !
पक्षाघात ग्रसित पा भू - जन को
भर आते करुणा जल से लोचन,
रुधिर उबलता हृदय शिराओं में
प्रेम सृष्टि को देख नरक प्रांगण !
प्रीति रक्त से सींच धरा मन वे
उपजाते जीवन प्ररोह नूतन,
गूँथ स्वर्ग स्वप्नों से भू वेणी
रुग्ण मृतक को देते संजीवन !
धरा स्वर्ग ही में प्रभु का पूजन,
सिखलाते, रचना - श्रम कर अर्पण,
जीवन शोभा का नैवेद्य चढ़ा
भाव दीप्त रुचि से कर नीराजन !
अल्पसंख्य जन, माधो के अनुचर,
रच कुचक्र, करते विरुद्ध जन मत,
नव प्रकाश का लहराता सागर
ह्रास तमस जग बनता अहि पर्वत !
युग संघर्षण था सम्मुख भीषण
असुर अतीत प्रबल, लघु शिशु अभिनव,
भू कर्दम के अतल गर्त तम को
एक रश्मि दीपित कर दे, सम्भव !

माधो थे अस्वस्थ, देख उनको
लौट रहा था घर उन्मन शकर,
कला शिविर के निकट गुल्म तम में
उसे सुन पड़ा क्षुधा-क्षीण मृदु स्वर !
ठिठक, चकित होकर देखा उसने
धवल पीत लत्तों का लघु गुण्ठन
साँस ले रहा था कँप झाड़ी में
करुणा कोमल कर अरण्य रोदन !
सर्व दृष्टि रवि ढल पश्चिम नभ में
फेर रहा था क्रोध रक्त आनन,
तम अंचल से ढँकती धरणी मुख,—
नव जीवन के जन्म-मरण का क्षण !
झिल्ली - सी हृत्तन्त्री बज झनझन
जाने क्या कहती विधि से गोपन,

प्राण प्रचोदन करता या प्रेरित
शिशु था जीवन का स्फुलिंग चेतन !
उसे अंक ले, शंकर ने देखा,
स्वप्न मुकुल - सा था नव शिशु सुन्दर,
कला शिविर के शिशु गृह को उसने
सौंप दिया उसको ले जा सत्वर !
सुनकर शिशु का नियति वृत्त कातर
दौड़ी संस्कृति मन्दिर में मर्मर,
मानव करुणा विजयी हुई शनैः
भय संशय, कटु कुत्सा कल्मष पर !
हरि की सहमति के विरुद्ध कवि ने
किया द्रवित हो अभिनव का स्वागत,
वस्तु दृष्टि से था हरि आशंकित
कवि हित था शिशु भू का अभ्यागत !
नही अनाथाश्रम यह—कहता हरि,
कला पीठ, पावन संस्कृति प्रांगण,
परम्परा का हृदय कुचल—करते
तुम पर्वत बाधा का आवाहन !
वैसे ही गांवो मे प्रतिपक्षी
सेते गुप्त बवण्डर, अन्धड़ नित,
बढ़ता जाता विपर्यास धीरे
दृष्टि तुम्हारी उन्हें नही स्वीकृत !
तुम स्वतन्त्र - चेता हो निःसंशय,
पर वास्तवता से न अधिक परिचित,
बालू में सित रोप स्वर्ग टहनी
उसे स्वप्न जल से करते सिंचित !
लौह नियति पिंजर प्रिय मानव को,
उसे मुक्ति से स्वीकृत जड बन्धन,
कर्दम से अवगत वह, ज्ञात उसे
सुलभ न सम्भव ही आकाश सुमन !
मृग मरीचिका का भी बोध उसे,
सीमा रेखा की उसने अंकित,—
इधर नरक है, उधर स्वर्ग—मध्यम
पथ उसके मन को चिर अंगीकृत !
मुझे दुःख, मैं भी न पूर्ण सहमत
पाता अपने को इस जीवन से,
देह लांघ सकता न पंगु यौवन,
मनुज न रह सकता केवल मन से !
निश्चय नव यौवन की परवशता,
गुल्म कोख ने जना मनुज बालक,
केन्द्र नही दायित्व - मुक्त इससे
वह भविष्य जीवन का संचालक !

विस्मय हत-सा बैठ गया वंशी,
दुःसह बोझ न सह पाया अन्तर,
टूटा हो उस पर अतीत पर्वत
तम मे बुझ-सी गयी किरण क्षण-भर !
देख स्तब्ध कवि का निश्छल शिशु मुख
स्वर्ग हो रहा था जिसमें विम्बित,
मनस्तप्त हरि झुठला निज मन को
हुआ पुनः युग-कवि के प्रति अर्पित !
आर-पार कवि देख सका हरि को
सहसा पा फिर ज्योति केन्द्र भास्वर,—
तृण-सा फेंका मृतक भार मन से
काल चक्र हो घूमा उर भीतर !
नैतिकता का पाश छिन्न कर हरि
गाह न पाया था प्रकाश सागर,
शाश्वत का पा स्पर्श प्रीति स्वर्णिम
उठ न सका था वह मन से ऊपर !
केन्द्र चेतना अमृत सरोवर के
तट पर बैठा करता संचालित
जीवन मन की लहरों को बाहर,—
दृष्टि न थी अन्तर से अनुप्राणित !

उत्तर सहमा दे न सका वंशी,
था अतीत से आवृत जन अन्तर,
सत् चित् श्रेणी में चढ लोकोत्तर
मूर्तित होना था नव को भू पर !
कैसे साम्प्रत-सीमा बन सकती
भावी भू-जीवन विकास दर्पण,
द्रवित अतीत शिला होगी निर्मम
विजयी होगा सूचि-सूक्ष्म नूतन !
लघु अपूर्णताओं से ही गुम्फित
शुभ्र पूर्णता का पट निःसंशय,
पूर्ण अपूर्ण उभय से ही अतिशय
रस स्वर्णिम चैतन्य प्रीति-तन्मय !
एक दृष्टि थी वंशी के भीतर
मानव भावी स्वप्न तूलि अंकित—
रूढ़ि रीति में पथरायी जन की
दृष्टि दूसरी थी जीवन कुण्ठित !
जन-जीवन-मन में प्रयोग अभिनव
करता वह स्वर्णिम प्रकाश प्रेरित,
क्षुद्र घृणित को मनुज प्रीति जल से
भू-जीवन पट से कर प्रक्षालित !

यौवन ? यौवन ही के पावक से
धरा स्वर्ग हो सकता नव निर्मित,
पंगु न यौवन! (निश्चय, मृत गत मन!)
उड़ सकता वह चूम नील अविजित!
जीवन सत्य नहीं आकाश कुसुम,
मृग - तृष्णा चित् स्रोत नहीं निश्चित,
गत युग की खण्डित वास्तवता को
पूर्ण चेतना में होना विकसित!
सच्ची वास्तवता भविष्य गुण्ठित,
युग - वास्तवता मात्र ह्रास विघटन,
स्वभू स्वर्ग टहनी, निज रस वर्धित,
उर स्वप्नों से ही सम्भव सिंचन!
जडवत् स्तम्भित, निष्क्रिय रहना ही
नहीं मध्य पथ—अन्ध अगति सूचक,
स्वर्ग विकास धरा का, ह्रास नरक,
जीवन - दोषी छिद्र - दृष्टि मूषक!
निखिल विश्व ही आज अनाथालय,
सुलभ मनुज को जहाँ न सुखसाधन,—
अकथनीय जन- भू विकास की स्थिति
मानव - भक्षी अभी मनुज का मन!
कला-पीठ क्या?—कहा दीप्त कवि ने
नूतन प्राक्तन का युग संघर्षण,
नव्य चेतना में कर आरोहण
जन - मन को करना भू पर विचरण!
ज्ञान प्रेम आनन्द शक्ति शोभा
सत्व जन्म-गत मानव के निश्चय,
राष्ट्र नायकों का दायित्व प्रथम
रचें लोक जन - हित जीवन-सुखमय!
धिक् उनको, पद - गौरव के बल पर
दैन्य पंजरों पर करते शासन,
हृदय - हीन, जन - धन के अपव्ययी,
लज्जा - नत नव मानव का आनन!

माधो के शिष्यों ने ईर्ष्या - वश
कला - पीठ - भू को करने लांछित
डाल अहाते के सम्मुख शिशु को
निज कलंक करना चाहा छादित!
शिविर सार्वभौमिक विकास के हित
प्रीति मुक्ति को करता प्रोत्साहित,—
गोपन कृत्यों की कटु परम्परा
विगत युगों की देन रही कुत्सित!

कला केन्द्र में भी दुर्बल क्षण में
होता यदि अभिभूत नव्य यौवन,
स्वीकृत करता कवि अनिष्ट फल को,—
राग क्षेत्र का दुष्कर परिमार्जन !
उच्च ध्येय था युग-कवि के सम्मुख—
असफलता से मँजता नित साधन,—
राग-चेतना हो भू की संस्कृत,
धरा स्वर्ग हो प्रीति ग्रथित पावन !
फिर मनुजोचित भी शिशु संरक्षण,
परम्परा का प्रश्न न था आवृत,—
हरि का नैतिक मन्यु दंश खाकर
युग-कवि का मन हुआ नहीं विचलित !
केन्द्र चेतना का रस सित सागर
जड़ अतीत के तट करता प्लावित,
बुद्‌बुद-से तिरते चरित्र उसमें
प्रथम मनुजता—व्यक्ति गौण निश्चित !
कहता कवि-मन, भू-विकास क्रम में
यही सत्य हो रहा सृजन छन्दित,—
कला-शिविर में सार तत्व संहृत
स्वप्न तूलि से भले लगे अंकित !
उसे बोध था, जड यथार्थ कैसे
सत्य पाश में होगा संयोजित,
टाँग पसारे लेटी वास्तवता
सत्य करे उसको प्रकाश गर्भित !
देख नवागत का मुख, आर्द्र हृदय
कवि के मन में हुआ स्फुरण गोपन,—
दिग् विराट् सचराचर में व्यापक
हुआ जनन पद्धति का उद्‌घाटन !
पावक ज्योति मरन्दों से विरचित
मातृ प्रकृति का भग था, रज पावन,
स्वर्णिम सित कक्षों में थे पुंजित
जीव श्रेणियों के असंख्य चित् कण !
सोच रहा था कवि पवित्र नव शिशु
अमित योनियों के क्रम में छनकर
पंच तत्व तन्मात्रा से निर्मित
सूक्ष्म स्थूल का मूर्त रूप सुन्दर !
बुद्धि प्राण मन अहं हृदय चित् से
भाव प्रवण रस-यन्त्र हुआ कल्पित,
अनघ विद्ध आत्मा रज पंजर में
कैसे मुक्त बँधी, भव लीला हित !
शाश्वत, निमिषों में जागा अपलक,
रूप अरूप हुए मिल महिमान्वित,

स्वर्ण ज्योति चित् नर ने शून्य तमस
जीवन अरुणोदय में किया द्रवित !
कौन नाम दे तुम्हें पुकारे जग,
किन रूपों में देखें जन लोचन ?
जब अमर्त्य ही स्वयं मर्त्य बनकर
कर्म मुखर करता जन - भू - प्रांगण !
अवाङमनसगोचर बन दृग् - गोचर
शब्दों में भरता अशब्द आशय,
धिक् उस मन को, तुमको पा उर में
जो तुम पर, जग पर करता संशय !
शिशु का मुख अवलोक सोचता कवि
कौन भला इससे जग में पावन ?
जाति वंश कुल गोत्र मनुज की कृति,
भगवत् गोत्र सनातन नर लक्षण !
किस विशिष्ट गुण से हो शिशु गर्भित
आया, स्वर्ग दया से अभिषेकित,
पैत्रिक संस्कारों पर हो विजयी
इस धरा - पथ करता नव निर्मित !
प्रकृति पुरुष इसके प्रिय जननि जनक,—
पूर्ण धरा - जीवन जो हो विकसित,
जो विशुद्ध हो तन - मन, भव प्रांगण,
मानवता में हों प्रभु रज - मूर्तित !
मेधा प्रवचन में न प्राप्त ईश्वर,
अर्ध सत्य विज्ञान, नीति, दर्शन,
ध्यान धारणा में न तत्व अँटता
उसे मूर्त करता दे नव जीवन !
अमृत सिन्धु हो अणु बिन्दु भीतर,
मृदुल मुकुल में हो वसन्त शाश्वत,
हो स्वर्गिक संगीत मूक स्वर में—
शिशु रहस्य जगती का,—कवि प्रणिमत !

श्रद्धा करती नव शिशु का पालन
उसे प्रीति का आता सहज स्मरण —
मातृ द्वार की स्त्रियाँ पूर्व - ग्रह खो,
धीरे शिशु का करती अभिनन्दन !
मनुज नाम मंत्री ने दिया उसे,
बढ़ता था, पा जीवन स्थिति संपुल,
पुत्रहीन स्त्री - जन गोद उर का
मुक्त प्रेम उसको करतीं अर्पित !
लोरी गाती श्रद्धा फिर मा बन
जीवन प्रांगण के प्रति श्रद्धा नत,

बद्ध दृष्टि,—जग पाप क्षेत्र, भंगुर,
सत्य दृष्टि,—भव अक्षर सित शाश्वत !
गाती धात्री मुग्ध, स्नेह तन्मय,
डुला पालने में शिशु को सादर,
दिशा हिंडोला, पावन शिशु ईश्वर,
काल झुलाता थपकी दे निःस्वर !—

गाओ, नव लोरी गाओ,
मुन्ना का हृदय रिझाओ,
रुपहली नीलिमाओं से
नभ की अप्सरियो, आओ,

रत्नच्छाया पट बुनकर
श्री-शोभा में लिपटाओ,
स्वर्णिम किरणों-सी अलकें
शशि मुख से, विहँस हटाओ !

सखि, धरा गुहाओं में नव
जीवन स्वर्णोदय लाओ,
रस सित नव चित् स्रोतों में
नन्हे का मन नहलाओ !

वीणा तारों में सोयी
स्वर्गिक स्मृति, उसे जगाओ,
शाश्वत की तन्मय लय में
नव शिशु का हृदय डुबाओ !

नव शोभा के क्षितिजों में
लालन को मुक्त उड़ाओ,
स्वप्नों के वन की सौरभ
नासा पुट में बरसाओ !

जीवन-विकास क्रम को नव
आनन्द छन्द दे जाओ,
नाचो नव स्वर संगति में
दिशि की काँची झनकाओ !

सोया चित् पावक का कण
शिशु अन्तर में सुलगाओ,
खेलें हँस आँख-मिचौनी
सीमा असीम, मुसकाओ !

तुम मानव की स्वर्धात्री
नव जीवन अमृत पिलाओ,

शिशु उर में ऋत रस वैभव
बरसा, भव शोक मिटाम्रो !

जीवन की सित शृंखल में
करुणे, नव कड़ी लगाम्रो,
यह मानव आत्मज पावन,
चेतने, इसे अपनाम्रो !

सत्य - वीर्य जीवन के शिशु को
भू - कर्दम से उठा, पोंछकर,
स्वर्ग दया—नव धरा चेतना
भू - मा - सी गोदी लेती भर !
भुला प्रीति पलने में, उसका
चित् रस से करना - सम्पोषण,
भू - विकास के कटु रण में वह
विजयी हो, जाग्रत्, नव चेतन !

२. अन्तर्विरोध

तिमिर, विनम्र प्रणाम तुम्हें कवि का,
तुम अवगुण्ठित ज्योति रूप शाश्वत,
आदि सृष्टि आधार - शिला रस-गुह्य
प्रकृति योनि, रति अचित् कूप अक्षत !

दृष्टि अविद्या में दो युग - कवि को
देख निशा के पार सके अन्तर,
विद्या का सित तीर्थ बने भू - मन
खुलें ज्योति अमरत्व लोक भीतर !

देख तुम्हारी भगवच्छवि, प्रिय तम,
जन्म - मरण भय मिटे, बुद्धि संशय,
जीवन - बोध जगे तद्गत उर मे
जड़ संस्कार धरा - मन के हों क्षय !

गुहा तिमिर से ज्योति, ज्योति से तम,
निखिल विश्व जिसका लीला प्रांगण,
ज्योति तमस से परे, सजन सुख रत,
प्रेम तत्व अन्त: प्रभ, अघ पावन !

कटें बन्ध तम - मूढ़ लोक मन के
ज्योति अन्ध दृग पायें दृष्टि नवल,
चिज्जड़ का कर नव रस - मूल्यांकन
प्रीति - स्वर्ग हो भेद - भग्न भूतल !

घिरा युगान्त तमिस्र विश्व मुख पर
अन्तर में होता नव अरुणोदय,
मन: क्षितिज पर उदित शुभ्र रस रवि
प्राण गुहा तम नव प्रकाश तन्मय !

किरण तूलि से भर सतरंग छाया
गिरे, करो कवि - स्वप्न हृदय अंकित,

मास्या की झंकार भरो जन में
जागें वे जो नव युग प्रति निद्रित !

छाया मावस का संतमस सघन
ज्योति - पर्व का आया पावन क्षण,
नव दीपोत्सव मना रहे भू - जन,
भूत निशा हो उठी स्वर्ग चेतन !

शत सूर्यों की आभा का दर्पण
अन्धकार का करुणा घन आनन,
पूर्ण सत्य का मुख न देख पाये
दिवा दृष्टि के नीड़ भीरु लोचन !

स्वर्णिम लपटों में, लो, सुलग उठा
स्वप्न शिखा जन - भू तम का अंचल,
ज्योति विद्ध निश्चेतन प्राण भुवन
जाग उठे अँगड़ा सोये दिशि पल !

विहँस उठे भू - मनस् पात्र मृण्मय
अन्तर्दृष्टि मिली जग को अभिनव,
जीवन प्रांगण चित् प्ररोह प्रहसित,
उगा रही जन - भू ज्योतिर्वैभव !

बुद्धि ओट छिप रश्मि चेतना की
जन - जीवन - पथ करती थी ज्योतित,
स्वर्ग विभा अब उतरी भू - मन में
रज के रोम कनक लौ में कुसुमित !

खुले अविद्या दैन्य लोह बन्धन
कल्मष का मुख दिव करुणा उज्ज्वल,
स्नेह वर्ति, चेतना प्राण मिलकर
मना रहे नव भू - जीवन मंगल !

मृद् दीपों का अपलक व्योम सँजो
जन-भू-मन का क्षितिज विभा विस्तृत,
गृह आँगन पथ, ग्राम नगर तोरण
पावक ध्वज छवि दीप शिखा मण्डित !

प्रकट प्रभा इन्द्रिय - गवाक्ष - मुख पर
मन वाणी से परे ऊर्ध्व अक्षर,
जग - जीवन अब स्वर्ग ज्योति मन्दिर
आभा के पग - चिह्न बिछे भू पर !

धरा दीप ही ईश्वर का प्रतिनिधि
सूर्यों का आलोक लिये अक्षय,
पूर्ण हुआ चिन्मय मृण्मय लौ बन
तपस्तेज पी महत्—स्नेह तन्मय !

काल - नील गह्वर - सा लगता नभ
तम वासुकि हो दिक् कुण्डल मारे,
फेन स्फीत शत विष फन फैलाये—
स्फोटा मणियों - से जलते तारे !

ज्योति पीठ अब जन - भू का जीवन,
व्योम देखता विस्मय से स्तम्भित,
लिखी भाल पर थी जो ज्योतिर्लिपि
भू पर सत्य हुई, जीवन मूर्तित !

चम्पक ज्वालाओं के धरणी ने
पहने जगमग उत्सव आभूषण,
नभ ने जो स्वर्णिम किरणें बोयी
फूटे उनसे अंकुर चित् पावन !

धधक सुप्त अवचेतन का पावक
जीवन शोभा लपटों में मुकुलित,
मन प्राणों के भुवनों का विप्लव
स्वर्ग सृजन संगति में संयोजित !

ज्योति तमस की अद्भुत द्वाभा में
देख रहा था कवि विस्मित लोचन—
जन्म ले रहा जन भू - प्रांगण में
नव्य कल्प,—भय शंकित था प्राक्तन!

स्वयं केन्द्र - जीवन - विकास में भी
लगता अब गतिरोध कहीं गोपन,
रसोन्नयन के विमुख अचेतन स्तर
उद्वेलित करते मन को प्रतिक्षण !

गत भू के संस्कारों में पोषित
प्राणों का जीवन विद्रोही बन
घोषित करता निज स्वतन्त्र सत्ता
घुमड़ा करता आवेशों का घन !

प्रगति रुक गयी थी रस चेतस् की,
कहीं सूक्ष्म नैतिकता का बन्धन
दृष्टि क्षितिज को कुण्ठित कर देता—
गत मूल्यों के प्रति दे आकर्षण !

रस शोभा आनन्द प्रीति नभ में
मुक्त न उड़ पाता यौवन का मन,
जहाँ प्रतीक्षा करते अपलक दृग
नव्य चेतना के आलोक भुवन !

स्नेह डोर में बँधे मौन हरि - श्री
मोह द्वीप - से स्थित रस - सागर में
केन्द्र चेतना को सीमित रखते
भ्रातृ - स्नेह की स्वर्णिम गागर में !

उनके भाव -, रजत आदर्शों से
अनुशासित था निखिल केन्द्र जीवन,
असन्तोष था कहीं गूढ भीतर—
भले बहिर्गत ही सित संयोजन !

निभृत - गहन अन्तर्मन कक्षों में
रुद्ध पड़ी थी मनुज भाव सम्पद्
अभिव्यक्ति के हित जो थी आतुर
अवचेतन का चीर सघन आच्छद !
कहा एक दिन वंशी ने श्री से—
श्री, तुमने हरि ने मिलकर निश्चित
कला केन्द्र को जन्म दिया भू पर
निज जीवन मन, श्रम तप कर अर्पित !
श्रेय तुम्ही को संस्कृति प्रांगण का,
स्वर्ग स्वप्न तुमने भू - पलकों पर
मूर्त किया—शाब्दिक कृतज्ञता से
हो सकता ऋण - मुक्त नहीं अन्तर !
फिर कृतज्ञता ज्ञापन कौन करे ?
मुझसे अधिक तुम्हारा यह प्रिय धन,
किन्तु, देखता, नव्य चेतना प्रति
अभी नहीं खुल सका सिरी का मन !
भ्रातृ - स्नेह की श्रेणि पार कर ही
तुम्हें मिलेगा अन्तरिक्ष भास्वर
जहाँ छेड़ते तन्मय वंशी ध्वनि
निराधार रस पुरुष खड़े निःस्वर !
भ्रातृ - प्रेम प्रति श्रद्धार्पित जीवन
अपने में सित संस्कृति निधि निश्चय,
पर, भू हो भगवत् चित् रस-सागर,
शुभ्र प्रेम के लिए प्रेम अक्षय !
भ्रातृ - प्रेम से महत् केन्द्र जीवन
मनुज प्रीति का वह व्यापक प्रांगण,
मिटे मोह सात्विक नैतिकता का
अभिव्यक्त हो अन्तश्चित् यौवन !
तुम हरि से रह दूर जनपदों में
भू - रचना मंगल का ले दृढ़ व्रत
संस्कृत करो कुरूप धरा का मुख
शंकर के संग लोक - कर्म में रत !
सुन्दर प्रीति अजित भी गाँवों में
नव संस्कृति वीरुध करते रोपण,
तुम निज दृढ श्रद्धा, संस्कृत रुचि से
बोओ स्वर्ण प्ररोह अग्नि चित् कण !
मुक्त दृष्टि देखो जीवन का मुख,
पहचानो, वह प्रेम—मोह गुण्ठित,
कूद चेतना - सागर में—थाहो
वह अकूल रस, जिसमें जग मज्जित !
हरि के हित भी होगा यह हितकर
गाहे वह जीवन का निस्तल मन,

वहाँ न नीति कृपण मूल्यों के तट,
मुक्त अमित आनन्द—प्रेम दर्पण !
ऋण नैतिकता घातक जन-भू हित
धन सात्विकता ही जन जीवन धन,—
श्री ने झाँका कवि के अन्तर में
स्वच्छ प्रीति रस के सर थे लोचन !
सृजन चेतना भर था कवि वंशी
कर्म शक्ति का था हरि स्रोत महत्,
भाव प्रेरणा थी हरि के हित श्री
जन - भू मंगल, निष्ठा तप व्रत रत !
बोली श्री, मैं कवि की आज्ञा का
करती रही सदा मन से पालन,—
जन - भू - जीवन के प्रति श्रद्धार्पित
मेरे उर के शोणित का प्रतिकण !
कवि के सित चैतन्य स्वर्ग के प्रति
श्री का अन्तरतम था आकर्षण,—
सेवार्पण, कर्तव्य - प्रेम हरि का
किन्तु मोहता उसका सात्विक मन !

भारत जनपद जीवन था दारुण
रूढ़ि रीतियों का कर्दम सागर,
उसे उर्वरक बना—केन्द्र संस्कृति
जन - भू - मन का करती रूपान्तर !
हरि था दृढ़ संकल्प - शक्ति पर्वत
आत्म - त्याग के हित अनन्य तत्पर,
नैतिक संयम था दृढ़ रजत कवच,
सदाचार का शक्ति स्रोत भीतर !
वंशी भी न अनैतिक था किंचित्
अतिनैतिक था उसका रस दर्शन,
हरि जीवन वास्तवता में ध्रुव स्थित
उठने देता भू से नहीं चरण !
स्वीकृत करता हृदय नहीं हरि का
प्रीति चेतना का रस संजीवन,
विषम समस्याएँ भू - जन सम्मुख—
मुक्त प्रीति होगी बाधा भीषण !
जहाँ धरा - जीवन, मानव - मन में
मचा निरन्तर दारुण संघर्षण,
वहाँ अचेतन वृत्ति जगाकर कवि
नरक तिमिर को देता आमन्त्रण !
शुभ्र राम संस्कृति के पथ से ही
सम्भव स्त्री - नर का जीवन मंगल,

हो सतीत्व की स्फटिक मूर्ति नारी,
गृह खूँटे से बँधा स्नेह अंचल !
प्रीति इकाई हो कुटुम्ब—स्त्री - नर
ग्रन्थि बद्ध ही मुक्त, नहीं संशय,
लाँघ वृद्धि के पुलिन भाव - धारा
कर्दम मे सन जायेगी निश्चय !
समझ न पाता कुछ भी हरि का मन
कवि किस धरती पर करता विचरण,
मुक्त कल्पना पंखों में उड़ वह
स्वप्नों के चुनता आकाश सुमन !
यहाँ प्रेम की नहीं, घृणा की जय,
सत्य नही, मिथ्या का अनुशासन,
संस्कृति पर पशु बर्बरता विजयी
भू न ज्योति मन्दिर, निशि तम प्रांगण !
छिड़ता सुहृदों में विवाद प्राय:
कहता हरि, तुम क्या उलटी धारा
बहा सकोगे जग में ? ज्ञात तुम्हें,
प्रेम काम मधु - सायक का मारा !
तुम केवल मानवता पर मोहित,—
दानव क्षण से रक्षा के साधन
संग्रहणीय न क्या जन - मंगल हित ?
दुर्बल मनुज, प्रबल अति निश्चेतन !
विरत खिन्न होता जब हरि कवि से
प्रीति मुक्ति के प्रति मन में शंकित,
शंकर लेता पक्ष सहज कवि का
जन्मजात था वह अन्त: संस्कृत !
सित अन्त: रस चिति के प्रति जाग्रत्
उसको लगता—धरा पंक में जन
रेंग रहे लघु मानव कृमियों - से
काम द्वेष, कुत्सा, लांछन मे सन !
सम्भव उनके हित न महत् जीवन
जो शोभा के त्वचा स्वेद में रत,
नव मानवता को करना होगा
शुभ्र प्रीति का नव युग में स्वागत !
मानव बन सकता न पूर्ण मानव
जब तक हो रस - शुद्ध न भू - प्रांगण,
ज्ञान त्याग तप,—विकसित प्रेम विना
रिक्त, अनुर्वर, ऋण विमुक्ति साधन !
शंकर,—देख चुका था जो जीवन—
कहता—यह अन्धों का पागलपन,
सित प्रकाश को कहते वे कटु तम,
ज्योति मान तम का करते पूजन !

देख रहा था वह दुर्धर्ष समर,
मानव के अन्तर्मन प्रांगण में,
खड़ा काम था पशु बल सेना ले—
प्रीति आत्म- विजयी, निर्भय मन मे !
नहीं तर्क का उत्तर देता कवि
वह यथार्थ के जग से था परिचित,
दानव तम को पीछे छोड़ —स्वयं
नव प्रकाश रस शतदल में था स्थित !
गत भू - जीवन ही के पट में हरि
नव प्रकाश का करता मूल्यांकन,
आहत था कवि, रस समग्रता में
कर पाता हरि चिति को नही ग्रहण !
स्वर्ग-किरण को कहना नरक - तिमिर
दृष्टि - दोष यह भू-मन का निश्चय,
काम अचेतन अन्ध वृत्ति जग में,
प्रेम भागवत ज्योति— नही संशय !
कवि चाहता धरा - मन में बोना
रस प्रकाश की नव सौन्दर्य किरण,
रश्मि स्पर्श से जग उठते मन में
अन्धकार के अंकुर बन चेतन !
अन्धकार ही की उर्वर भू पर
बीज ज्योति के हो सकते विकसित,
जीवन का गोपन रहस्य इसमें—
ज्योति तिमिर हों अन्तः संयोजित !
विविध श्रेणियाँ भू - विकास - पथ में
जिन पर मानव - मन करता रोहण,
भावी गत की पूरक बन आती,
नष्ट न करता भूत - सिद्धि नूतन !
राम कृष्ण संस्कृतियाँ रहें अटल
शैव शाक्त सम्पद् भी निज स्थल पर,
सृष्टि प्रक्रिया का अजस्र आग्रह
नव विकास का प्रतिनिधि हो युग-नर !
स्वप्न नहीं यह, *गति प्रिय सत्य* चरण,
नव यथार्थ की सित भू पर स्थापित,
लाँघ रहा निज अर्थ यथार्थ स्वयं—
यह न काल्पनिक स्वर्ग मनः सर्जित !
उड़ता मानव वायुयान नभ में
भू पर रहते उसके लक्ष्य - चरण,
भू से भी ऊपर जन - भू की स्थिति
मन को लाँघ निखरता मन का मन !
ऊर्ध्व चेतना भावी समदिग् गति
मुझे नहीं इसमें किंचित् संशय,

प्रम सत्य - संचरण मनुज - मन का
लँगड़ाहट-भर काम—व्यर्थ निशि-भय !
कुछ तार्किक सैद्धान्तिक कुण्ठित जन
मिथ्या नैतिक मानों से पीड़ित
रस प्रकाश को प्राण - तमस बतला,
उसे करेंगे द्वेष - अन्ध लांछित !
जीवन का आंशिक मूल्यांकन कर
गैरिक सत्य करेंगे वे घोषित,
स्वयं व्यक्तिगत जीवन को अपने
गुह्य काम तम कक्ष बना कुत्सित !
क्षुब्ध चित्त बोला हरि एक दिवस
प्रेम तुम्हारी वस्तु तुम्हें अर्पण,
तुम्ही सँभालो कला - शिविर को अब
मुझसे हो न सकेगा संचालन !
आज्ञा दो, घर - द्वार बसाऊँ मैं
फिर से हाथों में ले हँसिया - हल,
कहीं सिरी के हित भी घर खोजूँ
मुझे दीखता इसमें ही मंगल !
आँसू भर दृग में, बोला वंशी,
हरि, तुम कैसे लगते मर्माहत !
ऐसा क्या हो गया, रुष्ट होकर
केन्द्र छोडने को जो तुम उद्यत !
और कौन घर - द्वार चाहिए अब
तुम्हें ? केन्द्र क्या नहीं मनुज का घर ?
सिरी प्रेम के चरणों पर अर्पित,
उसे नहीं चाहिए दूसरा वर !
बन्धु, जनक हो कला - पीठ के तुम,
हम सब शिशु, आज्ञा करते पालन,
उतर सका युग - स्वप्न न पूर्ण अभी
केन्द्र बन सका नहीं स्वर्ग - प्रांगण !
कहा व्यथित हरि ने—देवों को ही
स्वर्ग सुलभ हो, मुझे न वह स्वीकृत,
परम्पराओं को निर्वासित कर
भू पर होगा स्वर्ग नहीं निर्मित !
उच्छृंखलता, अनय, असंगति ही
नरक - द्वार के अधोमुखी लक्षण,
विकसित मर्यादाओं पर निर्भर
स्वर्ग पूर्ण स्वर - संगति संयोजन !
प्रीति मुक्ति का जाने कब भू - मन
समझ सकेगा कवि कल्पित आशय,
जनन मुक्ति का वर पा अब तुमसे
मचने को जन - मन मे मूल्य प्रलय !

प्रकृति जात शिशु को आश्रय देकर
तुम विरुद्ध कर चुके क्रुद्ध जन-मत,
अब सुन्दर-आस्था के कुल-कृमि से
स्वर्ग कल्पना नरक कुण्ड परिणत !

प्रजनन का अधिकार उन्हें देकर
तुमसे दारुण किया लोक पातक,
भर न सकेगा सती धरा-उर व्रण,
कला-केन्द्र के हित भी यह घातक !

वमन करेगी धरा कोख कल्मष,
कुल कलंक उपजेंगे नित संकर,
वर्ग चयन-गत कुल संस्कारों का
भू-जीवन होगा जघन्य खँडहर !

प्रजनन शास्त्र, नृवंश नीति के भी
नियमों का होगा निष्करुण हनन,
पाट न पायेगा भावी मानव
गर्त सभ्यता संस्कृति का भीषण !

बोला कवि, हरि, क्या तुम इस कारण
छोड रहे हो कला-पीठ प्रांगण ?
केन्द्र नव्य भू-संस्कृति का रस-भग
जन्म धरा पर लेगा नव जीवन !

जो तुम कहते वह न ध्येय मेरा,
जन उसको करते ऐसा चित्रित,—
मुझे इष्ट जो—वह अतिशय उससे
जिसे मनुज कर सका अभी अर्जित !

सर्व प्रीति स्वीकृति से जीवन के
मन के होंगे मूल्य ऊर्ध्व विकसित,
बदल प्रयोजन जायेगा जग का
भेद-भाव होंगे भू के मज्जित !

सामाजिकता होगी दिग् विस्तृत
भाव मुक्ति से जन-मन अनुप्राणित,
नव प्रहर्ष से यौवन-उर स्पन्दित,
शोभा होगी भू पर सम्मानित !

मनुज प्रकृति होगी रस परिमार्जित
सूक्ष्म भावनाओं का शुभ्र उदय,
युग्म चयन, रस साम्य बोध प्रेरित
सम्भव होगा हृदयों का परिणय !

तुम कहते हो तो सुन्दर आस्था
दोनों पाणिग्रहण कर लें विधिवत्,
सम्भव, मेरे चिन्तन में त्रुटि हो,
किन्तु सत्य जनमत से कहीं महत् !

मुझे ज्ञात, शिशु शुभ्र प्रणय सन्तति,
प्रेम हुआ जन भू पर अभ्यागत,

मा बनने की इच्छुक थी आस्था—
हुआ सोचकर ही कुछ मैं सहमत !
जाति गोत्र - गत वैवाहिक प्रजनन
विगत सांस्कृतिक मूल्य भले स्वीकृत,
काम जनन मेरे मत में जारज
प्रीति प्रसव ही लोक मूल्य संस्कृत !
सामाजिक स्वीकृति विवाह बन्धन—
भू - विकास स्थिति क्रम में आवश्यक,
किन्तु न वह रस शुद्ध कामना का
शुभ्र प्रीति परिणति का परिचायक !
भोग लालसा की अनुमति - भर वह,
युग्म कक्ष में बद्ध भावना गति,—
अन्ध काम आवेगों से प्रेरित
कृमियों - सी रेंगती मनुज सन्तति !
प्राण शक्ति दुर्जेय—ग्रन्थि बन्धन
भाव मुक्ति हित बने नहीं बन्धन,
सर्व प्रीति के सित पंखों मे उड़
मनुज प्रकृति कर सके ऊर्ध्व रोहण !
प्रीति शुद्धि ही सार परिग्रह का
क्षेत्र बनाना भू पर उसके हित,
परिणय बाह्य विधान, मनुज जीवन
प्रीति स्पर्श से ही होता उपकृत !
रूढि रीति कर्दम से बाहर कढ़
प्रेम पद्म हो सके पूर्ण विकसित,
निज शोभा की दिव्य पूर्णता में
जन - भू को कृतकृत्य कर सके नित !
नैतिक त्वच सीमाओं मे बँधकर
सामन्ती स्थितियो से अनुप्राणित,
युग्म प्रीति रति कक्ष कूप कवलित
बन न सकी सित रस प्रहर्ष विकसित !
प्रीति मुक्ति की चित् रस शोभा से
बहिरन्तर संघर्षण हो प्रशमित,
भौतिक आध्यात्मिक जीवन मिलकर
स्वर्गिक शोभा मे हों संयोजित !
सर्व प्रीति अर्जित कर हो जग में
सम्भव उन्नत आध्यात्मिक जीवन,
भाषा, भाव, विचार, कला, संस्कृति
बन सकते स्वर्गिक शोभा दर्पण !
नर - नारी की शुभ्र प्रीति ही में
भगवत् गुण हो सकते अभिव्यंजित,
प्रीति - नीव पर ही श्री - शोभा का
सौध सांस्कृतिक हो सकता निर्मित !

उच्च प्रीति के ही स्वर्णिम गुण में
भू मानवता को करना गुम्फित,
आध्यात्मिक सामाजिक संयोजन
भौतिक भू - जीवन में कर स्थापित !

केन्द्र छोड़ने में यदि भू - मंगल
तो मैं पहिले छोड़ूँ—यह संगत,
मैं प्रतिवादी कवि—तुम केन्द्र जनक,
कला-शिविर संरक्षक—जन सम्मत !

कवि श्रद्धा प्रति हरि था नत - मस्तक
वंशी का विच्छेद न था सम्भव,
बिना इन्द्रियों के जी ले मानव
श्वास बिना कब जी सकते अवयव !

युग कवि की सित आस्था प्रति अर्पित
कर्मठ हरि फिर हुआ कर्म में रत,
नवोत्क्रान्ति के प्रति मन में शंकित
क्रमिक प्रगति से ही था वह अवगत !

नव्य चेतना - पट पर आधारित
मनः संगठन में था वंशी रत,
जड़ पर चित् की जय न लक्ष्य था अब,
दोनों का संयोजन था अभिमत !

कवि चैतन्य न था आकाश - कुसुम,
वह भावी जन - भू जीवन दर्शन—
जिसे मूर्त होना नव जीवन में
मानवीय बन सके धरा - प्रांगण !

ज्ञात नहीं था उसे, केन्द्र के प्रति
बढ़ता जाता था विरोध जन में,
जार - पुत्र में प्रीति मुक्ति परिणति
मर्म शूल - सी चुभती जन - मन में !

वैश्व ह्रास के कारण भू - उर में
असन्तोष के घिरे अन्ध थे घन,
कटु अतृप्ति भीतर, अशान्ति बाहर,—
गत जीवन से था युग - मन का रण !

विश्व शक्तियों में विरोध बढ़ता
भू विकास हित था अति संकट क्षण,
चढ़ता जाता सिर पर रुद्ध अहं
महानाश के उठा भयंकर फन !

अस्त्र शस्त्र दंष्ट्रों से सज्जित भू
अहि दानव - सी मुँह बाये कुत्सित,
शक्ति स्फीत, मद मत्त प्लवंगम जग
मुँह में घुसने को था लालायित !

रक्त तृषा, विस्तार - स्पृहा पीड़ित
सर्प - छत्र - से उग्र राष्ट्र उगकर
शान्ति भंग करते भू - देशों की
छद्म आक्रमण कर प्रतिवेशी पर !
मध्य युगी भारत का जन - मानस
रूढ़ि - रीतियों से विपन्न जर्जर,
क्षुद्र सम्प्रदायों, वर्गों में बँट
निकल रहा था अब विमुक्त बाहर !

कौन स्वतन्त्र हुआ भारत - भू पर
सोच रहा था कवि मन में चिन्तित,
दैन्य ग्रस्त जन ?—नहीं, मध्य युग की
मनोवृत्तियाँ मुक्त हुईं कुत्सित !
धिक् वह देश, जहाँ नारी - शोभा
नहीं पुरुष को करती उन्मेषित,
मानव - प्राणों को नव यौवन की
उच्च प्रेरणा से कर दिग् दीपित !

जहाँ मुक्त आदान - प्रदान नहीं
स्त्री - पुरुषों के हृदयों का पावन,
भू - जीवन रचना शोभा के हित
अर्पित जहाँ न युक्त कर्म, तन - मन !
धिक् वह सदाचरण जो स्त्री - नर को
सदा परस्पर रखता भय शंकित,
बौनी नीति विवश करती मन को
भाव अनुर्वर जीवन यापन हित !

मनुज प्रीति का नर - नारी उर में
होने देती जो न सेतु निर्मित,
मधुर प्रतीति, सहज सहृदयता से
धरा हृदय को रखती चिर वंचित !
मध्य युगी आदर्शवाद को धिक्
सामाजिकता के प्रति जो उपरत,
जड़ यथार्थ को पश्चिम के शत धिक्
जो अन्तः संशय पीड़ित सन्तत !

सामाजिकता के अभाव में ज्यों
वैयक्तिक अन्तर्विकास निष्फल
अन्तः शिखरों की उपलब्धि बिना
बहिर्भ्रान्ति - जीवन मृग तृष्णा, छल !
थोथे आदर्शों में रत युग मन,
बदल चुकी आध्यात्मिक परिभाषा,—
अब न धर्म परलोक मुक्ति अर्जन,
वह उन्नत भू - जीवन अभिलाषा !

शस्त्र त्याग, रण वर्जन से जग में
राजनयिक हो शान्ति भले स्थापित,

एक ऊर्ध्व संघर्षण भू - मन में
जन्म ले रहा अब दिगन्त विस्तृत !
भौतिक रण से क्रूर कहीं यह रण
मानव अन्तर को करता मन्थित,
आरोहण करना गत भू - मन को,
जीवन तम को होना नव संस्कृत !
ऊर्ध्व स्पर्श प्रति विमुख धरा - उर को
सम्भव था करना न स्वर्ग दीपित;
आंशिक अणु रण सत्य—सोचती थी
विश्व चेतना जन - भू मंगल हित !
तुच्छ स्वार्थ घेरे थे भू - जन को,
वैमनस्य दंशित करता अन्तर,
बहतीं रुग्ण विकृतियाँ शोणित में
अनाचार था किये हृदय में घर !
आर्थिक राजनयिक स्पर्धा प्रेरित
ज्यों भौतिक विज्ञान ध्वंस क्षय रत,
हुआ अविद्या मन्त्र - तन्त्र कवलित
स्वार्थ सिद्धि हित आध्यात्मिक भारत !
युग युग के छाये तामस घन से
शील - विकृत हो गया धरा का मन,
घृणा श्वास, कटु द्वेष हृदय शोणित,
निखिल ध्येय बन गया अहंता कण !
छायी थी दिग् भ्रान्ति लोक - मन में
भय संशय का फैला दारुण तम,
कौन पाप करता न बुभुक्षित नर,
क्षीण निष्करुण होते,—यह विधि क्रम !
सत्य मृषा का बोध न था भीतर
भटक रहे थे अन्धकार में जन,
आत्म प्रदर्शन, विज्ञापन ही को
सत्य निकष मानता मूढ़ युग - मन !

माधो के अनुयायी जन - मत को
करते वंशी के विरुद्ध अविरत,
यह दुर्भाग्य रहा भारत - भू का
द्वेष दंश से यहाँ मनुज आहत !
शेष नाग के सिर पर इस भू ने
ठोंका हो ईर्ष्या का प्राम गहन,
व्यक्ति-दर्प जग, महत् लोक शिव का
करता रहा यहाँ निष्फल खण्डन !
लगा ज्योति का छद्म मुखौटा तम
मनुष्यत्व का करता मूल्यांकन,

बौद्धिक मूल्यों के कुश - कण्टक बो
नव्य चेतना का प्रतिस्पर्धी बन !
प्रकृति प्रजाओं के कारण जन - मन
उद्वेलित था प्रतिपक्षी प्रेरित,—
सस्कृति प्रांगण के बाहर यद्यपि
सदाचार का स्तर था सर्व विदित !
पर युगान्ध मन का आक्रोश प्रखर
स्वर्ग-दूत युग-कवि प्रति था निश्चित,
निष्क्रिय मनोगुहा का सूनापन
अशिव शक्ति से रहता अभिप्रेरित !

शान्ति कुज मे रहते अब माधो
तन से जर्जर, उर अहि से दंशित,
अचित् शक्ति का कर प्रयोग कवि पर
कुटिल अविद्या तन्त्र-मार्ग अर्जित ! —
शोपण कर युग - कवि के चेतस् का
रस प्रकाश से हो नव उन्मेषित
श्रेष्ठ सर्जना कर, गुरु मानस शशि
हुआ शनैः फिर राहु कवन्ध ग्रसित !
एक तीर से कर दोनों पशु बध
मेघनाद की - सी जय - गर्जन भर,
हुए स्वयं गुरु हत—अप्रत्याशित
लौटा जब उनका छोडा खर शर !
विचलित हो उठता रह रह अन्तर
तमोदंश करता मन को मन्थित,
रोके अन्तर में ज्वालामुख को
लगते वे बाहर पर्वत - से स्थित !
बुझती जाती ज्योति - किरण मन में
उर दुःस्वप्नों का जर्जर पंजर,
अहं दर्प वनकर कटु तामस घन
घिरता जाता छाया - सा मुख पर !
किससे करते गुरु अरण्य भाषण
किससे रचते मन में संघर्षण,
बैठ मित्र के निकट कभी क्षण-भर
पर्वत दुख से पिसता युग कवि मन !
नही सूझता कुछ उपाय उसको,
ज्ञात न था उपचार, व्याधि अविजित,
गुह्य कूट वचनों से माधो के
युग-कवि मन-ही-मन रहता शंकित !
हृदय भार से नींद उचट जाती
घूमा करता आँखों में वह मुख,

तेजोज्वल जो रहा हास्य - दर्पण
प्रतिबिम्बित अब उसमें निर्मम दुख !

गुरु उदार थे, पर - उपकार निरत,
दान त्याग तप की प्रतिमा जीवित,
तेजस्वी, द्रष्टा, शिल्पी, सर्जक,
दर्प दीप्त प्रतिभा के रवि निश्चित !

दुर्बल के बल, दुखियों के रक्षक,
स्वाभिमान के उन्नत सूर्य शिखर,
जन संघर्षण के अजेय नायक,
युग पथ निर्माता, प्रबुद्ध, तत्पर !

सह सकते अन्याय न पर - शोषण,
घृणा, क्रोध, अपमान, दम्भ, लांछन,
बुद्धि - जीवियों के निर्भय प्रतिनिधि
कविता - कानन के गजेन्द्र गर्जन !

हास्य व्यंग्य प्रिय, मुक्त-प्रकृति, दुर्जय,
क्रान्त दृष्टि थे माघो युग गायक,
मन्त्र तन्त्र विधि दीक्षित, साधक वर,
वे स्वतन्त्र चेता, रुचि निर्मायक !

विद्या - वैभव गुण बल दर्शन में
गुरु निःसंशय थे धुरीण पण्डित,
विगत चेतना का था उर प्रतिनिधि
जो अक्षम थी भावी मंगल हित !

गूढ खण्ड - व्यक्तित्व रहा उनका
अति उदार, संकीर्ण हृदय, निर्दय,
स्नेही द्वेषी, नम्र, उग्र उद्धत,
त्यागी प्रतिस्पर्धी, क्रोधी सहृदय !

सामाजिक दुष्कृतियों से आहत
अत्याचारों से कर निर्मम रण,
आत्म - विजय का केतन फहराने
किया उन्होंने निज जीवन अर्पण !

शान्त वारि बहते गहरे भीतर
वंशी या अन्तर्मुख चित् सागर,
मधुर प्रकृति, सुख-भीरु, जन्म संस्कृत,
श्रेयाकांक्षी, संयत, चिन्तनपर !

ऊषा वन का कला कण्ठ मधु पिक
बरसाता उर का स्वर्णिम पावक,
शील मौन, ईश्वर के प्रति अर्पित,
प्रभु - पद - रज-भू का अभिभावक !

आत्मलीन रहना यह अन्तः स्थित
सृजन प्रेरणा स्पर्शों हित कातर,

मैत्री से वंचित, मद विभव विरत
रहस इंगितों में लता अन्तर !
उसे न लगता इसमें कवि पौरुष
प्रतिभा बने उदग्र अहं पर्वत,
जल - सी ढलने की पा गति क्षमता
महत् पात्रता में हो रस परिणत !
सबके साथी गुरु, कवि प्रतिस्पर्धी
द्वेष तुषानल जलता उर भीतर,—
हुए अघोर अविद्या पथ में रत
शाप बना महदाकांक्षा का वर !
डँसा उलटकर उन्हें अचित् तम ने,
अधोमुखी अहि—ज्योति सुधा ली हर,
चूर्ण - चूर्ण हो गया दर्प दृढ़ गिरि,
गिरा वज्र - सा टूट अहं उन पर !
कुसुम वज्र—एक ही सत्य के गुण,
भू - मंगल हित हुआ सुमन विजयी,
अन्त: सुरभित धरे धरा पथ वह,—
विश्व प्रकृति—शोभा - आनन्दमयी ।

वाग्विलास थे अब गुरु के गुरु,
प्रथित शान्ति आश्रम के संचालक,
नित नव युवकों को करते दीक्षित
सिद्ध शिष्य - गुरु परम्परा पालक !
द्वेषी - द्रोही युग विद्रोही बन
उनके दल का बल करते वर्धन,
क्षुद्र अहं के सर्प, दर्प फणधर
गुरु ही थे उनकी गति, अवलम्बन !
शशक शृंग महदाकांक्षा कुण्ठित
गगन पुष्प मद स्वप्नों के खँडहर,
तिक्त अतृप्त विषय रस से पीड़ित
पावस छत्रक वन - से मन उर्वर !
भू - भाषा द्वेषी, तोते - पण्डित,
बहु विद्या कर्दम के छिछले सर,
पर-संस्कृति मल के परभृत लघु कृमि,
द्वेष दंश से जीवन - मन जर्जर !
घेर उन्हें वह दिशा भ्रान्त शिवगण
कला केन्द्र जन को करते लाछित,
वाग्विलास उनको सिद्धान्तों की
घूँट पिला नित करता अनुप्राणित !
नव पीढ़ी का असन्तोष पावक
धधकाता नव आसुर हवि का घृत,

उच्छृंखलता की समिधा सुलगा
रुद्ध अहं ज्वाला होती जीवित !
घृणा द्वेष का अन्ध धूम छाकर
मनः क्षितिज को करता आच्छादित,
संस्कृति कला पलायन बन उड़तीं,—
खीस काढ़ हँसता यथार्थ कुत्सित !
दुहराओ, बहुमुख से दुहराओ
झूठ सत्य बन जायेगा निश्चित,
करो उपेक्षा सब तटस्थ रहकर
सत्य स्वयं मर जायेगा अकथित !
विश्व - युद्ध की यह महार्घ शिक्षा
राष्ट्र शस्त्र हँस करते दिग् घोषित,
उगते - अंकुर उनकी छाया में
प्रगति न कर, होते कुण्ठा रोपित !
अन्तर्रीष्ट्रिय प्रतिभा पंखों पर
उड़ते पंख शलभ कुछ कहा गरुड़,
निज भू से उठ, अधर बीच लटके,
शिष्य शक्कर बनते, गुरु रहते गुड़ !
कोरी अनुकृति होती उनकी कृति
भू - जीवन से असम्बद्ध, खण्डित,
भाव कला - विधि ओढ़े ऊपर से,
विश्व मूल्य गौरव से भी वंचित !
दल से निकल, उभरते नित नव दल,
दलदल की युग - भू बाहर - भीतर,—
महत् न कुछ,—गड़ जायें पाँव कहीं,
काव्य पुणादरवत् अमूर्त दुस्तर !
नयी कला की आदि - चित्र - लिपि-सी
सूक्ष्म अगोचर को करती व्यंजित,
दृष्टि - शून्य शिल्पी के भ्रान्त चरण
समय बालुका पर हों चिह्नांकित !
विविध कला - कृतियाँ एकत्रित कर
खोजा करता कवि भावी आनन,
भव्य चेतना मुख पर नव मन का
अभी पड़ा था भारी अवगुण्ठन !
दलगत मूल्यांकन, काव्यालोचन,
दिन निशि, निशि दिन बन जाता शासन,
पंथी के भूषण बनते दूषण
गुण के दूषण भाव दीन पूषण !
यदि प्रचार के इस दिग्‌ व्यापन में
हुए बोध के पग युग में डगमग,
मानव से यदि मानव बन पाये
धरे पग अनुभूति के भू पर डग !

सूक्ष्म सृजन - सौन्दर्य भाव रस से
बोध शिराएँ थीं जन की वंचित,
राग द्वेष स्पर्धा दंशन से ही
हीन भाव कवलित मन था परिचित !
दृष्टि चाहिए थी युग को विकसित,
दृष्टि साधना से होती निर्मल,
प्रीति पद्म शोभा प्रति मूंद नयन
वृत्ति देखती कर्दम ही केवल !
चैत्यीकरण मनस का आवश्यक
मूल्य - बोध हो सके सूक्ष्म विकसित,
नव शोभा आनन्द प्रीति रस में
भू - प्राणों का जीवन हो मज्जित !
अशुभ और शुभ में छिड़ने को फिर
नव युग रण—घिरते अम्बर में घन,
सैन्य अशुभ की होती ध्रुव अगणित,
शिव के सेवक होते थोड़े जन !
नव्य कल्प विजयी होगा भू पर
मृषा सत्य - असि से होगा खण्डित,
बहुमुख तम होगा प्रकाश में लय,
शिव ही से भू रह सकती जीवित !
विश्व ह्रास के कारण अब छाया
घृणा द्वेष भय संशय जीवन में,—
धूमावृत चिद् क्षितिज लोक - मन का
दुर्वृत्तियां पनपती विघटन में !
माधो की उन्मादन मदिरा पी
गुरु से दुःसाहस, कवि से पा रस,
वाग्विलास ने उतर अखाडे में
सैद्धान्तिक लाठी से लूटा यश !
पट्ट शिष्य गुरु का न रहा असफल
केन्द्र विरुद्ध किया उसने जन - मत,
दिशा भ्रान्त कर भीरु बौद्धिकों को
निज दल बल में किया उन्हें परिणत !
शक्ति बाण पर चढ़कर माधो के
वह करता उन्मुक्त अग्नि - वर्षण,
प्रवचन में गालियां नहीं अँटती,
उन्हें छोड़—करता कवि का तर्पण !
युग - मन आवेशों के प्रावृट् में
भरते थे दादुर असंख्य टर - टर,
वज्र कड़कते, तड़ित् भृकुटि चढ़ती,
कृमि चूहों सांपों की होती झर !
अति रंजित हो केन्द्र चरित प्रतिदिन
नव्य दीक्षितों में होता चर्चित,

नव आक्रोशों की आहुति पाकर
वयस अग्नि हो उठती उत्तेजित !

काम कूप कवि राम रूप धरकर
पावन भू - मर्यादा कर खण्डित
जन्म जारजों को देता जग में
केलि कला स्थल कर गोपन निर्मित !

उसके ही दुष्कृत्यों के फल से
गुरु का मन हो रहा क्लेश कवलित,
घुलते वे मन - ही - मन पातक से
विश्व - व्यथा से दग्ध, आत्म-विस्मृत !

मध्य युगों में ऐसे औंधे मत
देख चुके जन, गोपनीय, मोहन,
धर्म ग्लानि से रही धरा पीड़ित
वाम पन्थ को तन्त्र बना पावन !

विंश शती में यह सब पागलपन
काम राम के पद पर हो स्थापित,
प्राण ग्रन्थ से ग्रस्त दमित कवि मन—
गहन मनोविज्ञान सत्य सुविदित !

कुछ उपाय करना होगा निश्चय,
कवि का दिग् भ्रम मिटे, छँटे उर तम,
केन्द्र - ग्राह से छूटे जनपद गज,
टूटे नही सनातन - जीवन क्रम !

स्त्री के सत की रक्षा हो जग में
नव यौवन का हो न रक्त शोषण,—
आर्थिक समता स्थापित हो भू पर
अर्ध भित्ति पर जन - संस्कृति पोषण !

क्षुधा काम के शाश्वत मूल्यों पर
जन सामाजिकता होगी निर्मित,
दौड़ेगा नव भाव रुधिर उर में
जब भौतिकता होगी भू विकसित !

यान्त्रिकता की भूधर चापों से
होगा मानव - गौरव दिग् - घोषित,
भौतिक भू स्थितियों ही का दर्पण
अन्तर्मनोजगत्—विज्ञान विदित !

एक ओर शाखा थी उस दल में
अखिल आधुनिकताओं से परिचित—
मार ठहाका हँसते वे खुलकर
सामूहिकता के प्रति आशंकित !

अति मानव थे सब, लघु मानव का
करने आये थे सुख संवर्धन,—
एक सत्य अस्मिता, द्वितीय निधन,
क्षण-भर का सुख ही भंगुर-भव धन !

भोगवाद रस के प्यासे घातक
केन्द्र - ध्येय के प्रति तटस्थ मन में—
गोपन अन्तर में थे आस्वादित
सचमुच सम्भव जीवन यौवन में !

कला शिविर पर युवक दर्प हँसता—
उच्च भावना अम्बर में वह स्थित,
ज्योति प्रीति आनन्द मधुरिमा के
श्री - शोभा स्वप्नों पर आधारित !

घृणा उपेक्षा स्वर में वे कहते
कवि जन - भू वास्तवता से वंचित,
पुंस्त्वहीन संस्कृति में भू - जीवन
हो सकता चरितार्थ नहीं किंचित् !

ऊर्ध्व पलायन सिखलाती संस्कृति
जब कि लोक - मन क्षुधा काम पीड़ित,
बाह्य पलायन इससे श्रेयस्कर
भौतिक जग ही अन्तर में बिम्बित !

युग - कुण्ठाएँ थीं सबके भीतर,
मन में गुण के प्रति न स्नेह आदर,
कहा एक स्वर से सबने मिलकर
वंशी से माँगा जाये उत्तर !

अस्तोन्मुख रवि - से विवर्ण गुरु को
मुखिया बना, चला दल साँझ समय,
कला केन्द्र की ओर—लौह निर्मम
मन-ही-मन कर कुछ भीषण निर्णय !

बकुल वीथि में कलरव करते खग
ढलतीं लम्बी छायाएँ भू पर,
रश्मि किरीटी तरु उपवन भाता
ओढ़ झुटपुटे की भीनी चादर !

बैठ पोखरों के तट पर बगुले
ध्यान मूर्ति लगते तापस वर - से,
ग्राम डगर पर उड़ती गोपद रज
शशि - मुख - रेख झलकती अम्बर से !

मुख्य भवन के पास पहुँच सबने
देखा—युवति - युवक करते वन्दन,—
सन्ध्या के उस शान्त मौन क्षण में
अन्धड़ हो सामने खड़ा निःस्वन !

ऋतु कुसुमों के कोमल प्रांगण में
कुम्हला-सा था रहा साँझ का मुख,
उमड़ रहा था विश्व प्रकृति उर में
गहरा करुणा - व्यंजक निःस्वर दुख !

एक गुह्य निश्चतन परिवर्तन
विश्व - चेतना मे तब हुआ घटित—
अणु रण भय की छाया गहरायी
केन्द्र आक्रमित हुआ, तिमिर हर्षित !

कहाँ गया वंशी ?—गर्जन भर गुरु,
उसे देख सकपका उठे कुछ क्षण,
प्रीति द्रवित जन - मंगल कांक्षा का
उसके मुख पर था मृदु आकर्षण !

भू - जीवन - प्रेमी था कवि,—जीवन
प्रभु शोभा जिसका स्वरूप शाश्वत,
रस प्रहर्ष शोणित, सित प्रीति हृदय,
नव वसन्त नित जिसका अभ्यागत !

ब्रह्म ज्ञान दर्शन—मणि मुक्ता स्रक्
अन्त: शोभा करते संवर्धन,
प्राण श्वास, जड चेतन ध्रुव कर - पद
सहज स्फुरण जिसका चित् सक्रिय मन!

कवि—सकुचाया हो हेमन्त दिवस—
खड़ा रहा सम्मुख हतप्रभ आनन,
घूम तुरत फिर गया कक्ष भीतर
सूंघ सहज आगत संकट कारण !

सोचा उसने लोक कर्म के हित
मुझको जगती में रहना जीवित,
जीवन - ध्वंसक ये विद्वेषी जन
इन्हें न करने को जग में किंचित् !

कहाँ भागते हो ?—कह गुरु का दल
भीतर घुसने लगा क्रोध दंशित,
बांध तोड़ जैसे प्लावन का जव
सौम्य पुलिन को करता जल मज्जित !

पार्श्व द्वार से बढ़ द्रुत छात्रों ने
भित्ति खड़ी कर दी सम्मुख दुर्गम—
हटो द्वार से चिल्लाये दुर्मद—
दूर करेंगे हम कवि का दिग् - भ्रम !

कहाँ छिपा जन-वंचक कवि बिल मे—
निकले वह, दो बात करे जन से,
दुराचार की बाढ न रुक सकती
बांध बना कुछ तिनकों का मन से !

जन - रक्षक कवि ? बोला दृढ़ शंकर
वह न मिल सकेगा अशिष्ट दल से,—
हटो द्वार से—घुसो न यों भीतर,
हृदय न जीता जाता पशु - बल से !

खड़े देखते क्या हो ?—कड़क उठा
वाग्विलास द्रुत—धक्का-मुक्की कर

घुसने लगा निरंकुश दल भीतर—
रोका युवकों ने तनकर सत्वर !
रस समुद्र आनन्दों की मदिरा
शाश्वत शोभाओं का सम्मोहन,—
अमृत मेघ था भावी जीवन का
कला - केन्द्र सित भू संस्कृति प्रांगण !
उसके हित मरने को थे तत्पर,
छात्र अभीप्सा से अदम्य प्रेरित,—
मृत्यु अमर जीवन बन जी उठती,
केन्द्र - हीन जन - भू थी जीवन-मृत!
हाथापाई होते देख व्यथित
कक्ष छोड़ वंशी निकला बाहर,
उसे देखते ही दुर्वृत्त पिशुन
टूट पड़े सब मिल सरोष उस पर !
उन्हें धकेल सहज वलिष्ठ हरि ने
घेर लिया कवि को बाँहों में भर,
छिपी छुरी का अधम घात सहसा
पड़ा पीठ पर उसके ! —धिक् कायर,
कहकर जब तक शंकर ने हरि की
रक्षा करनी चाही दौड़ तुरत,
बिजली - सी छुरियाँ उठ, कँप लप-लप,
उन्हें कर चुकी थीं द्रुत मर्माहत !

यह क्या करते हो ?—गरजे माधो,
हत्यारो, छोड़ो उनको, भागो,—
देख रक्त लथपथ हरि को—बोले,
हाय, क्या किया तुमने दुर्भागो !
सित संस्कृति संस्पर्शों में पोषित
अतुल न था भू ईर्ष्या से परिचित—
निकली जीव - पुकार भेद उर को,
हुआ मनुज - पशुता पर वह लज्जित !
पाप शान्त कर लौट पड़ा दल - बल,
हुए अनेकों युवति - युवक विक्षत,
अन्ध धरा ईर्ष्यानिल की आहुति
हुआ प्रेम फिर, जीवन - मंगल रत !
मूर्छा से जग बोला आहत हरि—
तुमसे सखे, बिछुड़ने का है दुख,
प्रेम, तुम्हारे सम्मुख मरने में
जीने से भी अधिक हृदय को सुख !
धूम छँट गया, कवि, मद अन्तर का,
खुलता दृग सम्मुख प्रकाश अम्बर,

तुम्हीं सत्य, कवि,—धरा चेतना का
करना होगा नखशिख रूपान्तर !
रक्षा करें तुम्हारी प्रभु !—लो, अब
विदा माँगता, तुममें हो तन्मय,—
ज्योति, ज्योति-रस भुवनों में मन लय,
प्रभु रवि के रवि, रस के रस अक्षय !
मूँद लिये हरि ने दृग,···वंशी भी
तन - मन से हत, हुआ पुनः मूर्छित,
मूर्त शून्य - से लौटे गुरु घर को
हरि की तद्गत वाणी से विस्मित !
भैया के अकरुण बध से छाया
गहन मूक दुख तम श्री के भीतर,
संज्ञा - शून्य गिरी अशब्द कातर
तड़ित् हता लतिका - सी वह भू पर !
धीरे सहृदय क्रूर काल कर ने
पिघलाया निर्मम दुख का प्रस्तर,—
सूना लगता उसको सारा जग,
भर न सका अन्तर का क्षत दुस्तर !
झर पड़ती दृग से भैया की स्मृति
छायी थी जो उर में बन दुख घन,
माता - पिता उसे लगता नभ से
करते सुख के अश्रु - पुष्प वर्षण !
देख शान्त शुचि स्मित हरि का आनन
किया मृत्यु को कवि ने विनत नमन,—
निधन न हो वह—नव जीवन के हित
दिग् विस्तृत हो खुला स्वर्ग तोरण !
पुष्पों से परिवृत था हरि का शव,
केन्द्र चेतना में आत्मा जीवित,—
अर्थी को ले गये छात्र नत सिर,
अमर मृत्यु लगती गरिमा मण्डित !
हुआ चिता अर्पित जब हरि का शव
शय्या ग्रस्त पड़ा था कवि आहत,
चित्त झुलसतीं तप्त चिता लपटें
व्यथा-दग्ध थे प्राण—स्नेह स्मृति रत !
घूम रहा था आँखों में प्रिय मुख
मन को लगते स्मृतियों के दंशन,
जीवित होता अन्तर चल - पट में
त्याग तपस्या निष्ठा का जीवन !
युग प्रबुद्ध जीवन - शिल्पी था हरि
भावों की रस आत्मा से परिचित,
कला - प्राण, सौन्दर्य - तत्व - द्रष्टा,
आस्था उन्मेषित, श्रद्धा अर्पित !

शब्द शून्य ज्यों अर्थ, बिना वपु असु,
बिना प्राण - बल के अन्तश्चेतन,
अनुभव करता अपने को वंशी
शोणित - शिरा रहित हो हृत्स्पन्दन !

देख - रेख करती कवि की अब श्री
निज दुख भूल—उसे दे आश्वासन,
कार्य भार हरि का ले कन्धों पर
कला - केन्द्र प्रति हो दुहरी अर्पण !
कला - शिविर ही था हरि का स्मारक
कीर्ति - स्तम्भ कवि ने न किया निर्मित,
स्नेह वर्ति - सा जल वह जन-भू हित
स्वयं बन गया था स्मृति निधि जीवित!

हरि के वध उपरान्त केन्द्र भीतर
असन्तोष की सुलगी कटु ज्वाला,
सोयी थी उपचेतन में तृष्णा
उसने जग, मन मे डेरा डाला !
काम द्वेष से कवलित युवति - युवक
कवि विवेक प्रति हुए स्वयं शंकित,
सर्व प्रीति का स्वप्न लगा दुष्कर
प्राण - वारि हो उठते आन्दोलित !

शनैः राग सम्मोहन पर पा जय
सजग हुआ वह शरदों का संयम,
खुले चेतना के रस शुभ्र क्षितिज
मिटा कामना के मन का दिग् - भ्रम !
बरसाते हों गन्ध सुमन सुरगण
जगा मनोभावों का मित वैभव,
राग द्वेष का धूम छँटा धीरे
काम प्रेम बन प्रकट हुआ अभिनव !

खोल हृदय का गुण्ठित वातायन
शोभा ने दिखलाया स्वर्गिक मुख,
सित आस्था का ज्योति स्पर्श पाकर
बहा शिराओं में शाश्वत का सुख !
नव्य रुधिर से पुरे युवा जन व्रण
मन का शून्य भरा नव आशा से—
छात्रों में संचरित हुआ जीवन
सृजन - चेतना की रस - श्वासा से !

खिलता ज्यों हिम - दग्ध सरोरुह वन
कला - केन्द्र फिर हुआ स्वप्न गुंजित,
जागा हो नैराश्य निशा में मन
नव श्रद्धा विश्वास हुए जागृत !

तुम्हीं सत्य, कवि,—धरा चेतना का
करना होगा नखशिख रूपान्तर !
रक्षा करें तुम्हारी प्रभु ! —लो, अब
विदा मांगता, तुममें हो तन्मय,—
ज्योति, ज्योति-रस भुवनों में मन लय,
प्रभु रवि के रवि, रस के रस अक्षय !
मूंद लिये हरि ने दृग,···वंशी भी
तन - मन से हृत, हुआ पुनः मूर्छित,
मूर्त शून्य - से लौटे गुरु घर को
हरि की तद्‌गत वाणी से विस्मित !
भैया के अकरुण वध से छाया
गहन मूक दुख तम श्री के भीतर,
संज्ञा - शून्य गिरी अशब्द कातर
तड़ित् हता लतिका - सी वह भू पर !
धीरे सहृदय क्रूर काल कर ने
पिघलाया निर्मम दुख का प्रस्तर,—
सूना लगता उसको सारा जग,
भर न सका अन्तर का क्षत दुस्तर !
झर पड़ती दृग से भैया की स्मृति
छायी थी जो उर में बन दुख घन,
माता - पिता उसे लगता नभ से
करते सुख के अश्रु - पुष्प वर्षण !
देख शान्त शुचि स्मित हरि का आनन
किया मृत्यु को कवि ने विनत नमन,—
निधन न हो वह—नव जीवन के हित
दिग् विस्तृत हो खुला स्वर्ग तोरण !
पुष्पों से परिवृत था हरि का शव,
केन्द्र चेतना में आत्मा जीवित,—
अर्थी को ले गये छात्र नत सिर,
अमर मृत्यु लगती गरिमा मण्डित !
हुआ चिता अर्पित जब हरि का शव
शय्या ग्रस्त पड़ा था कवि आहत,
चित्त झुलसतीं तप्त चिता लपटें
व्यथा-दग्ध थे प्राण—स्नेह स्मृति रत !
घूम रहा था आँखों में प्रिय मुख
मन को लगते स्मृतियों के दंशन,
जीवित होता अन्तर चल - पट में
त्याग तपस्या निष्ठा का जीवन !
युग प्रबुद्ध जीवन - शिल्पी था हरि
भावों की रस आत्मा से परिचित,
कला - प्राण, सौन्दर्य - तत्व - द्रष्टा,
आस्था उन्मेषित, श्रद्धा अर्पित !

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

राग द्वेष के [illegible] - [illegible]
कहीं विवेक [illegible] हुए [illegible],
[illegible]
[illegible] - [illegible] हो उठते [illegible] !

शनैः [illegible] [illegible] पर [illegible]
सजग हुआ [illegible] सत्यों का संयम,
खुले चेतना के [illegible] क्षितिज
मिटा कल्पना के मन का दिङ् - भ्रम !

बरसाते हों [illegible] सुमन [illegible]
सदा मनोभावों का सित वैभव,
राग द्वेष का [illegible] धीरे
काम प्रेम बन प्रकट हुआ [illegible] !

खोल हृदय का गुम्फित [illegible]
शोभा ने दिखलाया स्वर्गिक मुख,
सित आस्था का ज्योति स्पर्श पाकर
बहा शिराओं में शाश्वत का सुख !

[illegible] रुधिर से पूरे [illegible]
मन का [illegible] -
प्राणों में संचरित हुआ जीवन
सृजन - चेतना की [illegible] - [illegible] से !

खिलता ज्यों हिम - दग्ध सरोरुह नाल
कला - केन्द्र फिर हुआ स्वप्न गुंजित,
जागा हो नैराश्य निशा से प्राण
नव श्रद्धा विश्वास हुए जाग्रत !

निर्मम भू वास्तवता का खा शर
कवि - चेतना हुई निज में केन्द्रित,
देखा उसने मन की द्वाभा में
राग - द्वेष भू - जीवन में मूर्तित !

मुण्ड मतों में भक्त धरा अन्तस्,
रूढ़ि रीति का जीवन - मृत पंजर,—
गत आदर्शों का समाधिस्थल जग,
जड़ बौद्धिक सिद्धान्तों से जर्जर !

क्षुद्र घिनौने स्वार्थों में रत जन
अर्थ काम लिप्सा से मन कुण्ठित,
विकृत अहंता के मानस खँडहर
परम्परा के प्रेतों से सेवित !

रुद्ध हृदय सर, मलिन भावना रस,
शुभ्र प्रीति—पशु-प्रकृति, काम-कल्मष,
भय शंकित मन, दैन्य ग्रसित जीवन,
अधम कर्म करने को मनुज विवश !

घृणा छुरी से थी असह्य मन को,—
युग यथार्थ के हुए उसे दर्शन,
सिमट गया था चित् प्रकाश भीतर
तमोग्रस्त था बाहर जन - प्रांगण !

यौन यन्त्र नारी, बर्बर पशु नर,
उच्च वृत्तियों के प्रति उर शंकित,
ध्वस्त शील - उन्नत श्रद्धा - आस्था,
प्रीति काम - अंजुलि पुट में सीमित !

संकट क्षण अनिवार्य विश्व के हित
उमड़ रहे थे अन्धकार के घन,
बढ़ता अभिनव प्रति विरोध दुर्धर
गत भू - जीवन का होता विघटन !

अपरिहार्य था भू - मन का विप्लव,—
अन्ध नियति,—कवि कौया पूर्व विदित,
छँटने पर विद्रोह - धूम का घन
नव प्रकाश का पथ होगा विस्तृत !

स्रोत ज्ञान का ज्यों प्रकाश उज्ज्वल,
मूल अन्ध विश्वासों का जड़ तम,
पूर्ण प्रबुद्ध न हो जब तक अन्तर
दंशित करते तम के फन निर्मम !

असमर्पित जीवन, शंकालु हृदय,
विकृत दृष्टि,—भव जीवन दुख कारण,
बहिर्भ्रान्ति जीवन - आत्मा हत बल
अहं शूल बन आहत करती मन !

व्यक्ति अहं—अन्तिम अब उसके क्षण,—
विगत मनुज—प्रवसित उसका जीवन,—

युद्ध भूमि अब मनः क्षेत्र निश्चित
अन्त तत्वतः बहिर्जगत का रण !
शेष अभी जो—वह मन के कारण,
कवि प्रज्ञा को था न तनिक संशय,
विकसित भू जीवन यापन साधन—
थे मन को लेना युग निर्णय !
मानव मानव सब समान भू पर
ओर - छोर करने भू के दीपित,
मानव भगवत् पावक का चित्कण,
निर्णय लेना—जन - भू हो संस्कृत !
भेद नहीं कुछ मानव मानव में
एक मांस तन, एक हृदय स्पन्दन,
एक प्रकृति गुण, एक ऊष्ण शोणित
मनुजों में नित मनुज एक चिद् घन !
उसे ज्ञात था, जन न पूर्ण मानव,
वे नाटी युग स्थिति से कुण्ठित नर,
अभी पूर्ण मानव - विकास - पथ पर
कवि भी उसका प्रणत पन्थ सहचर !
मित्र बनाता रहता कवि अरि को
शत्रु न जन, भू - मन सीमा निश्चित,
फिर फिर भू - तम - व्याल उठाता फन,
सत् को करता असत् काल - दंशित !
कवि के कोमल उर में चुभ जाता
दुर्व्यवहार घृणा विद्वेष जनित,—
उसको लगता नयी चेतना की
सुदृढ़ अस्थि होती भीतर निर्मित !
राग द्वेष था युग - मन में संचित
उसे शनैः होने देना था क्षय,
भय संशय का धूम चीर जिससे
जन्म ले सके नव युग अरुणोदय !
करुणाऽमृत से धो कवि विष-शर व्रण
भू - मंगल प्रति हुआ पुनः अर्पित,—
लगा खोजने ज्योति - शब्द नूतन
अन्य धरा - मन हो जिससे संस्कृत !
पुनः युक्त रस - प्रीति चेतना से
वह भावी भू - मानवता के हित
नव सांस्कृतिक हृदय करता निर्मित
केन्द्र शिराओं में भर नव शोणित !
इन्द्रिय पुट में धर भगवत् पावक
वह भू - जीवन में करता वितरित,
विरति निषेधों से विमुक्त कर मन
सँजो धरा-पथ स्वर्ग - लोक विस्तृत !

खोल मानसिक मूल्यों के बन्धन
ईश्वर केन्द्रिक जीवन कर विरचित,
बना प्रकृति प्रांगण को प्रभु मन्दिर
इह - पर भेदों को करता खण्डित !

भव कर्मों से कर अर्पित, पूजन
बह्म जगत् का द्वैत मिटा कल्पित,
सामूहिक व्यक्तित्व धरा - जन का
भगवत् सत्ता में करता विकसित !

राग चेतना की सित नींव उठा
मानव संस्कृति का प्रासाद महत्
रचता वह सित स्वर्ग शिखर चुम्बी
भगवत् -सुख भू-सुख में कर परिणत !

आध्यात्मिकता भौतिकता दोनों
एकांगी निर्जीव पलायन भर,
नव्य चेतना में कर संयोजित
दोनों का करना था रूपान्तर !

ऊर्ध्व व्यक्ति - साधना मार्ग दुर्गम,—
सर्व लोक हित समदिग् जीवन - पथ
निर्मित करता प्रीति मुक्ति का कवि
राग - शुद्ध हो जिजीविषा अश्लथ !

भू हित रस साधना निरत कवि को
होती जो निर्मम आनन्द व्यथा
स्वर्गिक भावों, चित् संकेतो में
ढलती उर में उसकी गूढ़ कथा !

उसे विदित था जनपद प्रांगण में
आज छिड़ रहा जो युग संघर्षण,
वह समस्त जगती के अम्बर में
छायेगा—भू - मन का कल्मष घन !

खोज रहा था कवि चैतन्य किरण
जीवन तम को कर दे जो ज्योतित,
तपः पूत जन भू - मन का तामस
शोभा मंगल में हो दिङ् मुकुलित !

वंशी उर में स्थित हरि का वध कर
आत्म - ग्लानि से गुरु अन्तर - कवलित
दिन-दिन होते रहे क्षीण विघटित,—
वह असाध्य उर-व्रण न भरा किंचित् !

विक्षिप्तों - से बरते रह - रह
अन्धकार से लड़ मन के प्रतिक्षण,
उसे चरम स्थिति मान मनस्वी की
पूजा करते करुणा हत प्रिय जन !

अति इच्छाओं के प्रतीक माधो
बलिदानी बन युग-मन में अंकित,
वैयक्तिक जीवन आकांक्षा की
भग्न मूर्ति करती जन-हृदय द्रवित !

मध्य युगों की अन्ध भक्ति तन धर
रचती नित नव कथा सरित सागर,
गूढ़ रहस्याऽभासों मे लिपटे
चलते गुरु—नर मेरु शिखर भू पर !

सत्य मृषा से घिर रहस्य बनता
सरल सत्य से मिथ्या का पूजन,
सत्य सूक्ष्म संगतियो से विरचित,
श्रम तप से सम्भव उसका अर्जन !

निगल रहा था गुरु को सूनापन
हृदय शून्य की असि से था आहत,
प्राण शक्ति रस मुरझाता जाता
बोध मलिन होता, स्वभाव उद्धत !

निश्चेतन तम ने बाया हो मुँह
बना चित्त छायाभासों का घर,
जीवन मन के अन्धकार से लड़
हुए शनैः गुरु श्रान्त, भ्रान्त, जर्जर !

मन-ही-मन करता प्रणाम वंशी
अकथ व्यथा के पर्वत उस नर को,
बाड़व सागर को, दावा वन को,
अति प्रतिभा के शाप-भ्रष्ट वर को !

मन-ही-मन करता दुख मौन नमन
उस करुणान्त कथा के नायक को,
घोर विरोधों के सम्मिश्रण को
लक्ष्य-भ्रष्ट अति-गति विधि सायक को !

व्यक्ति-मूल सांस्कृतिक संचरण की
जीर्ण अहंता थे माधो निश्चय,
वैयक्तिक पौरुष गुण-गरिमा मे
श्रद्धा आस्था थी उनको अतिशय !

कुसुमाकर हो बना कृच्छ्र पतझर
सरित वेग कलरव जम हिम-प्रस्तर,
बुझी चेतना शिखा अचित् तम में
राज भवन बन गया भग्न खँडहर !

और, एक दिन तोड़ अहं बन्धन
मुक्त हुए गुरु, पी युग-विष दुष्कर,
छूट अविद्या लौह पाश से मन
उऋण हुआ—प्रभु कार्य समापन कर!

चन्दन का रच पुण्य तल्प गुरु हित
दाह कर्म को स्वजन हुए उद्यत,

खोल मानसिक मूल्यों के बन्धन
ईश्वर केन्द्रिक जीवन कर विरचित,
बना प्रकृति प्रांगण को प्रभु मन्दिर
इह - पर भेदों को करता खण्डित !

भव कर्मों से कर अर्पित
ब्रह्म जगत् का द्वैत मिटा द
सामूहिक व्यक्तित्व धरा - प
भगवत् सत्ता में करता विद

राग चेतना की सित नींव उठा
मानव संस्कृति का प्रासाद महत्
रचता वह सित स्वर्ग शिखर चुम्बी
भगवत् -सुख भू-सुख में कर परिणत !

आध्यात्मिकता भौतिकता
एकांगी निर्जीव पलायन
नव्य चेतना में कर
दोनों का करना था स

ऊर्ध्व व्यक्ति - साधना मार्ग दुर्गम,—
सर्व लोक हित समदिग् जीवन - पथ
निर्मित करता प्रीति मुक्ति का कवि
राग - शुद्ध हो जिजीविषा अश्लथ !

भू हित रस साधना निरत व
होती जो निर्मम आनन्द
स्वर्गिक भावों, चित् संवे
ढलती उर में उसकी गूढ़ व

उसे विदित था जनपद प्रांगण में
आज छिड़ रहा जो युग संघर्षण,
वह समस्त जगती के अम्बर में
छायेगा—भू - मन का कल्मष घन !

खोज रहा था कवि चैतन्य किर
जीवन तम को कर दे जो ज्योतित,
तपः पूत जन भू - मन का तामस
शोभा मंगल में हो दिङ् मुकुलित !

वंशी उर में स्थित हरि का बध कर
आत्म - ग्लानि से गुरु अन्तर - कवलित
दिन-दिन होते रहे क्षीण विघटित,—
वह असाध्य उर-व्रण न भरा किंचित् !

विक्षिप्तों - से बरते रह - रह
अन्धकार से लड़ मन के प्रतिक्षण,
उसे चरम स्थिति मान मनस्वी की
पूजा करते करुणा हत प्रिय जन !

अवचेतन का गुह्य बोध कहता—
गुरु का अत्यय उस सबकुछ का क्षय
जिसे सत्य समझे थे मन मे जन—
द्वेष, अहंता, स्पर्धा, दर्प - विजय !

घोर भ्रान्ति फैली गुरु - शिष्यों में
सत्य - मृषा प्रति हुआ हृदय शंकित,
ह्रास युगी पश्चिम का दर्शन भी
कर न सका उर मन्थन को प्रशमित !

कहता मन गोपन संकेतों मे
आत्म दर्प पर्याप्त नहीं निश्चित,
विगत अस्मिता को आमूल बदल
नव युग आकृति में होना विकसित !

गुरु के देह निधन से वंशी के
कुसुम मर्म में घात लगा गोपन,
उर अवाक्, अनिमेष रहे लोचन,
बाष्प भरे उमड़े करुणा के घन !

सदा व्यक्ति का करता कवि आदर,
सामाजिक स्थितियो की जो सन्तति,
फिर, ईश्वर के कार्य - यन्त्र थे गुरु
नव्य चेतना को देते ऋण गति !

वे बहुसंख्यक सुहृदों शिष्यों को
छोड़ गये सह - दुख से सन्तापित,
नव चित् जीवन का विरोध करने
जिससे हो वह जन - भू पर स्थापित !

स्रष्टा का था गुह्य ध्येय इसमें—
सहज बोध से प्रेरित नव रम चित्
बहु रुचि वैचित्र्यों मे गुम्फित हो
नव मानस मूल्यों में हो वितरित !

शेष - अहं बन पाद पीठ नव की
शत सहस्र मस्तक हो अब नत फन,
नव्य चेतना ऋत वैभव मण्डित
नये विष्णु को करता युग - धारण !

गुरु वंशी केवल दो युग - प्रतिनिधि,
युग कवि का जय गीत न यह सम्भव,
विश्व सत्य की दिग् जय की गाथा
जन-भू - मंगल हित जिसका उद्भव !

प्रस्तर युग की आदि अहंता का
धरा वृत्त होने को अब अवसित,
सूक्ष्म चेतना का नव चन्द्रोदय
विश्व मनस् को करता ज्वार मथित !

अस्त हो चुका था रवि, घिरता तम
मथता जन - मन को दुख का पर्वत !
घृणा द्वेष भय स्पर्धा संशय को
भस्मसात् करती चिताग्नि प्रतिक्षण,
वह न व्यक्ति शव था बुध जन के हित
मृत्यु - अमर गत युग शव था पावन !
गिरा सिन्धु तल में ही इन्दु बिखर
मचला ज्वार तिमिर का युग-मन में—
राग द्वेष की सोयी कटु आँधी
छायी फिर से जग जन - कानन मे !
प्रबल समव्यथा के आवेशों से
हुई अग्नि - मुख जन-मन - भू कम्पित,
ज्वार अचेतन तम में उठ दुर्धर
करने लगा हृदय नभ आच्छादित !
अन्धकार की गहरी छाया घिर
धारण करती अब जन - भू का मन,
सोचा कवि ने—स्वयं समय पर ही
शनैः छँटेगा विगत अहंता घन !
बाँट गये थे अचित् शक्ति जन में
निर्मित कर गुरु सबल विपक्षी दल,
कस विरोध की कठिन कसौटी में
नव्य चेतना निखरे स्वर्णोज्वल !
प्रभु लेते जब जन्म जगत् क्रम मे
वे विभक्त कर देते भव अन्तर,
सदसत् का हो बोध लोक मन को
संघर्षण से कढ़े सत्य जित्वर !
विलय शनैः हो ह्रास अहं जन का,
नव गुण करे मनुज का रूपान्तर,
एक सत्य के उभय पक्ष—कवि गुरु,
ज्योति तमस—तत्वतः नहीं अन्तर !
सत्य सूर्य विरहित थी ह्रास निशा
बहुमुख मत तारामों से अंकित,
युगस्थिति के अनिवार्य रूप माधो
अस्तंगत रवि-से थे स्मृति में स्थित !
परशुराम का विगत अस्मिता रवि
निज दिनान्त प्रति था न अबोध क्वचित्,
तेजस्वी पौरुष दिखला मिटते,
दिनकर रक्तिम मुख कर ढलते नित !
कोसा कवि को शोक - मूढ़ जन ने,
किया केन्द्र रस जीवन को लांछित,
दिगा भ्रान्त, गुरु दुःख दग्ध मन को
केन्द्र ध्वंस, कवि परिभव था वांछित !

अवचेतन का गुह्य बोध कहता—
गुरु का अत्यय उस सबकुछ का क्षय
जिसे सत्य समझे थे मन में जन—
द्वेष, अहंता, स्पर्धा, दर्प - विजय !

घोर भ्रान्ति फैली गुरु - शिष्यों में
सत्य - मृषा प्रति हुआ हृदय शंकित,
ह्रास युगी पश्चिम का दर्शन भी
कर न सका उर मन्थन को प्रशमित !

कहता मन गोपन संकेतों में
आत्म दर्प पर्याप्त नहीं निश्चित,
विगत अस्मिता को आमूल बदल
नव युग आकृति में होना विकसित !

गुरु के देह निधन से वंशी के
कुसुम मर्म में घात लगा गोपन,
उर अवाक्, अनिमेष रहे लोचन,
वाष्प भरे उमड़े करुणा के घन !

सदा व्यक्ति का करता कवि आदर,
सामाजिक स्थितियों की जो सन्तति,
फिर, ईश्वर के कार्य - यन्त्र थे गुरु
नव्य चेतना को देते ऋण गति !

वे बहुसंख्यक सुहृदों शिष्यों को
छोड़ गये सह् - दुख से सन्तापित,
नव चित् जीवन का विरोध करने
जिससे हो वह जन - भू पर स्थापित !

स्रष्टा का था गुह्य ध्येय इसमें—
सहज बोध से प्रेरित नव रस चित्
बहु रुचि वैचित्र्यों में गुम्फित हो
नव मानस मूल्यों मे हो वितरित !

शेष - अहं बन पाद पीठ नव की
शत सहस्र मस्तक हो अब नत फन,
नव्य चेतना ऋत वैभव मण्डित
नये विष्णु को करता युग - धारण !

गुरु वंशी केवल दो युग - प्रतिनिधि,
युग कवि का जय गीत न यह सम्भव,
विश्व सत्य की दिग् जय की गाथा
जन-भू - मंगल हित जिसका उद्भव !

प्रस्तर युग की आदि अहता का
धरा वृत्त होने को अब अवसित,
सूक्ष्म चेतना का नव चन्द्रोदय
विश्व मनस् को करता ज्वार मथित !

निगल रही थी निशा दिवस को अब
भू - मानस में ही नव सूर्योदय,
रस प्रकाश गुण में रूपान्तर कर
क्षय हो युग-तम, पाकर प्रथम विजय !

स्वाभाविक था विगत अस्मिता - का
विद्रोही बनना—स्पर्धा पीड़ित,
असत् अविद्या बल का आश्रय ले
निज सत्ता को करना फिर स्थापित !

प्रभु निज को अतिक्रम करते रहते
नव्य कल्प में नव युग में विकसित,
निखिल भूत - साम्प्रत सुर सम्पद् को
निज भावी गरिमा में कर मज्जित !

स्वर्ण वृत्त यह मानव संस्कृति का,
देव दनुज में अब न सत्य खण्डित,
रस प्रकाश से स्पृष्ट कंस रावण
नव्य सत्य में होते लय, विकसित !

मृषा धारणा थी यह जन - मन में
कवि गुरु में है वैमनस्य गोपन,
स्वच्छ अखण्डित था—अवैर बिम्बित
नवल चेतना का अन्तर - दर्पण !

जन - मन का था समाधान करना
नींव डाल नव की स्वीकृति के हित,
रस प्रकाश से भरने थे भू - व्रण,
धरा स्वर्ग को कर सित संयोजित !

सुन्दरपुर के वृहत् चतुष्पथ पर
कवि ने गुरु की प्रतिमा की स्थापित,—
पूर्णाकृति स्मित कांस्य मूर्ति सम्मुख
कवि ने नत श्रद्धांजलि की अर्पित !

दूर्वादल के वृत्त मध्य उन्नत
गुरु की गौरव शिल्प मूर्ति थी स्थित,
कुसुम क्यारियों में मधु वीणा ले
गाते मधुकर भाव गीत गुंजित !

बोला वंशी, स्वप्न द्रवित स्वर में,
गुरु को हम करते शत नम्र नमन,
युग मन की सम्पद्, श्रद्धा पूजन
गुरु चरणों पर करते नत अर्पण !

इस अन्तःसंघर्ष निरत युग का
कीर्ति मुकुट गुरु को देता शोभित,
यशः काय वे अब, युग सत्य निकष,
वर व्यक्तित्व उन्हें करता मोहित !

ज्योति - स्तम्भ वह विगत अस्मिता के
करते रहे दिशा - पथ निर्देशित,

संकट घड़ियों में ध्रुव पार लगा
भव - सागर में जन जीवन बोहित !
प्रिय था उनको कीर्ति मान वैभव
अनुगत, सहचर, राजोचित सौष्ठव,
दान, त्याग, पौरुष-मद, आत्म-विजय,—
अर्पित उनको निखिल व्यक्ति गौरव !
सिंह नाद कर जन - मन कानन में
विचरण करते वे नर हरि निर्भय,
विजय पराजय से चिर महत् सतत,—
विजय पराजय में गूँजे जय - जय !
नूतन प्राक्तन के संघर्षण में
रहे सदा माधो जन-प्रिय नायक,—
पूर्ण हुए अब कर्म नियुक्त सकल,
रिक्त देश तूणीर, काल सायक !
प्राक्तन नूतन में रे अति दुस्तर
भेद,—राग - वर्जन, नय से पीड़ित
एक—दूसरा जन - भू जीवन प्रिय,
राग उन्नयन में रत, रस संस्कृत !
एक मुक्तिकामी, जग से उपरत,
अपर ऊर्ध्वमुख भू - जीवन अनुगत,
उच्च विभव को ला समदिग् भू पर
जीवन शोभा में करता परिणत !
ध्यान लीन, चित् ज्योति स्पर्श पाकर
तुष्ट एक—सित आत्मा में तन्मय,
अपर चाहता उतरे जन - भू पर
शाश्वत सुख—मृण्मय भव हो चिन्मय !
मोक्ष विरति में, रस संस्कृत रति में
अन्तर्मूल्यों का यह नव युग रण,
एक अस्थि पंजर भर ईश्वर का,
इतर भाव - मांसल भगवत् आनन !
धूम छँट गया युग - कवि के मन का
वंशी के ही थे विलोम माधव,
जान सका जिनसे वह अपने को,
साथ खड़े थे प्राक्तन नव मानव !
हुआ अखण्डित युग - मन में खण्डित,
भू - जीवन को देने गति नूतन,
नव्य ज्योति हित हो गत तमस निकष,—
किया मुक्त कवि-मन ने प्रणत नमन !
नव युग के चेतना सिन्धु में लय,
आज व्यक्ति अस्मिता—नहीं संशय,
अर्पित ईश्वर को रति कृति, धन, मन,
नर नारायण धरा प्रीति तन्मय !

लोक अहंता के सम्मुख नत सिर
हुआ पुन: कवि नव चिति में तद्‌गत,—
सृष्टि कला की थाह—नव्य युग हित
धरा पीठ विरचित करने में रत!
घोर विरोध अभी था कवि के प्रति
मार्ग खोजता प्रति जन - मन नूतन,
बिखर रहे थे विगत संगठन अब
गहरा होता भू - मन का तम घन!

ज्ञान शक्ति है—किन्तु नहीं यदि
वह ईश्वर चरणों पर अर्पित,
असुर - दर्प बन वह विध्वंसक
बन जाता जन - भू - जीवन हित!
निखिल शक्तियों में जगती की
प्रेम शक्ति ही निश्चय अविजित,
नम्र, लोक - जीवन रचना रत,
मंगलमयी, सृजन रस संस्कृत!
चिर विकास गति - क्रम में अविरत
मानव जीवन सत्य चिरन्तन,
पौरुष - यश के मान पुरातन—
नव आदर्श—समर्पित - जीवन!

उत्क्रान्ति

प्रथम बार जन - भू के प्रांगण में
प्रेम जन्म लेता,—जीवन ईश्वर!
पुष्प वृष्टि करते कृतार्थ सुरगण
प्रकृति पुरुष मिल देते आशीर्वर!

ब्राह्म मुहूर्त : खुले कवि उर लोचन—
खुला स्वर्ग का ज्योति चक्र तोरण,
जन भावी की देख दिव्य सम्पद्
चकित नियति,—हर्षित दिशि, अपलक क्षण!

बरस रही युग स्वप्नों की शोभा
अन्तर्वैभव से कर उर विस्मित,
नव प्रकाश के रस सित स्पर्शों से
भाव - मुग्ध प्राणों को कर पुलकित!

स्वर्ण द्रवित ऋत - पावक अम्बर
उतर रहीं स्मित ऊषाएँ भास्वर,
शुभ्र प्रेरणा किरणों की रिमझिम
रस तन्मय करती युग कवि अन्तर!

अमृत, रोग - हर जीवन श्वासा ने
मृत्यु - शून्य भर दिया—मर्मभिद् क्षत,
तिरोभाव से प्रिय हरि के रह - रह
सृष्टि चक्र लगता स्तम्भित, जड़वत्!

काल शिखर पर करता कवि रोहण
बढ़ता स्वर्णिम सोपानों पर मन,
खुलते पट पर पट भावी मुख से
सूक्ष्म दृष्टि रत रहता उर प्रतिक्षण!

क्रान्ति क्रान्तियों को करती अतिक्रम
बहिरन्तर का होता रूपान्तर,

आत्मा के रस - पावक में तपकर
निखर, पूर्णतम ढलता स्वर्णिम नर !
प्रकृति मनुज - संस्कृति का शुचि परिणय
भू - जीवन को करता श्री सुखमय,
दिव प्रहर्ष से पुलकित इन्द्रिय - मुख
जीवन - आत्मा का देते परिचय !
मानव के सँग पशु - पक्षी जग भी
लगता नव चेतन सुषमा मण्डित,
नैसर्गिक अवबोधों का जीवन
सूक्ष्म चेतना शोणित से स्पन्दित !
मूक वनस्पतियों का सुप्त भुवन
गुह्य अभीप्सा से लगता प्रेरित,
रंग गन्ध मधु, पत्र पुष्प फल में
ऊर्ध्व प्राण आकांक्षा हो प्रहसित !
भाव गीति की स्वर लय मैत्री - सी
षड्ऋतुएँ सित संगति में आतीं,
सौरभ सुरधनु ज्योत्स्ना मिहिका की
धूपछाँह सुषमाएँ बरसातीं !
भाव रूप धर आतीं स्मित ऋतुएँ
मानस शोभाओं में सी भूषित,
रूप रंग रस गन्ध स्वप्न सुख के
सम्मोहन से कर भू को मण्डित !
पिक ध्वनि करती स्वर्ण मंजरित जग
रिमझिम झर बिछती हरीतिमा बन,
ज्योत्स्ना बुनती स्वप्नों का आँचल,—
शीत ताप विजयी जन - भू प्रांगण !
बदल रहा था जड़ निसर्ग का मुख
रूपान्तर होता उपचेतन में,
सृजन स्पर्श पा सित रस पावक का
स्वर्ग जन्म लेता भू - जीवन में !
ज्यों - ज्यों ऊपर उठता कवि अन्तर
आत्मसात् करता वह जग जीवन,
समदिक् बनता ऊर्ध्व, ऊर्ध्व समदिक्,
मौन अवतरण करता नव चेतन !
लाँघ पूर्णता को भू - जीवन की
जन्म ले रहा था प्रबोध नूतन,
दिव्य चेतना शोभा से दीपित
परम भाव का हो प्रहर्ष सित क्षण !
ज्ञान चक्षु से अतिशय स्नेहोज्वल
खुला हृदय का सहज दृष्टि लोचन,
काम योनि के अन्धकार में जो
भू - जीवन - पथ करता निर्देशन !

आत्मा का वैभव इन्द्रिय - कुसुमित
रस कृतार्थ होता समग्र योजित,
चिति कर में जड़, आभा उर में तम
परम हर्ष में लगते अति जीवित !

भाव - तिग्म शोभानुभूति करती
उर की सूक्ष्म शिराओं को झंकृत,
छूट वासना छाया - ग्रह से मन
नवल कलाओं में होता विकसित !

हीरक सरसी में पावक रस की
प्राणों का सुख करता अवगाहन,
कल्मष को उर्वरक बना जगता
भाव प्ररोहों में यथार्थ नूतन !

आत्मा की सित शरद नीलिमा में
अकलुष सुषमा का उगता शशि - मुख,
भरता जो नव स्वर संगति भू पर
जड़ को कर जीवन विकास उन्मुख !

माणिक रवि उर में स्थित अब कवि मन
सित प्रकाश रस निर्झर बरसाता,
श्री - शोभा आनन्द प्रीति झर में
जन - भू - प्राणों का जीवन न्हाता !

चन्द्र मुकुर में अन्तर्मानस के
शोभा के थे सूक्ष्म भुवन बिम्बित,
सृजन - प्रेरणा के सित हाथों से
नव मानव - भावी होती निर्मित !

सप्त वर्ण ज्वालाओं में लिपटीं
उतर चेतनाएँ आतीं भू पर
स्वप्नों की कँप रत्नच्छायाएँ
नित नव भावों मे ढलतीं निःस्वर !

लोक ऐक्य की लौह पीठिका पर
भावी भू - मानव ईश्वर था स्थित,
सूक्ष्म स्वर्ण किरणों की जाली दे
स्वर्गिक मुख पर,—नव जीवन-श्री स्मित !

मौन सुनहली आभाएँ झर - झर
मानस मुकुलों में पराग भरतीं,
गन्ध वर्ण के वाष्प - पुष्प बनते
शोभाएँ आकृति धर मन हरतीं !

रजत नील अन्तर्ध्वनियों का नभ
प्रेम दूत नव मधु पिक बन गाता,
भावों के भुवनों का मधु चखने
स्वर्ण पंख सर्जन सुख मँडराता !

देखा कवि ने—मरकत सर तट पर
इन्द्र - धनुष नीहारों में वेष्टित
करतीं दिवाभिसार अप्सराएँ
प्राणों की सुषमाओं मे मण्डित !
उनकी चितवन से विद्रुम जल में
रक्त नील सित खिल उठते पुष्कर,
भृकुटि भंग बनती तरंग चंचल
स्मिति - शोभा सीपों में जाती भर !
सुघर उर्वशी थी, मेना, रम्भा,
स्वर्ग कला से हो तन - श्री निर्मित,
कोमलता के माखन का था वपु,
स्वप्नों के विस्मय से उर कल्पित !
स्वर्ण भृंग गूंजे हों पंख - चपल,
श्लक्ष्ण हँसी हँस, मन - ही - मन विस्मित,
हाव - भाव की पुष्प - वृष्टि करती
बोली वे, कवि छवि से आकर्षित !—
किन भावों का मधु - पराग उड़ता
स्वर्णिम शोभा में कर उर मज्जित,
ओ भू - जीवन के नव रस मानस,
तुम्हें देख रति - मदन काम - लज्जित !
कौन अमृत स्रोतो के तुम ज्ञाता,
कैसी रस धारा यह भू मादन,
कैसी सित सौरभ छूती उर को,
पूर्ण काम हो उठता जग - जीवन !
इन्द्रिय तम से आत्मा के सत् तक
हो उठता चरितार्थ विश्व स्रष्टा,
रस कृतार्थ, रति पूत प्रकृति रज भग,
ओ नव भू - मानव - जीवन - द्रष्टा !
निखर पंक तम से अब रति मन्मथ
शोभा रस पावक में परिवर्तित,
जगा फूल - शय्या पर भू - यौवन
सृजन - चेतना सुख से अभिप्रेरित !
फैली भू की कीर्ति अमरपुर में
सार्थक स्वर्ग - शिखर पर इन्द्रासन,
सुरपति अब भू - जन का प्राण सखा,
प्रेम ज्योति करती जन - मन पोषण !
स्वर्ग हृदय रोपित कर पृथ्वी पर
ज्योति केन्द्र कर जड़िमा में स्थापित,
किया स्वर्ग तुमने जीवन - सक्रिय
मर्त्य वेणु उर कर रस ध्वनि नादित !
अप्सरियों को भी गौरव दो कवि,
केन्द्र - सदस्याएँ हो वे शोभन,

श्री - शोभा - सुषमा के तुम पूजक
हम उनकी प्रतिनिधि नखशिख मोहन !
बोला कवि, ओ शोभा - छायाओ,
कवि - उर सबका करता अभिवादन,
भू - विकास रचना - श्रम में गुँथकर
सम्भव, तुम बन सको पात्र पावन !
स्वर्ग - लोक की तुम लालस प्रतिमा
तुममें गढने होंगे भू - अवयव,
धरा स्वर्ग का स्वप्न सत्य से भी
गहन, वास्तविक, निष्ठुर,—कवि अनुभव !
रूपसि, जीवन सर्जन श्रम तुममें
नव आयाम सँजोयेगा निश्चय,
रचना पावक ही में तप शोभा
जन - भू हित हो सकती मंगलमय !
चकित भीत दृग, देख परस्पर मुख,
बोलीं वे,—अप्सरियाँ, जन - भू श्रम ?
हम स्वप्नों की प्रतिमाएँ, प्रिय कवि,
लौह स्वर्ण तुम—शोभा प्रति निर्मम !
कहा नम्र हो कवि ने सुर मोहिनि,
श्री - सुषमा का उपजाती तुम भ्रम,
शोभा की केंचुल तुम, शोभा का
जन - भू रज श्रम में पवित्र उद्‌गम !
सुन्दरता की शोभा ही इसमें
अर्पित हो वह शिव के चरणों पर,
मुरझाने के बदले नव गरिमा
आती उसमें, जो शिवत्व का वर !
भ्रू विलास प्रिय, रंग - भावनामय
हुई अप्सराएँ क्षण में ओझल,
डूबी धीरे स्वप्निल नूपुर ध्वनि,—
वह प्राणों की कांक्षा का था छल !

हरि ही जैसे अब श्री के तन में
कला - पीठ का करता संचालन,
मधुर करो के अश्लथ यत्नों से
स्वतः फूल-सा हँस, खिलता जीवन !
प्रेम - सिद्ध थे संस्कृत नारी - नर
योनि - मुक्त स्त्री, उपरत भू - यौवन,
अन्तर्मूल्यों के अनुशीलन में
कर्म - निरत रहता रचना प्रिय मन !
भू - शोभा थी फूल - लता - ललना,
गन्धप्रिय सित रस मधुकर नर मन,

शोभा के संग जन - भू सर्जन में
जीवन सुख का होता संवर्धन !

युग्म न रहते सन्निधि से परिचित
सार्थक करते शान्त सृजन मंगल,
भू थी शोभा - पीठ, हृदय तद्‌गत,
बहता अन्तः प्रीति स्रोत निश्छल !

समाधिस्थ था कर्म - लीन अन्तर
भू - सक्रिय थी मन की तन्मय स्थिति,
भव - विकास-गति-क्रम में चिति परिणति
परम बोध में थी न आत्म - विस्मृति !

क्षण के पुट में था शाश्वत जीवित,
ब्रह्म सूत्र था, सित पट नव संस्कृति,
भेद - बुद्धि के पुलिन डुबा बहता
बाहर भीतर प्रेम—न थी अथ इति !

अब सत् चित् आनन्द पूर्ण रस बन
भू - जीवन - शोभा में थे मूर्तित,
शाश्वत और अनन्त सृजन - रत क्षण,
ब्रह्म सिन्धु रस अंजलि में सीमित !

स्वर्ग न ऊपर, ईश न सृष्टि पृथक्,
शक्ति - चेतना - सागर था विस्तृत
ब्रह्म पर्वताकार खड़ा जड़ वन,
प्रेम एक बहु से पर भव रस सित !

एक अनेक न था रस परमेश्वर,
ईश्वर प्रथम, पुनः वह एक बहुल,
अतिक्रम करता नित निज को निज से
रस अमूर्त वह, जीवन मूर्त अतुल !

भौतिक सुख से तृप्त कला - प्रिय मन
भाव - विभव - गरिमा से था दीपित,
जीवन सौष्ठव, सुघर स्वच्छ भू - मुख,
सरल हृदय था सृजन - स्वप्न प्रेरित !

स्वतः खुल गया हो अब मन का मन,
नयन श्रवण के नयन श्रवण निश्चित,
भूमा की स्वर संगति में जीवन
व्यक्ति-प्रकृति-सुरभित होता विकसित!

आप्त काम सुख, स्वयं पूर्ण शोभा
निखिल लोक - मंगल से अनुप्राणित,
रस समग्र आदर्श उन्हें करता
सर्वोदय स्वप्नों से उन्मेषित !

नभ से झरते नव प्रकाश के नभ,
मनः श्रेणियों पर चढ़ता सित मन,
शोभाएँ ढल सुषमाएँ बनतीं
सत्य महत्तर, शिव शिवतर प्रतिक्षण !

स्वर्ग सम्पदा लोट धरा रज पर
जीवन सर्जन मे होती कुसुमित,
स्वप्न शिराओं में रस चेतस् की
ज्योति रुधिर गाता प्रहर्ष झंकृत !
नव प्रकाश के सूत्र पकड़ कर में
विकसित होता स्वतः केन्द्र जीवन,
महत् स्पर्श सुख बहता प्राणों मे
संघर्षण को गान बना नूतन !
इन्द्र - धनुष - किरणो से परिवेष्टित
शोभा पाता ज्यों अनभ्र हिमवत्
अक्षय ऐश्वर्यों की अन्तर में
भासित होती चित् सत्ता शाश्वत !
इस प्रकार जन - भू संस्कृति प्रांगण
श्रेय प्रेय निधि कर श्री संयोजित,
जीवन मन आत्मा के भुवनों के
नये क्षितिज नित करता उद्घाटित !
केन्द्र और जनपद भू क्षेत्रों में
चेतस् प्राणो का होता विनिमय,
भू - जीवन से हो चिति का परिणय
जन - युग के कवि का था ध्रुव निर्णय !
ऊर्ध्व चेतना समदिक् विचरण कर
नव भव मानवता मे हो परिणत—
धरा प्रेम था ध्येय केन्द्र जन का
व्यक्ति - मुक्ति थी सर्व-मुक्ति व्रत रत !

सह न सकी हरि का बिछोह क्या श्री ?
कला - पीठ का या विकसित जीवन
लाँघ चुका था उसके मानस तट
नय - चेतन से बन नव रस चेतन !
पकड़ न पाया नव विकास गति - क्रम
गत युग - मूल्यों का नैतिक अन्तर,
था अनिवार्य धरा - जन - मंगल हित,
नैतिकता का स्वर्णिम रूपान्तर !
चित् रस से कर प्राणों को संस्कृत
नव ऊर्जा से भरना था जन मन,—
इन्द्रिय मधु वैभव संचय वंचित
बना दरिद्र भरत - भू का जीवन !
पानी - सी चुभती अब श्री कवि के
मनश्चक्षुओं में रस - सूक्ष्म, प्रखर,
बँध दृढ बौद्धिक रजत शृंखला में
हो न सका चिद् द्रवित रुद्ध अन्तर !

शुभ्र त्याग की प्रतिमा थी प्रिय श्री
आत्म-समर्पण हित नित उर तत्पर,
सृजन-प्रेरणा से सेवा व्रत पथ
था स्वभाव संचरण,—प्रकृति दुस्तर!
रस-सित चिति थी सहज भविष्योन्मुख
पीछे रह जाता अतीत प्रतिक्षण,
गत विकास भृंगों को नृत्यपरा
लाँघ, स्वर्ग करती नूतन सर्जन!
पूर्ण चेतना के शिविका वाहक
केन्द्र पात्र सब थे, अन्त: पथ रत,
पिछड़, छूट जाते पथ निर्देशक,
अभिनव बनते अग्रदूत अविरत!
सिरी फूल-सी कुम्हला मन-ही-मन
श्वास अनिल में मिला, हुई तद्गत,
उर सौरभ से भर जन-भू प्रांगण
शरद चन्द्रिका में नि:स्वर परिणत!
देखा कवि ने मृत्यु रूप सुन्दर,
वह अनन्त जीवन का था दर्पण,
रहस् द्वार में कर प्रवेश जिसके
पुनरुज्जीवित होता भू-यौवन!
कला-शिविर सन्तति ने साश्रु नयन,
शुभ्र प्रसूनों में आवृत कर तन,
अन्तर पावक को पा शव शीतल,
किया देह को अग्नि चिता अर्पण!
हरि श्री थे मणि-स्तम्भ, कान्त कवि का
स्वर्ग सेतु था जिन पर अवलम्बित,
रजत अनिल स्थित भाव स्वप्न निधि अब
लगता, हो न सकेगी रज मूर्तित!
युग विकास गति आग्रह था—युग कवि
न्यस्त कर्म हो, सृजन बोध सक्रिय,
भाव क्षेत्र में अन्त: कर्म निरत,—
कर्मों का चित् उरस उसे था प्रिय!
सूक्ष्म बोध ही न था शुभ्र चित् रस
नव संजीवन शक्ति स्रोत अक्षय,
लाँघ अनेकों युग नव युवति-युवक
अनुभव करते अभिनव लोकोदय!
चुम्बक था अन्त: संस्कृत जीवन,
स्वर्गिक चुम्बक—करता आकर्षित,
सर्व प्रगति की गति-लय में बँधकर,
केन्द्र-चेतना होती संवर्धित!
परम पूर्ण थी स्वर्ण चेतना वह,
श्री हरि के उर की राधा तन्मय,

कर्म युक्त अर्पित मन ही निश्चय
उच्च प्रेरणा का अखण्ड वाहक!
मैं या तुम करते न सत्य धारण
सत्य वह्नि से जग समग्र अधिकृत,
नाम न, पुरुषोत्तम गुण - नाम रहित,
नाम रूप जिसके अंकुर अगणित!
भावों की आदर्श उच्च श्रेणी
काल करों से होती उद्घाटित,
क्षर अतीत जीवन की छाया - भर
भावी लिये अमृत - घट थी जन हित!
तन्मय क्षण में दीर्घ बुद्धि का पथ
पार सहज करता मन अन्तः स्थित,
गूढ़ प्रतीकों, बिम्बों, चिह्नों में
मर्म सत्य का होता उद्भासित!
गहरे हलके रंगों के पर्वत
होते अन्तर्दृश्यों में परिणत,
अंकित होतीं आँखों के सम्मुख
अघटित भावी घटनाएँ तद्वत्!
चिदैश्वर्य का ज्योति छन्न निर्झर
झरता अन्तः शिखरों पर दीपित,
प्राणों के सित मरकत पावक को
इन्द्रिय जीवन सुख में कर मुकुलित!
मनु का सुत बन आत्मा का मनसिज
नव शोभा क्षितिजों में अब विकसित,
चिन्मय रस सरसी के सरसिज - सा
ज्योति मरन्दों से लगता मण्डित!
आत्मा उर मन देह प्राण इन्द्रिय
स्वर्ण चेतना लय में संयोजित
ढलते पूर्ण मनुज में श्री - संस्कृत
जीवन का रूपान्तर कर कुसुमित!
स्फटिक पीठ पर सित भौतिकता की
नव आध्यात्मिकता थी अब शोभित,
इन्द्रिय थीं स्वर्गिक प्रहर्ष वाहक
आत्मा भू - रस - मांसल बन उपकृत!
पार्थिव रज से पूर्ण स्वर्ग शतदल
नव मरन्द सौरभ मधु था निर्मित,
चित् रस से भावी संस्कृति मानस
नव शोभा आनन्द ज्वार प्लावित!
निष्क्रिय वर्जन तप से था दुष्कर
जीवन रस उद्वेलन पर संयम,
शोभा - सागर में तिरता नव नर
पावक सुख ज्वारों को कर अतिक्रम!

देखा कवि ने निविड़ नील सागर
झंझा आवेगों से आलोड़ित,
फेनोर्मिल फन शत पर्वत टकरा
ज्वलित हरित जल को करते मन्थित !
आन्दोलित उपचेतन निश्चेतन
सम्प्रति युग स्थिति को करते बिम्बित,—
समदिक् पूर्ति न पा भू - संकट की
क्षणवादी जीवन दर्शन कुण्ठित !
अन्तस्तल से निखर मेरु हिमवत्
प्राण सिन्धु जल से उठते ऊपर
भावी मानव संस्कृति शृंगों - से,
मेरु सानु था चित् स्वर्णिम सुन्दर !

स्वप्न पंख मैनाक अतल जल से
उगा, इन्द्र रुप से जीवन - निर्भय,
धरा स्वर्ग को श्री समृद्ध करने
दिव्य विभव का हो अन्तः संचय !
शिव - सा शशि गंगा अहि गण परिवृत
था अन्तश्चैतन्य भूति भास्वर,
अधः ऊर्ध्व स्तर भव जीवन सक्रिय,—
दूर न था अब नव युग कल्पान्तर !

देखा कवि ने समाधिस्थ शंकर
शिवतर बन, जगते उर में निःस्वर,
उतर रहा स्वर्गिक ऐश्वर्य अतुल
स्वर्णिम मूल्यों में कुसुमित होकर !
निराधार स्थित निज चिति अम्बर में
सृष्टि स्वप्न से मनः शिखर भूषित,
तड़ित् तड़कती चिद् घन रस वपु में
उर में चिन्मणि शिखा उमा शोभित !

काल भुजग लिपटा अदंष्ट्र तन से
अमृत - स्रोत शशि भाल - गगन में स्थित,
सृजन चेतना विष्णुपदी भारती
मस्तक से—भू को कर स्वर्ग हरित !
निचली खोहों में भव मेघों की
मन्द्र मृदंग बजाते गण प्रमुदित,
अशिव तत्व गोपन निश्चेतन के
वहाँ वास करते प्रसन्न, प्रशमित !

नव यौवन मेखला मिली कवि को—
युवति युवक जन शाश्वत नन्दन में
धरा सृजन स्वप्नों से उन्मेषित
विचरण करते, प्रीति ग्रथित मन में !

वह था शोभा - स्वर्ग—,मंजरित तन
सित मानस सौरभ करते वर्षण,
स्वर्णिम भावों का मरन्द झरता,—
मुकुलित अंगों का हो नव मधुवन !
प्रेम पीठ थी वह प्रकाश कल्पित,
सुधा स्रोत आनन्द तीर्थ पावन,
अन्तर्वैभव के विस्मय का जग—
शोभा स्वप्नों से अपलक लोचन !
संयम था आधार - शिला रस - सित,
अन्तः शुद्धि—निषेध - विरति विरहित,
तन को अतिक्रम कर चैतन्य किरण
प्राण भावना को करती संस्कृत !
पूत योनि स्त्री, यौवन अन्तः स्थित,
युग्म - कर्म पावन चित्कण गर्भित,
झरता अन्तर का ऋत रस अम्बर
प्राणों में बहती आनन्द तड़ित् !
कोकिल भरती भाव हरित कूजन
प्रीति छत्र रचते मधुकर गुंजित,
स्वस्थ प्रेरणा गन्धी बह मारुत
मानस पंखड़ियाँ करता पुलकित !
कुसुमित कुंजों की मधु छाया में
क्रीड़ा करता रस पवित्र यौवन,
गया न कवि मर्मरित कक्ष भीतर—
भू - प्राणों का था गोपन प्रांगण !
उस तारुण्य वलय को कर परिवृत
प्रौढ सहस्रों करतल उठ ऊपर
स्वागत करते स्वर्गिक यौवन का
नव वयसों पर आशी बरसाकर !
प्रजनन था पशु कर्म न आवेशज
सित समाधि सुख वह अन्तः प्रेरित,
दंश शून्य अलि करते मधु संचय,
रस समुद्र में तिरती चिति विस्मृत !
स्वस्थ क्षुधा - सा इन्द्रिय सुख पावन,
अंग प्रसादन था समाज स्वीकृत,
मुक्त राग अब, विगत - द्वेष भू - मन
नेत्र लक्ष्य थी प्रीति न पंक जनित !
भाव मिलन वैभव सुख से वंचित
काम बन गया था पशु कर्म घृणित,
अब शोभा मंगल भुवनों में उठ
भू - प्राणों का जग प्रहर्ष पुलकित !
नवल मुकुल तरुओं की डालों पर
झूल रहे थे पलने शत हँसमुख,

नव पीढ़ी के हरित स्वर्ण अंकुर
बढ़ते थी - शोभा में दृग सम्मुख !
लोरी गाते कलरव कर नव खग
प्रकृति - सृजन सुख से हो अनुप्राणित,
जीवन को अतिक्रम करता जीवन
शोभा से नव शोभा में विकसित !
चिर वसन्त अगणित कलि कुसुमों से
भरता फुल्ल धरा उर का अंचल,
वह अनन्त यौवन था मानव का
प्रति पीढ़ी होता कृतार्थ भूतल !

काल कूट के ग्रार पार कवि ने
देखा अन्तर्दृग से ध्यानस्थित,—
छँटा धूम, चिति का स्वर्णाभ शिखर
तद्गत उर में हुआ ज्योति अंकित !
अमृत शान्ति तप वपु था अन्तः स्मित,
चित् प्रहर्ष का रश्मि छत्र सिर पर,
शोभा, छाया - सी चरणों पर नत,
हृदय प्रीति का दिव्य नीड सुखकर !
ज्योति ज्योति - सूत्रों में हो वितरित
बुनती भू - जीवन का छायांचल,
चिति अपूर्ण थी, जड़ अपूर्ण,—जग का
सित रस परिणय ही में चिर मंगल !
तेजोमय मण्डल वलयित रवि - सा
मनुष्यत्व का भावी मुख दीपित—
नव भू - जीवन - गरिमा का दर्पण
सूक्ष्म दृष्टि में कवि के हुआ उदित !
ऋत मूल्यों के जीवन वैभव से
धरा स्वर्ग का निर्मित था प्रांगण,
असत् न लोक - प्रगति में था बाधक
स्वर संगति में ग्रथित द्वन्द्वगत रण !
शिव से शिवतर पथ में बढ़ते नर
नव प्रहर्ष उर करते रोमांचित,
शोभा अति सुषमा बन मन हरती,
सत्य महत्तर क्षितिजों में विकसित !
जड़ चेतन का होता रूपान्तर
वैज्ञानिक करते भू पथ निर्मित,
नव चैतन्य मनुज - मन गढ नूतन
अन्तर्जग को करता रस दीपित !
क्षुधा काम संघर्षण पर पा जय
सात्विक जीवन करते नर यापन,

अन्तः संस्कृति, आत्मिक परिणति हित
हृदय साधना - रत रहता प्रतिक्षण!
मानव को मानव प्रतिपक्षी बन
वहाँ न रहना पड़ता अब जीवित,
महत् चेतना की सित अवयव - सी
मानवता थी जीवन - संयोजित!
प्रक्षेपास्त्र गरजते दैत्यों - से,
हँसती नव मानव आत्मा अक्षय,
फूल वाण - से, नव्य चेतना का
मर्म स्पर्श कर होते जो द्रुत लय!
अणु भय छू चिन्मय उच्छ्रायों को
वाष्प धूम - सा उड़ हो जाता क्षय,
सूक्ष्म चिदणु विस्फोट मनुज मन के
हिंस्र भेद हरता—तम भय संशय!
गत भू - जीवन - मन को कर मज्जित
नव्य चेतना का अन्तर - प्लावन
ध्वंस वह्नि से रच नव ज्योति भुवन
गढ़ता जन हित नव जीवन, नव मन!
देखा कवि ने काल - चक्र पीछे
घूम रहा—गत जन - भू का जीवन
झूल रहा चिति के सित चल पट पर—
निखिल वस्तु—घटना ही, काल चरण!
विश्व विकास निवर्तित - क्षण गोपन,
तम तन्द्रा से जग जड़, जीवन, मन,
सप्त चेतना सोपानों पर चढ
रत्न रश्मि रचते चिज्ज्योति भुवन!
विविध सभ्यताओं के युग भू पर
बनते मिटते—काल भृकुटि बल पर,
वृन्द जाति, भू - क्षेत्र राज्य बनते,
होते पूर्ण विभक्त युक्त बनकर!
कुटिल असंगतियों में थी संगति
क्रूर सृजन संहारों में पद्धति,
भव विकास गुण में अन्तर्गुम्फित
बाह्य अगति में भी थी सूक्ष्म प्रगति!
सत्य विजित होता, असत्य विजयी,
तम प्रकाश पर पाता आसुर जय,—
सत्य महत्तर, ज्योति पूर्णतम बन
करे विश्व - जीवन को मंगलमय!
समदिग् जीवन था केवल वितरण,
अन्तश्चिति कर ही में रस सर्जन,
बहिरन्तर को कर सित संयोजित
सर्व पूर्ण बनता था भू - जीवन!

युग-चेतना को कर श्री संस्कृत
उन्नत था मानव का विश्व-मिलन,
वस्तु उपकरण मात्र नहीं स्त्री-नर
दिव्य शक्ति के अन्तः प्रभ विकसन!
वृत्त शिखर में होता भव विकसित,
ह्रास-विकास प्रगति के कल्प-चरण,
पूर्ण पूर्ण को लांघ पूर्ण बनता
नव्य युगों में मूँद लोक-जीवन!
विश्व भ्रमण के अवसर पर कवि ने
किया बौद्धिकों को था आनन्दित,
कला-पीठ का कर आतिथ्य ग्रहण
नव्य दृष्टि पा सकते वे उपकृत!
वैज्ञानिक सुख-सुविधा से निर्मित
देख तरुण पश्चिम जग का जीवन
इष्ट रहा कवि को भारत में भी
वैसा ही श्री-सौष्ठव संयोजन!
भौतिक वैभव की दरिद्रता से
पर, अन्तर्द्रष्टा कवि था अवगत,
बहिरन्तर संस्कृत मानवता का
युग प्रबुद्ध अन्तर करता स्वागत!
सतत सोचता वह भू पर कैसे
शुभ्र प्रेम से जन्म,—धरा ईश्वर,
कौन प्रेरणा-स्रोत मनुज-मन को
करे अग्रसर हृदय ज्योति-पथ पर!
स्वर्ण सूत्र में बांध मनुजता को
अन्तः क्षितिजों के प्रति कर जाग्रत्,
मानव-स्वर्ग धरा पर रचने हित
करे धरा यौवन को जो उद्यत!
अन्तः शान्ति प्रतिष्ठित हो जग में
भू-जीवन प्रति हो सित श्रद्धार्पण,
स्वर्ग दाय प्रति हो सचेत मानव
बाहर हो अन्तर का चिद् दर्पण!
भौतिक आध्यात्मिक युग-विषयों पर
होता विबुधों में विचार-विनिमय,
राजनयिक आर्थिक युग संकट का
मिलता छात्रों को घनिष्ठ परिचय!
एकांगी वैज्ञानिक उन्नति से
असन्तुष्ट थे युग प्रबुद्ध बुधजन,
देह प्राण मन के भीतर का नर
रस क्षुधार्त था, हृदय शून्य पाहन!
धर्म-नीति संस्कृतियाँ थीं निष्क्रिय,
महा ह्रास विघटन का छाया तम,

विश्व ध्वंस—या गत भू - मन सीमा
मानव चिति को करनी अब अतिक्रम !
भू - जीवन - मन के विकास - क्रम की
पृष्ठभूमि से थे बहुज्ञ परिचित,—
इधर विगत संस्कृतियों धर्मों को
होना था नव जीवन संयोजित—
उधर महत् विज्ञान - शक्ति को नव
आध्यात्मिक युग करना था स्थापित,
निष्क्रिय था अध्यात्म पड़ा युग से
दृष्टि - हीन भौतिकता आत्म विजित !
एकाकी मृतवत् दोनों सम्पद्,
प्रकृति पुरुष को होना था योजित, —
ज्ञान - शक्ति के स्वर्णिम परिणय से
जन - भू - जीवन हो कृतार्थ निश्चित !
ऊर्ध्व श्वास, भव - मुक्त पूर्व का मन
हिमगिरि - सा खोया असंग ऊपर,
बाँह पसारे पश्चिम का जीवन
सिन्धु - विकल चिपका भू से निर्भर !
आध्यात्मिक दारिद्र्य व्याप्त जग में,
शक्ति लालसा हित पागल नर मन,—
अन्त: सुख को लक्ष्य मानता कवि
वैज्ञानिक युग का कर अनुशीलन !
पश्चिम जग की दृष्टि न ऊर्ध्व गहन,
बहिर्जगत विश्लेषण में सीमित,—
वास्तवता से शून्य पूर्व की मति,
अन्तर्भुवनों के नभ में केन्द्रित !
अर्थ - तन्त्र, जड़ राजनयिक सत्ता
जीवन आत्मा को करते शासित,
अपर लोक रत मन विरक्त रहता
इन्द्रिय जीवन को कर निर्वासित !
निष्क्रिय, नियति निषेध ग्रस्त भारत
शशक शृंगवत् आदर्शों में रत,
शक्ति मत्त, स्वार्थान्ध, भोगवादी
पश्चिम जड़ वास्तवता का अनुगत !
आध्यात्मिक आधार - भूमि विरहित
पश्चिम में विज्ञान ध्वंस वाहन,—
मन के मूल्यों में विभक्त मानव,
अन्तर्राष्ट्रिय - जग स्पर्धा - प्रांगण !
शुभ्र प्रीति उपचेतन भावों में
हो विकीर्ण—पशु स्तर पर दुराचरित,
जैव वृत्ति रत कुण्ठित मानव - मन
क्षण - भंगुर अस्तित्ववाद प्रेरित !

बहिः संगठन शून्य वृद्ध भारत
रूढ़ि - रीतियो का शोषित पंजर,
अति वैयक्तिक छाया भावों से
पीडित—जीवन वर्जन से जर्जर !
जाति - पाँति - धर्मों में पथरायी
क्षुद्र मनुजता को मिटना निश्चित,
रीति नीतियो मे खण्डित भू को
नव मानवता मे होना विकसित !
लक्ष्य सभ्यता का उन्नत जीवन
मानव आत्मा का हो जो दर्पण,—
रस प्रहर्ष की शुभ्र गहनता ही
मानव अन्तर का शोभा प्रागण !
आध्यात्मिक संयोजन मे बँधकर
जन - भू - जीवन होगा सुन्दरतर,
आत्मिक समता, लोक एकता का
सत्य महत्तर रे अन्तर्निर्भर !
आध्यात्मिकता मूल - सत्य जग का
उसके प्रति होना मन को जाग्रत्,
तदनुकूल कर सृजन - कर्म भू - जन
मूर्त करें क्षण के पुट में शाश्वत !
सहमत लगते सभी समन्वय से,
किया मुक्त मन से बुध ने स्वीकृत,—
पूर्व और पश्चिम आत्मिक भौतिक
एकागी मूल्यांकन से पीड़ित !
ध्वंस-अन्ध विज्ञान-शक्ति को अब
देने नव अध्यात्म ज्योति लोचन,
सागिक पीठ बना भू-जीवन को
करे पंगु अध्यात्म लोक - विचरण !
कला-केन्द्र का जीवन संचालन
नये रूप से कर फिर सयोजित,
समागतो ने संस्कृति छात्रों को
किया प्रशासन विधि में नव दीक्षित !

देख रोज़ को एक विमुग्ध अतिथि
बोला,—क्या लगता कृतार्थ जीवन ?
स्वर्ग सृजन-रत जीवन के सुख से
क्या परिपूर्ण न एक देह का क्षण ?
अंग जानते अंग तृप्ति का सुख
आत्मा मन चरितार्थ मांस तन में,
तन्मय इन्द्रिय मे समाधि स्थिति सुख,
नर विकास रस काष्ठा यौवन मे !

भाव प्रीति मुझको लगती निर्मम,
दर्शन की कल्पना पुंस्त्व विरहित,
आनन्दों सौन्दर्यों की परिणति
ऊष्ण चम्पई त्वच पावक में नित!
मूल्य नहीं सम्भव मन के स्तर पर
स्वप्नों का स्मृति तल्प हृदय केवल,
कोमल-अस्थि कलात्मक यह संस्कृति,
धरती को चाहिए रीढ़ का बल!
प्रेम रक्त पावक, न प्रकाश किरण,
देह यज्ञ से ही रहता जीवित,
अंग लालसा ही उसका ईंधन
विना प्राण-घृत आहुति के वह मृत!
सुख-सुविधा वंचित भू-जीवन ने
नियम वर्जनों मे बाँधा निज तन,
भौतिक वैभव के युग में स्त्री-नर
दमित द्वन्द्व मूल्यों प्रति नव चेतन!
कला स्वर्ग के सित रस में पोपित
हँसी रोज—सुन नव जैविक दर्शन,
बोली, चित् सुख तर्कवाद से पर,
रस मूल्यों का—जीवन ही दर्पण!
बाहर से भीतर अमूल्य सम्पद्,
हृदय-चेतना का शाश्वत यौवन,
ह्रास देह सुख का होता प्रतिक्षण
आत्मिक सुख का अक्षय संवर्धन!
पाद-पीठ भर देह चेतना की
तन-मन से अतिशय जिसका जीवन,
प्रेम शक्ति ही अजर, देह का सुख
कुसुमित क्षण, कुम्हला, झरता रज बन!
राग ग्रन्थि खुलती न काम कर से
नही वासना-मुक्ति दमन-औषध,
भाव उन्नयन ही सामूहिक पथ
पशु का ऊर्ध्व विकास नही पशु बध!
प्रेम मुक्ति ही हृदय स्वर्ग कवि का—
स्थापित करना युग नर को भू पर,
विना प्रीति के श्वेत ज्ञान, सम्पद्
दिव्य उपस्थिति हीन—रिक्त डम्बर!
शुभ्र प्रीति अमरत्व सार अक्षय,
जीवन स्तर पर जीवन का रोहण,
स्वर्ग अवतरण यह भव कर्दम पर
जन-भू का कर सकती संरक्षण!
मुझे ज्ञात, चेतना-किरण हूँ मैं,
रूप सरोवर में तिरती सस्मित,

घुल-मिल स्वर्णिम भाव - हिलोरों में
बरसाती छाया प्रकाश रस मित !

सत्य चूसकर तुम मुझको लँगड़ी
कर न सकोगे—मैं रस में जाग्रत्,
दीप्त मनःस्थिति तन के सुख का भी
प्रीति तल्प पर करती सित स्वागत !

चित् सौन्दर्य, प्रतीति प्रीति वंचित
इन्द्रिय कर्दम रत अब भू - जीवन,
कला - पीठ में रह तुम मेरे सँग
स्वर्ग वह्नि को करो प्राण अर्पण !

बहिर्दृष्टि मे—क्षण अभ्यागत तुम—
समझ न पाओगे रस आरोहण,
पैठ केन्द्र चेतस् में देखोगे
स्वर्ग अवतरण यह, नूतन जीवन !

मर्मस्पृश् नव ऊषा में देखा
स्तब्ध अतिथि ने—भू संस्कृति प्रांगण
सद्यः स्मित निज अन्तः शोभा में
खिला ऊर्ध्वमुख हो सित सरसिज वन !

भाव लता थी रोज स्वप्न मुकुलित
सित उरोज आनन्द सुधा के घट,
बाँहें प्रीति प्ररोहों - सी पुलकित
उर - शोभा में मज्जित तन के तट !

यौवन शोभा में लिपटी आत्मा
लगती शशि - सी मासल घन - रंजित,
भावों के सुरधनु रस पावक में
हो अक्षय चैतन्य रश्मि वितरित !

उन्नत जीवन में प्रवेश के हित
दीक्षा ही निश्चय स्वर्णिम तोरण,—
सोच रहा था शान्त अतिथि मन में
भू - मन को करना रस आरोहण !

देखा अभ्यागत ने—साँझ उषा
रवि शशि—स्वर्ग धरा का सम्मोहन
मात्र प्रेम,—शोभा प्रहर्ष मंगल,
शुभ्र शान्ति—शाश्वत अनन्त जीवन !

कला - पीठ निर्मित कर युग - कवि ने
ज्योति नीव डाली युगान्ध भू पर,
जन्म दे सके नव मानवता को
देश - जाति - धर्मों से जो ऊपर !

खण्ड युगों के मूल्यों का तम हर
नव प्रकाश कर सके केन्द्र वितरण,
गत युग के आदर्शों के शव को
गाड,—खोल चैतन्य क्षितिज नूतन !

रौद भूत इतिहास,—प्रेत प्रांगण—
रचे नव्य संस्कृति पथ, भव जीवन,
मूर्त करे जग मे नव ऋत सम्पद्
विचरे भू पर नव भविष्य दर्शन !
प्रति युग मे आता नव चेतन कवि
छन्द ग्रथित कर जाता भू - मानस,—
श्री - शोभा में लिपटा जन - जीवन,
नव भावों में झंकृत कर चित् रस !
आत्म तृप्त भौतिक आत्मिक जीवन
जड़ भू - मन से करने उन्मूलित
ज्योति क्रान्ति की शिखा जगाता वह
सक्रिय रचना - मंगल से प्रेरित !
नम्र कला पथ का साधक वह, जो
सृजन वह्नि को आहुति दे जीवन
यज्ञ कुण्डवत् तप, प्रिय भू - जन हित
श्री - शोभा वैभव लाता नूतन !
ज्योति खड्ग विद्रोही, द्वेष विरत—
निखिल विश्व जब आसुर शक्ति विजित
भौतिक आत्मिक को अतिक्रम कर वह
देता संस्कृत शक्ति, सत्य जय हित !
आसुर बल से डरे भले सुर बल
मनुष्यत्व का बल अक्षय, अविजित,
अणु संगर से हों विभीत बर्बर,
मनुष्यत्व निर्भय, अजेय निश्चित !
असहयोग कर बहिः शक्ति मद से
हों संयुक्त मनुज जो युग चेतन,
शक्ति अन्ध पायें सत् दृष्टि नवल
उदित लोक - मन में हो चित् पूषण—
अन्तर्बल ही रे जन - भू - जीवन
बाह्य शक्ति का नियत जगत में क्षय,
आर्ष बोध से कहता युग चारण
मनुज - सत्य विजयी होता निश्चय !
जहाँ सभ्यता संस्कृति पंखों में
ध्वंस डिम्ब सेये जाते भीषण
मूल्य मनुज का तुच्छ कीट तृणवत्
यान्त्रिक दानव हित जो पशु भोजन—
निःसहाय, मृतवत् रह जिस जग में
नष्ट, विकृत, विघटित होता जीवन,
वहाँ किसलिए मानव बलि - पशु बन
रहे ?—जगे सोया पौरुष चित् कण !
प्रकृति विजित वह, बने आत्म - विजयी,
सृष्टि कोख उपकृत हो पा नव नर,

रुका विकास, प्रतीक्षा मे जड़ - चित्—
ईश्वर का नर में हो रूपान्तर!
क्रान्ति कालिका खड़ी विगत शव पर
मानव युग का करती आवाहन,
विष्णु कल्प फिर नव युग - लक्ष्मी सँग
मनुष्यत्व का करे भरण - पोषण!
मानवता अब निखिल विश्व - बोधक,
मानवता पर्याय धरा का नव,
राष्ट्रों, तन्त्रों, धर्मों का निश्चय
सार - सत्य मंगल - प्रिय नव मानव!
समदिक् भर अन्तर्राष्ट्रिय चिन्तन
ऊर्ध्व - मूल्य देना उसको निश्चित,
अन्तर्जीवन निर्मित कर ही जन
विश्व - शान्ति कर सकते सित स्थापित!
आवाहन करता कवि युग - मन का,
नव प्रबोध देता वह भू - जन को,
हो अन्त: संगठित मनुज जीवन—
शपथ प्रेम की नव भू - यौवन को!
विश्व विकृति से हो न पराजित नर,
मन: क्रान्ति का फहरे युग - केतन,
मनुज दिव्य, वह सत्य, ज्योति वाहक,
भस्म करे भू - अघ चित् पावक कण!
सुलगे बाडव बन, अकूल भू - मन,
धधके दावा बन, कुश कण्टक वन,
पावक पग धर बढ़े क्रान्ति दुर्जय
आलोकित हो मनुज सत्य आनन!
सत्यों मे हो मनुज - सत्य विजयी,
जयी शक्तियों मे हो अन्तर्बल,
संकल्पों में जन - भू रचना व्रत,
भव संकट मे मनुज ऐक्य सम्बल!
पूर्ण मनुज बन—उससे भी अतिशय
मनुज सत्य चित् कण रहता निश्चय,
प्रतिपग पर परिपूर्ण चेतना क्रम
परम पूर्णता में होता तन्मय!
इन्द्रिय तन - मन बुद्धि - विवेक सहित
हो चरितार्थ मनुज का नव जीवन,
ऊर्ध्व प्रीति सोपान खुले उर में
प्रभु से सित संयुक्त रहे जन - मन!
रुक आलोक क्षितिज पर कवि भू हित
बरसाता स्वर्णिम मधु रस निर्झर,
ऊपर शाश्वत चिदैश्वर्य अम्बर,
नीचे भू - जन मंगल - प्रेम अमर!

रस प्रहर्ष—मधु प्रीति स्पर्श तन्मय,
रोम रोम में जन तप सत्य भुवन,—
उड़ता तृणवत् कवि - अन्तर खिंच कर
दुर्निवार शाश्वत का आकर्षण!

वही हर्ष जो यौवन पावक बन
प्राणों के सुख में होता कुसुमित,
अब भावों के स्वर्गिक स्पर्शों से
कवि अन्तर को रखता रोमांचित!

स्रष्टा ने ही विरची उसके हित
सूक्ष्म स्वर्ण चित् तार बँधी रस - सित
तन्मय उर तन्त्री—स्वर्गिक पावक
बरसाती जो अन्तः स्वर झंकृत!

उतना ही देता कवि युग - भू को
ग्रहण कर सके जितना जन - अन्तर,
अमृत वह्नि रस सूक्ष्म ज्योति की झर
पीता रहता वह अवाक् निःस्वर!

पीत विरति सित रति के पुलिनों में
बहता अक्षय चित् जीवन - सागर,
तिरता कवि रस में सर्जन प्रेरित
आत्मिक सुख से भर इन्द्रिय गागर!

उड़ती सूक्ष्म मरन्द गन्ध निःस्वर
कला स्वर्ग में अन्तः सुख पुलकित,
अन्तस्तन्मय होता ज्यों सित मन
जीवन शोभा होती रस संस्कृत!

चित् शृंगों से शुभ्र शान्ति झर - झर
भू - जीवन - पथ करती आलोकित,
रस झंकृत कर मनः शिराओं को
प्राणों को स्वर्गिक शोणित मज्जित!

सृजन स्वप्न शोभा सुख मे रत मन—
भाव - कर्म, निज - पर प्रति हो विस्मृत,
नव प्रकाश स्वर संगति में जगकर
नवोत्साह से भर जाता अविदित!

हृदय - गुहा में पैठ सूक्ष्म रति सुख
सित शोभा आनन्दो में विकसित
गुह्य - बोध, प्रेरणा कल्पना बन
रचना - मंगल में होता वितरित!

अधिकृत कर रस तत्व, प्राण पावक
रजत भाव अम्बर में कर संचित,
ज्योति स्फूर्ति से उर अहरह स्पन्दित
लोक - कर्म - रत रहता अन्तः स्थित!

प्रेम अवतरित हो सुर - सरिता - सा
केन्द्र हृदय को करता अवगाहित,
सफल भगीरथ यत्न युवक जन का
भू - जीवन को करता प्राण - हरित !
कला - पीठ की रस संस्कृत गाथा
भाव योग से आत्मसात् कर जन
होते नव चैतन्य रश्मि दीपित
स्वतः छूटते छद्म - सत्य बन्धन !
नर - नारी की हृदय - मुक्ति शंकित
स्वर्ण प्रीति में होती सित परिणत,
स्वप्न आज का बन यथार्थ कल का
जीतेगा भू - रण—कर तमस निहत !
विष्णुपदी यह प्रीति—जिसे हर ने
किया शीश पर धारण नत मस्तक,
धर्म अर्थ संगर हों आवश्यक—
राग - चेतना ही संस्कृति पावक !
निश्चय ही यह शुभ्र प्रतीति सुधा
भू - जीवन को देगी नव जीवन,
मानवीय पूर्णता धरा मे ला
धो देगी तन - मन का पशु प्रांगण !
नैतिक क्षितिजों को कर चिद् व्यापक
खोल भावना के स्वर्णिम अम्बर
धरा नरक को स्वर्ग बना देगी—
जो संस्कृति का लक्ष्य—दिव्य, भास्वर !
प्रीति काम से सबल शक्ति रस बन
यौवन आत्मा को करती धारण,
स्वर्गिक सौरभ से सम्मोहित उर
निखिल वृत्ति करता उसको अर्पण !
हृदय हृदय को वरता अनजाने
मुक्त मनुज आता मन से बाहर,
स्वर्ण पूर्णताओं मे अन्तर की
सहज भाव - लय होते नारी - नर !
मृत स्फुलिंग थे जन - भू हित स्त्री - नर
सुलगी उर मे शोभा लौ नूतन,
सित प्रतीति की सन्निधि में घुल - मिल
शान्त हुआ मन, सक्रिय, नव चेतन !
मानवता की सार सुरभि नारी,
श्री - शोभा गरिमा के प्रतिमा जन
ऋत संस्कृत होते—पावन संयम
भू - जीवन का नैतिक अवलम्बन !
मुक्त हृदय में स्त्री - नर के जगता
भावों की सुषमा का स्वर्णोदय,

शोभा में साकार, सत्य, ईश्वर,—
सृजन - शक्ति जिसका ग्रानन्द गहन !
शुभ्र ज्योति चैतन्य रूप उसका,
प्रेम - हृदय, करता जग को धारण,
मौन ग्रवतरण करते जिस पर प्रभु
वह ग्रन्त:स्थित शान्ति पीठ पावन !
शोभा प्रति यदि सजग नहीं भू - मन
जीवित रहने योग्य न भू - जीवन,
भगवत् स्पर्श न जो उर में जाग्रत्,
हृदय नहीं वह बधिर ग्रन्ध पाहन !
धिक् वह नर जो प्रभु की महिमा को
पितृपद दे, कर सका न पूर्णाऽर्पण,
धिक् वह, जो ईश्वर की शोभा को
पत्नी - सा दे सका न परिरम्भण !
धिक् जीवन, प्रभु की बहुमुखता का
बना न जो रह सका मुग्ध सहचर,
धिक् वह हृदय, प्रणय रस तन्मय हो
देख न सका जगत ही में ईश्वर !
ग्रन्त: शोभा प्रति प्रबुद्ध हो मन
रस संस्कृत जन - धाम करे निर्मित,
शोभा के मधु स्वर्णिम पावक से
मनुष्यत्व की प्रतिमा हो कल्पित !
संस्कृति तन्त्र ग्रपेक्षित जग के हित
नव निर्माण करे जो भू - मन का,
ऊर्ध्व निखारे ग्रन्तर्मानस को
शुचि संस्कार करे जन - जीवन का !
जो महत्व दे शुभ को, मंगल को,
हो न महत्ता मद से ग्रातंकित,
मनुष्यत्व के ग्रन्तर्बल से जो—
भू - तन्त्रों को धरे सदनुशासित !
जन - मन का हो ग्रन्तरैक्य सित बल,
मनुष्यत्व सम्राट्, लोक प्रतिनिधि,
ग्रात्मिक गौरव हो जीवन - प्रेरक,
क्षमा शील नियमन हो सहृदय विधि !
स्वर्ण - नम्र तप की पावनता से
व्यापक रस चिति मानस कर विरचित,
इन्द्रिय मन ग्रात्मा की सम्पद् से
धरा स्वर्ग जीवन कर नव सर्जित—
जो भू - मानव के ग्रन्तर्जग में
करे ज्योति साम्राज्य शुभ्र स्थापित,
क्षण - भंगुर जीवन संघर्षण को
शाश्वत के पट में कर संयोजित !

हो चारित्र्य न अस्थि - श्वेत संयम
निखिल प्रकृति रस निधि से हो पोषित,
स्वस्थ मानुषी मूल्यों का दर्पण—
कुछ भी हो न विकृत, गर्हित, प्राकृत !
धर्म न्याय के पथ को कर विस्तृत
स्वभू सत्य चैतन्य - लोक - सा स्थित
निज अन्तर आकर्षण से पा जय
घृणित पाप को करे पुण्य - संस्कृत !
भेद नहीं कुछ मानव मानव में
एक मांस रज, एक हृदय स्पन्दन,
त्रिविध प्रकृति गुण एक ऊष्ण शोणित,
मनुजों में नित मनुज एक चिद् घन !
ऐसी अन्तः शासन सत्ता का
स्वप्न देखता युग कवि आशान्वित,
स्वतः आत्म शासित हों जिसमें जन
रचना - शोभा - मंगल प्रति अर्पित !
मनुज न भव गति बद्ध, वस्तुओं की
आत्मा प्रेम,—स्वभू रस में गोपन,
शुभ्र शान्ति सत्ता का दिव्य हृदय,
दुःखों से संकल्प महत् प्रतिक्षण !
शिव नित शिवतर में होता विकसित,
श्री सुन्दरता बनती सुन्दरतम,
सत्य महत्तर बन कृतार्थ होता
निखिल सृष्टि में स्वर्णिम संगति क्रम !

जन्म प्रेम ने लिया हृदय में जब
हुआ ज्योति तम मज्जित कवि - अन्तर,
विद्या रश्मि, अविद्या पावक धर
निज कर में, वह प्रकट हुआ भास्वर !
छिन्न युगों के कर नैतिक बन्धन—
जो प्रकाश के थे गत खर्व चरण—
हुआ विलोड़ित, चेतन अवचेतन
दमित वासना के फैला शत फन !
खोल गुंजलक चितकबरी कांक्षा
लगी लोटने, दे शत विष दंशन,
किमाकार - सा लगे रूप धरने
आत्मिक प्राणिक कायिक विधि वर्जन !
राग द्वेष के फैला धूमिल फन
घिरते उर में काम - कलुष के घन,
काले कुत्ते - सा पीछा करता
क्रोध मूक, मन के तम में प्रतिक्षण !

मृत गर्तों से प्रेतों - से उठकर
धर्म - नीति - इतिहासों के पंजर
लगे नृत्य करने उर प्रांगण में—
जग निश्चेतन से गत भू संगर !
विकृत मुण्ड - हत कितनी ही आकृति
आतीं जातीं—मन को कर कम्पित,
नरक कूप नीचे था, स्वर्ग शिखर
ऊपर कवि उर निर्भय, आत्मस्थित !
बुद्ध मार का आया तुरत स्मरण,
हुआ सचेत चमत्कृत कवि का मन,
नव्य भूमिका प्रस्तुत करती चिति—
था गत दीप - शिखा का अन्तिम क्षण !
क्षुब्ध त्रस्त उपचेतन के तम मे
स्वर्ग किरण हँस, देती आश्वासन,
विधि - निषेध गत - युग के अतिक्रम कर
विस्तृत होता भू - मानस प्रांगण !
तमस प्रतिफलित होता छा बाहर
विगत अहं बनता उद्धत, निर्मम,
गरज परीक्षा लेता परशु प्रखर,
राम शान्त थे—यह विकास विधि क्रम !

आरोहण अवरोहण कर कवि - मन
साम्प्रत, भूत, भविष्यत् प्रति जाग्रत्
देख रहा था कल्प - वृत्त नूतन
दिव्य अनागत का कर शुभ स्वागत !
गत भू - जीवन - पद्धति कारा में
रूढ़ि - रीति पट में बन्दी प्रतिक्षण
मनुज चेतना पाश - मुक्त होने
आतुर थी,—गढ़ने नव भू - जीवन !
ऊर्ध्व भूमि से हो क्षण केन्द्र च्युत
चिन्तन मन्थित होता कवि - अन्तर,
वह विभक्त - उर हो अनुभव करता
युग - भू - संघर्षण अपने भीतर !
भू - मानव के वहिर्भूत मन में
गहराता जाता समदिक् - संकट,
बँटा विकट शिविरों मे था भू - बल
बढ़ता जाता वैमनस्य उत्कट !
मिटते राजनयिक विभेद बाहर
आर्थिक स्पर्धा थी भीतर जागृत,
आस्तिक नास्तिक देशों के उर थे
नैतिक भौतिक कुण्ठा से पीड़ित !

लौह मुष्टि से अधिक क्रूर निकली
स्वर्ण मुष्टि—सम्पद् मद से निर्मम,
नव्य चेतना पावक में विगलित
होती जो अब—मिटा वैर - भय, भ्रम !
ऊर्ध्व दृष्टि से हीन अर्ध - पशु नर
दिशा भ्रान्त था बहिर्विभव उन्मद,
आर्थिक स्वार्थों के संरक्षण हित
अड़ा शक्ति दानव था अंगद पद !
विश्लेषण - प्रिय वैज्ञानिक युग - मन
रजत बालुका मरु - सा दिग् विस्तृत,
चिद् धारा से रहित, बुद्धि निर्मम,
मृग मरीचिका जीवन पर मोहित—
भीषण झंझाओं से था मन्थित,
उठते गिरते राष्ट्र—धुन्ध पर्वत,
मिटते हँस क्षण - आशा के शाद्वल
गति - क्रम दिग्-भ्रम में होता परिणत !
हृदय-हीन, हत बुद्धि - प्राण युग - नर
शिक्षित - भर था, नहीं मनुज संस्कृत,
अन्तर्जग में घिरा अन्ध तम घन—
बहिर्जगत - जड़ रोओं से परिचित !
जीवन सुख - उपकरणों के आश्रित,
बाह्य - विभव आन्तरिक - दैन्य पीड़ित,
भौतिक जय, आत्मिक अभिभव मर्दित,
बहिर्सभ्य, अन्तर्बर्बर, कुण्ठित !
विकसित भूत परिस्थितियों का जग,
अन्तर में स्थित आदि खर्व वनचर,
वैज्ञानिक सुख - सुविधा वितरण में
नर का अरि था भीतर बर्बर नर !
बाह्य बोध से पागल युग का मन,
विपुल बहुमुखी ज्ञान न संयोजित,
बहिर्दिशा में उड़ता नर, भीतर
अस्त सूर्य, भव निशि, युगान्त निश्चित !
यन्त्र - तन्त्र केवल जड़ आडम्बर,
भीतर से होता जीवन शासित,
प्रकृति काम - गौ दुह, मथ युग सागर
विष - घट नर पी सका न दुग्धाऽमृत !
तड़ित्, रश्मि, अणु शक्ति न भू सर्जक,
भौतिक युग सभ्यता रुग्ण, श्री हत,
अट्टहास करता जग अणु दानव
नथुनों से कर प्रलय ज्वाल निर्गत !

महाकाय पुंजित वट पादप - सा
देखा कवि ने बहिर्व्याप्त भू - मन—
भव झंझा जव ताडित, उन्मूलित,
गिरा गर्त में ढहरा जो तत्क्षण !
ऊर्ध्व मूल हो अध: शाख युग तरु
अन्तर्मानस का प्रतीक बनकर,
कहता हो ज्यों—खीच ऊर्ध्व चित् रस
सम्भव भू - जीवन का रूपान्तर !
मूल अन्ध भू तम में रख सीमित
प्राण हरित धर जीवन, कुसुमित मन,
सार्थक हो सकता न विश्व - जीवन—
स्वर्ग नीड यदि नही हृदय चेतन !
परम्परा के पंजर ग्रामो से
था आक्रान्त तरुण भारत का मन,
निश्चय ही सबसे पहले भू के
जन - मन को करना था युग - चेतन !
सारा भारत ही कवि को दारुण
महा ग्राम - सा लगा रूढि - जर्जर,
गत जीवन मूल्यांकन से पीडित
निखिल विश्व ग्रामों का जड परिकर !
राजनयिक, आर्थिक, नैतिक, आत्मिक—
सभी स्तरों पर कर प्रबुद्ध युग रण
गत बर्बर की कृपण अहंता से
शाप - मुक्त करना था भू - प्रांगण !
वर्ग सम्यता हो या जन संस्कृति
विश्व - युद्ध हो धार्मिक कट्टरपन,
खर्व ग्राम्य मूल्यों से परिचालित
विगत युगों का भू - मानव - जीवन !
युग की वैज्ञानिक सम्पद् का भी
रोके अब वह मुक्त हस्त वितरण,
क्षमता मदिरा पी गत लघु नर - पशु
भू विनाश के गढ़ता आयोजन !
मन अतीत गौरव स्मृति से पीडित,
जीवन - रथ गत लीक गर्त स्तम्भित,—
बाह्य परिस्थितियों के जड़ जग को
नव्य चेतना से करना मण्डित !
इन्द्रिय जीवन से वंचित करना
आध्यात्मिकता को अनिष्ट भीषण,
ईश्वर के, जग के, जीवन के प्रति
महा पाप यह—पीड़ित गत भू - मन !
मध्य युगी वह साधु - सन्त अब भी
सिखलाते जन को जीवन वर्जन,

लौह मुष्टि से अधिक क्रूर निकली
स्वर्ण मुष्टि—सम्पद् मद से निर्मम,
नव्य चेतना पावक में विगलित
होतीं जो अब—मिटा वैर - भय, भ्रम !
ऊर्ध्व दृष्टि से हीन अर्ध - पशु नर
दिशा भ्रान्त या बहिर्विभव उन्मद,
आर्थिक स्वार्थों के संरक्षण हित
अड़ा शक्ति दानव था अंगद पद !
विश्लेषण - प्रिय वैज्ञानिक युग - मन
रजत बालुका मरु - सा दिग् विस्तृत,
चिद् धारा से रहित, बुद्धि निर्मम,
मृग मरीचिका जीवन पर मोहित—
भीषण झंझाओं से था मन्थित,
उठते गिरते राष्ट्र—धुन्ध पर्वत,
मिटते हँस क्षण - आशा के शाद्वल
गति - क्रम दिग्-भ्रम में होता परिणत !
हृदय-हीन, हत बुद्धि - प्राण युग - नर
शिक्षित - भर था, नहीं मनुज संस्कृत,
अन्तर्जग मे घिरा अन्ध तम घन—
बहिर्जगत - जड़ रोग्रों से परिचित !
जीवन सुख - उपकरणों के आश्रित,
बाह्य - विभव आन्तरिक - दैन्य पीड़ित,
भौतिक जय, आत्मिक अभिभव मर्दित,
बहिर्सभ्य, अन्तर्बर्बर, कुण्ठित !
विकसित भूत परिस्थितियों का जग,
अन्तर मे स्थित आदि खर्व वनचर,
वैज्ञानिक सुख - सुविधा वितरण में
नर का अरि था भीतर बर्बर नर !
बाह्य बोध से पागल युग का मन,
विपुल बहुमुखी ज्ञान न संयोजित,
बहिर्दिशा में उड़ता नर, भीतर
अस्त सूर्य, भव निशि, युगान्त निश्चित !
यन्त्र - तन्त्र केवल जड आडम्बर,
भीतर से होता जीवन शासित,
प्रकृति काम - गो दुह, मथ युग सागर
विष - घट नर पी सका न दुग्धाऽमृत !
तडित्, रश्मि, अणु शक्ति न भू सर्जक,
भौतिक युग सभ्यता रुग्ण, श्री हत,
अट्टहास करता जग अणु दानव
नथुनों से कर प्रलय ज्वाल निर्गत !

धरती हो धरती पर पावक पग
चित् शोणित की ज्वाला-सी पावन!
उस प्रकाश प्रतिमा वपु पर खादी
आत्म-शुद्धि की सित प्रतीक बनकर
कर्म-वचन-मन की पवित्रता से
लगती नैतिक गरिमा में सुन्दर!
देख सेवकों को बनते शासक,
अनाचार, नैतिक अघ का कर्दम,
दूषित भोजन, दूषित जीवन-मन,
हरने आयी वह युग-मन का भ्रम!
मन्यु प्रज्वलित सत्य-निष्ठ अन्तर,
सह न सका निर्बल का उत्पीड़न,
अन्न-वस्त्र हित थे असंख्य कातर
स्वल्प विभव पद मद मण्डित श्रीमन्!
तिक्त सम्प्रदायों में जन खण्डित,
स्थापित स्वार्थों से जन-भू कवलित,
शक्ति राष्ट्र सैनिक बल वर्धन रत,
अस्त्र-शस्त्र होते पर्वत-पुंजित!
भू-मन भय-संशय से आतंकित,
बौद्धिक आस्था-हीन, आत्म-घोषक,
जन भेड़ों-से विवश, लोक-नायक
धरा ध्वंस-प्रिय, रिक्त शान्ति-पोषक!
बन्दी कर विज्ञान-शक्ति युग-नर
महा प्रलय का करता आवाहन,
घोर अशुभ अघ छिपा कहीं भीतर
बढ़ता जाता जो भू संघर्षण!
प्रगति सतत करता विज्ञान महत्
एक दशक में कर शतियाँ अतिक्रम,
कुछ ही दशकों में सहस्र वत्सर
लाँघेगा रचना कौशल विक्रम!—
खोल प्रकृति उर-भेद, ग्रन्थि जड़ की,
बाह्य परिस्थिति कर जग की विकसित,
आत्मा-हीन मनुज पा क्षमता-वर
उन्मद भस्मासुर-सा अब अणु-मृत!
मनुज एकता ही नव युग आत्मा
महत् धरा-जीवन में हो स्थापित,
जाति-धर्म-वर्णों से कढ़ भू-मन
लाँघ राष्ट्र-सीमा—हो दिग् विस्तृत!
शक्ति सम्पदा विद्या कर संचय
अविश्वास से रुद्ध-द्वार अन्तर,
राष्ट्रिय आर्थिक स्पर्धा से जर्जर
विश्व-विजय हित उन्मद लघु कृमि नर!

गुह्य शक्तियों के पूंजीपति - से
सरल लोक - मन का करते शोषण!
भौतिक वैभव के प्रमुखों - से ही
ये आत्मिक निधि के कुबेर निश्चय,
भू - मंगल के ईश्वर से दोनों
दो छोरों पर—दूर,—नहीं संशय!
योग नहीं वह, मात्र योग गुण्ठन,
ब्रह्म बोध का श्वेत अस्थि पंजर,
करुणामय का हाथ पकडकर जो
भू-मंगल प्रति विरत—मोक्ष पथचर!!
विद्या, घोर अविद्या तन्त्रों से
भारत का साधक मन चिर परिचित,
आत्म - नाश का एक गुह्य कारण
रहा अविद्या तन्त्र यहाँ निश्चित!
नव युग की स्थितियों से ले साधन
अन्तः क्षितिजों से प्रकाश अभिनव,
बहिरन्तर संयोजित वैभव की
रस संस्कृत परिणति हो नव मानव!
दिशा क्षेत्र रे, काल - बोध हल फल
शुभ्र ज्ञान विज्ञान वृषभ बलधर,
साम्य उर्वरक, शस्य शान्ति - मंगल,
ऐक्य बीज, चैतन्य स्वर्ण हलधर!

देख विगत युग के मृत प्रेतों को
जन - भू - मानस में सक्रिय जीवित—
निर्झर - सा उतरा अन्तर्दर्शन
कवि - उर को कर नव आशा दीपित!
गहराता समदिक् संकट का घन,
देखा कवि ने—विस्मय हत अन्तर,
गाधी की आत्मा—नव युग विकसित
मृत समाधि से उठ आती बाहर!
भूमिकम्प से फट समाधि - स्थल ज्यों
उगल रहा हो द्रवित स्वर्ण पावक,
रश्मि रेख आभा में दिङ् मूर्तित
छूती आत्मा अम्बर का मस्तक!
जड़ उर में जागा हो नव चेतन,
ज्योति-प्रेत - छाया वह दिग् भास्वर
उतरी फिर जन - जीवन - प्रांगण में,
सो न शान्ति से सकी चैत्य भीतर!
हृदय चीर पृथ्वी का युग सीता
अग्नि - परीक्षा देने फिर नूतन

धरती हो धरती पर पावक पग
चित् शोणित की ज्वाला-सी पावन!
उस प्रकाश प्रतिमा वपु पर खादी
आत्म-शुद्धि की सित प्रतीक बनकर
कर्म-वचन-मन की पवित्रता से
लगती नैतिक गरिमा में सुन्दर!
देश सेवकों को बनते शासक,
अनाचार, नैतिक अघ का कर्दम,
दूषित भोजन, दूषित जीवन-मन,
हरने आयी वह युग-मन का भ्रम!
मन्यु प्रज्वलित सत्य-निष्ठ अन्तर,
सह न सका निर्बल का उत्पीड़न,
अन्न-वस्त्र हित थे असंख्य कातर
स्वल्प विभव पद मद मण्डित श्रीमन्!
तिक्त सम्प्रदायों में जन खण्डित,
स्थापित स्वार्थों से जन-भू कवलित,
शक्ति राष्ट्र सैनिक बल वर्धन रत,
अस्त्र-शस्त्र होते पर्वत-पुंजित!
भू-मन भय-संशय से आतंकित,
बौद्धिक आस्था-हीन, आत्म-घोषक,
जन भेड़ों-से विवश, लोक-नायक
धरा ध्वंस-प्रिय, रिक्त शान्ति-पोषक!
बन्दी कर विज्ञान-शक्ति युग-नर
महा प्रलय का करता आवाहन,
घोर अशुभ अघ छिपा कहीं भीतर
बढ़ता जाता जो भू संघर्षण!
प्रगति सतत करता विज्ञान महत्
एक दशक में कर शतियाँ अतिक्रम,
कुछ ही दशकों में सहस्र वत्सर
लाँघेगा रचना कौशल विक्रम!—
खोल प्रकृति उर-भेद, ग्रन्थि जड़ की,
बाह्य परिस्थिति कर जग की विकसित,
आत्मा-हीन मनुज पा क्षमता-वर
उन्मद भस्मासुर-सा अब अणु-मृत!
मनुज एकता ही नव युग आत्मा
महत् धरा-जीवन में हो स्थापित,
जाति-धर्म-वर्णों से कढ़ भू-मन
लाँघ राष्ट्र-सीमा—हो दिग् विस्तृत!
शक्ति सम्पदा विद्या कर संचय
अविश्वास से रुद्ध-द्वार अन्तर,
राष्ट्रिय आर्थिक स्पर्धा से जर्जर
विश्व-विजय हित उन्मद लघु कृमि नर!

गुह्य शक्तियों के पूंजीपति - से
सरल लोक - मन का करते शोषण!
भौतिक वैभव के प्रमुखों - से ही
ये आत्मिक निधि के कुबेर निश्चय,
भू - मंगल के ईश्वर से दोनों
दो छोरों पर—दूर,—नहीं संशय!
योग नहीं वह, मात्र योग गुण्ठन,
ब्रह्म बोध का श्वेत अस्थि पंजर,
करुणामय का हाथ पकड़कर जो
भू-मंगल प्रति विरत—मोक्ष पथचर!!
विद्या, घोर अविद्या तन्त्रों से
भारत का साधक मन चिर परिचित,
आत्म - नाश का एक गुह्य कारण
रहा अविद्या तन्त्र यहाँ निश्चित!
नव युग की स्थितियों से ले साधन
अन्तः क्षितिजों से प्रकाश अभिनव,
बहिरन्तर संयोजित वैभव की
रस संस्कृत परिणति हो नव मानव!
दिशा क्षेत्र रे, काल - बोध हल फल
शुभ्र ज्ञान विज्ञान वृषभ बलधर,
साम्य उर्वरक, शस्य शान्ति - मंगल,
ऐक्य बीज, चैतन्य स्वर्ण हलधर!

देख विगत युग के मृत प्रेतों को
जन - भू - मानस मे सक्रिय जीवित—
निर्झर - सा उतरा अन्तर्दर्शन
कवि - उर को कर नव आशा दीपित!
गहराता समदिक् संकट का घन,
देखा कवि ने—विस्मय हत अन्तर,
गांधी की आत्मा—नव युग विकसित
मृत समाधि से उठ आती बाहर!
भूमिकम्प से फट समाधि - स्थल ज्यों
उगल रहा हो द्रवित स्वर्ण पावक,
रश्मि रेख आभा में दिङ् मूर्तित
छूती आत्मा अम्बर का मस्तक!
जड़ उर में जागा हो नव चेतन,
ज्योति-प्रेत - छाया वह दिग् भास्वर
उतरी फिर जन - जीवन - प्रांगण में,
सो न शान्ति से सकी चैत्य भीतर!
हृदय चीर पृथ्वी का युग सीता
अग्नि - परीक्षा देने फिर नूतन

राजनयिक आर्थिक स्पर्धाएँ भी
सामाजिक चेतस् में होंगी लय,
विस्तृत हो जो भू - जीवन मानस
भेद - भाव भय, राग द्वेष हों क्षय !
हिंस्र युद्ध हों अन्त, शान्ति स्थापित,
अस्त्र - शस्त्र हों कौतुक - गृह सम्पद्,
अणु - वृप नव जीवन रचना वाहन
भू मानव - परिवार,—स्वर्ग - परिषद् !
निज अतीत अतिक्रम कर गत मानव
मिले विश्व सागर संगम मे सित,
मानवता ही नव सामाजिकता—
करे मनुज - अन्तर दिगन्त घोषित !
रजत व्योम मे रुका स्वर्ग - मंगल
भू पर हो अवतरित कर्म - सजित,
सृजन स्वप्न हों शोभा मे परिणत—
जन रचना - क्षमता असीम निश्चित !
जीवन परिभाषा हो परिवर्तित
जाति - भेद हों लोक - प्रीति गुम्फित,
धरा राष्ट्र हों विश्व तन्त्र समुदय
विश्व देव के अंग देश विकसित !
हो वैज्ञानिक - स्वप्न मूर्त भू पर
राम - राज्य आदर्श नवल रोपित,
धरा - स्वर्ग की सित अन्तः सम्पद्
कर्म कुशल जीवन मे हो कुसुमित !
मनुज एक—यदि एक दूसरे का
अहित न वह चाहे, पथ बाधक बन,
पथ अनन्त, सद्गति अनन्त मंगल,
ईश्वर केन्द्रिक हो जो जन - भू - मन !
छायात्मा फिरती निर्भय भू पर
कम्पित कर चापों से दिक् प्रांगण,
श्रोत्र पेय सुन, सुधा वृष्टि वाणी
निज विवरों से निकल पड़े भू - जन !
स्वागत किया अहिंसा का भू ने
वह सक्रिय आत्मिक - पौरुष पावन,
पशु क्षमता, हिंसा भय का दर्शन
किया पराजित अणु बल ने भीषण !
अणु उद्जन विध्वंस भले ढाये
सम्भव उनसे नही स्वर्ग सर्जन,
अहिंसास्त्र मृत को जीवित करता
मिटा असत्, सत् का कर संवर्धन !

पूँजी जनवादी देशों के मन
बल विभक्त, भय शंका से पीड़ित—
लोक ऐक्य भावी जन-भू ईश्वर
अन्तर्मानव को होना विकसित !
भौतिक सुख वैभव का भी वितरण
निकट भविष्यत् में अर्जित निश्चित,
व्यक्ति-मुक्ति सामूहिक-मुक्ति उभय
पूरक सतत, परस्पर अवलम्बित !
विश्व - शक्तियों के संघर्षण से
भू-जीवन हो अन्तर्मुख विकसित
नव्य चेतना के संस्कृत पट में
रस समग्र होता सित संयोजित !
ओर-छोर होंगे भू के कुसुमित
नव मानव चापों से दिक् कम्पित,
प्रकृति शक्ति पर विजयी मानव को
ऊर्ध्व चेतना से होना दीपित !
नव चिति असि से गत बर्बर पशु का
जब तक शीश न होगा उच्छेदित,—
दुर्लभ जन संगम,—प्रतीति वंचित,
भू-उर का होगा न शूल अपहृत !
उपनिवेश अब भी जग में जीवित
वर्ण-भेद से सभ्य देश पीड़ित,
दिव्य चेतना सहयोगी मानव
उच्च दाय के प्रति न अभी जागृत !

सूक्ष्म दृष्टि से देखा नरवर ने
राजनयिक से भी अति आवश्यक
सामाजिक युग क्रान्ति अहिंसा रत
नव सर्वोदय की हो निर्मायक !
जाति-पाँति के टूटें जड़ बन्धन
भस्मसात् हो रूढ़ि रीति कर्दम,
पूर्वग्रहों से हो विमुक्त जन-मन
युग-भू पर हो भव मानव संगम !
अन्न-वस्त्र गृह-द्वार मिले जन को,
शिक्षा-संस्कृति से दीपित हो मन,
सुन्दर हो भू, सुन्दरतर स्त्री-नर,
मानव-गरिमा वहन करें भू-जन !
पृष्ठभूमि जब तक न लोक-मन की
बदलेगी, युग प्रगति-नहीं सम्भव,
भू-प्रांगण से धो अतीत कर्दम
नव युग-वाहक बन सकता मानव !

राजनयिक आर्थिक स्पर्धाएँ भी
सामाजिक चेतस् मे होंगी लय,
विस्तृत हो जो भू - जीवन मानस
भेद - भाव भय, राग द्वेष हो क्षय !
हिंस युद्ध हों अन्त, शान्ति स्थापित,
अस्त्र - शस्त्र हों कौतुक - गृह सम्पद्,
अणु - वृष नव जीवन रचना वाहन
भू मानव - परिवार,—स्वर्ग - परिपद् !
निज अतीत अतिक्रम कर गत मानव
मिले विश्व सागर संगम मे सित,
मानवता ही नव सामाजिकता—
करे मनुज - अन्तर दिगन्त घोषित !
रजत व्योम में रुका स्वर्ग - मंगल
भू पर ही अवतरित कर्म - सजित,
सृजन स्वप्न हों शोभा मे परिणत—
जन रचना - क्षमता असीम निश्चित !
जीवन परिभाषा हो परिवर्तित
जाति - भेद हों लोक - प्रीति गुम्फित,
धरा राष्ट्र हों विश्व तन्त्र समुदय
विश्व देव के अंग देश विकसित !
हो वैज्ञानिक - स्वप्न मूर्त भू पर
राम - राज्य आदर्श नवल रोपित,
धरा - स्वर्ग की सित अन्तः सम्पद्
कर्म कुशल जीवन मे हो कुसुमित !
मनुज एक—यदि एक दूसरे का
अहित न वह चाहे, पथ बाधक बन,
पथ अनन्त, सद्गति अनन्त मंगल,
ईश्वर केन्द्रिक हो जो जन - भू - मन !
छायात्मा फिरती निर्भय भू - पर
कम्पित कर चापों से दिक् प्रागण,
श्रोत्र पेय सुन, सुधा वृष्टि वाणी
निज विवरों से निकल पड़े भू - जन !
स्वागत किया अहिंसा का भू ने
वह सक्रिय आत्मिक - पौरुष पावन,
पशु क्षमता, हिंसा भय का दर्शन
किया पराजित अणु बल ने भीषण !
अणु उद्जन विध्वंस भले ढायें
सम्भव उनसे नही स्वर्ग सर्जन,
अहिंसास्त्र मृत को जीवित करता
मिटा असत्, सत् का कर संवर्धन !

देखा कवि ने ज्योति-शिखा लेकर
केन्द्र छात्र जन को दे उद्बोधन,
अग्नि प्ररोहों से बढ़ते आगे
लोक क्रान्ति का करने संचालन!

जीवन रस वास्तवता से परिचित
मुक्त प्रीति से अन्तर उन्मेषित,
बढ़ते वे चित् पावक के पग धर
भू-जीवन-मन को करने संस्कृत!

घुमड़ रहे थे प्रलय-मेघ भीतर
प्राणों में था रुद्ध क्रुद्ध पावक,
सदाचार पट में अधर्म लिपटा,
भू-जीवन वैषम्य हृदय दाहक!—

सहज बुद्धि को लगता जो संगत
उसके थे विपरीत नीति बन्धन,
भू दारिद्रय अशिक्षा के तम को
अर्पित मृत जन का विपण्ण जीवन!

रेंगा करता पाप-पंक में नर
धनिकों हित था जन-श्रम का वैभव,
ध्वंसास्त्रों में फुंकती भू-सम्पद्
भौतिक युग का था बौद्धिक शैशव!

हँसते जन-भू पर फूलों के वन
हँसता रवि शशि तारात्रों का नभ,
मानव सन्तति रहती निशा-ग्रसित
सम्य-नरक मे जीवन-मृत; निष्प्रभ!

रुक न सका निश्चेतन उर गह्वर
सुन मानव आत्मा का आवाहन,
फु—फुंकार उठा सहस्र फन तम
दिव्य-स्पर्श पा जीवन-उन्मादन!

कर-पद-दृग इन्द्रिय-विहीन दानव
जड़ निद्रा से जग द्रुत, बन चेतन,
भृकुटि भंगमय, कोटि शीश कर पद
नृत्य कर उठा, भर युगान्त दिग् स्वन!

नवोन्मेप मे प्रेरित जन पर्वत
बढ़ता आँधी-सा दुर्धर पग धर,
युग-युग के अभिशाप काँप उठते,
रूढ़ि-रीतियों के गढ़ हिल थर-थर!

धूलिसात् गत युग आदर्श शिखर
लुण्ठित जड नैतिकता के खँडहर,
भूमिकम्प दौड़ता धरा-मन मे,
मन्थित युग-भू-जीवन का सागर!

आँख फाड़ इतिहास देखता जब,
मुँह बा संस्कृति धर्म—कल्प नूतन,

साँस रोककर देवी देव निखिल
चकित देखते—युग ताण्डव नर्तन !
वन - दावा - सी फैल सत्य चिनगी
उगल रही थी लपटों पर लपटें,
जलता बर्बर वनचर का पुर - गृह
फन फैलातीं सर्पिल धूम लटें !
हृद् गति रुकती आततायियों की
शक्ति - दर्प होता श्रीहत, पद - नत,
शोषक पीड़क पशुता से लज्जित,
अनाचार का होता हृदय विरत !
न्यस्त स्वार्थ झर पत्तों - से उड़ते,
पक्षपात - हत पर पीड़न, शोषण,
धूलि धुन्ध में वैमनस्य मिलता,
दैन्य दुःख के छँटते दारुण घन !
अन्तरिक्ष खुलता मन का विस्तृत,
सद्य फूटता भू - उर से यौवन,
शोभा गरिमा में दिगन्त कुसुमित
हँसता नव श्री - समता का जीवन !
धरा प्रीति भरती उर गर्तों को
मनुज ऐक्य पथ बाधाएँ ढहतीं,
प्लावन घटने पर पावस नद - सी
जीवन - धारा सहज रूप बहती !
एक बार जो जन - भू का प्रांगण
स्वर्ग रुधिर से हो सित अवगाहित,
सद्भावों के चन्दन से चर्चित
धरा चेतना हो समता प्लावित !
अर्थ स्वार्थ के कर्दम को धोकर
राजनीति का पशु मुख हो संस्कृत,
आध्यामिक जन - क्रान्ति धरा - पथ को
कण्टक - शून्य बना, कर दे विस्तृत !

फैली सुन्दरपुर में युग - दावा
जन - मत - शाखाओं में भर घर्षण,
नव चेतन थे अग्नि - शिखा वाहक
प्रतिस्पर्धी थे बाधाओं के वन !
दैन्य - मुक्ति चाहते क्षुब्ध भू - जन
वह था सामूहिक विद्रोह महत्,
स्वार्थ दमन दुष्कृति अनीति शोषित
भड़का था लोकाभिमान आहत !
वे विरोध करते निर्भीक हृदय
उस सबका—जिससे जीवन दुर्वह,

सुप्त धरा आत्मा को कर जागृत
द्वार - द्वार पर देते सत्याग्रह !
सदसत् पर कटु तर्कवाद करते,
खोद गड़े मृत सत्यों के पंजर—
खीस काढ़ हँसते जो निज मुख से
हटा जीर्ण विधियों का आडम्बर !
मरने - मिटने को सहर्ष तत्पर
पूर्ण अहिंसक रहते पर्वतवत्,
अंग - भंग से, कायिक चोटों से
कहीं दुखद था मूक मर्म का क्षत !
अशुभ न हो जब तक भू - उन्मूलित,
खुले न दलितों प्रति कुलीन अन्तर,
मिले न सम अवसर मानव शिशु को
मिटे न भू दारिद्रय लोक दुस्तर !—
सुख साधन का हो न उचित वितरण,
कुसुमित हो न कुरूप धरा - प्रांगण,
दूर न हो उर निशा, अविद्या तम,
सुलभ न हो शिक्षा संस्कृति तोरण,—
मानव आत्मा के विकास - पथ पर
जब तक गत युग का भू - मन बाधक,
धन वैभव पद मद से अपमानित
कोविद, सर्जक, भू मंगल साधक—
शासनवाद न उन्मद रावण - सा
जब तक हो जनमत से पद मर्दित,
जन, प्ररोह - से सत्य ज्योति के उठ,
भू - मंगल - प्रहरी न बनें जागृत,—
जन - भू वाणी में तुतला जब तक
भारत का चैतन्य न हो मुखरित,
वैज्ञानिक सम्पद् ले पश्चिम से
आत्मिक विभव धरा में कर वितरित,—
शान्त न होगी यह अन्तर्ज्वाला
प्राप्त न जब तक वास - वस्त्र - भोजन,
कहते - वे,—विश्राम मृत्यु उनको
जो भू - गौरव वाहक अंगद - पण !—
भारत आत्मा के ही स्पर्शों से
जन - भू - मानस होगा संयोजित,
मध्य युगी भावनास्मिता जिसमें
नव युग रण में चित् रस बोध विजित !
सुन्दरपुर यद्यपि हरि यत्नों से
कृषि नगरों में था आदर्श नगर,
निखिल लोक - जीवन अभिभावक जन
भू - पुत्रों के प्रतिनिधि थे दुर्धर !

विश्व संक्रमण का प्रकाश, तम भ्रम
नव प्रहर्ष भरता, करता गर्जन,
छद्म वेश धर प्रतिपक्षी दल ने
अवसर पा लूटा संस्कृति प्रांगण !
वाग्विलास से होकर प्रोत्साहित
साधा जन ने निज कुण्ठा सायक—
स्वर्गवास से माधो के हतप्रभ,
वही अहंप्रिय जन का अब नायक !
द्वेष - सिन्धु में, कल्मष - कर्दम में
सत्य - ज्योति को तिरना होता नित,
ज्योतिवाह को मिला घृणा - विष जग
उसके चरणों पर होता अर्पित !
मर्माहत कर वंशी को खल जन
मूर्छित को मृत मान, तुष्ट मन में,
लौटे, अन्धड़ - से क्षत - विक्षत कर
कला - पीठ को द्वेष - अन्ध क्षण में !
वन पशुओं के रौंदे उपवन - सा
स्वर्ग खण्ड लगता विनष्ट श्रीहत,
बहु संख्यक थे कपट रूप कायर,
युवति-युवक बल अल्प - संख्य, दृढ व्रत !
ग्राम जनों को प्रतिहिंसा - पथ से
रोका कवि ने, मूर्छा से जगकर,
छात्रों को धीरज - प्रबोध - बल दे
शान्त किया, हृत तन-मन के व्रण भर !
युक्त सृजन - संकल्प - शक्ति से फिर
कला सुतों ने गढ़ा नया जीवन,
घृणा द्वेष की प्रतिक्रिया से बच,
अन्तर्बल से कर निज संरक्षण !
सृजन प्रेरणा से परिणीत सतत
शिव का पा आनन्द स्पर्श नूतन
जगा स्वर्ग शोभा में केन्द्र पुनः—
लाँघ ध्वंस गति को हँसता सर्जन !
काल कीट छिप, कुसुमित अंगों को
कुतरा करता, यन्त्र मात्र तन - मन,—
अमृत चेतना यौवन का वैभव
धरा स्वर्ग रचना प्रति था अर्पण !
वंशी को था ज्ञात—विपद् भय ही
सतत पाटते नव प्रयास का पथ,
वही विजय - तोरण बनते स्वर्णिम
नहीं विपद् भय से प्रयत्न हों श्लथ !
वाग्विलास को क्षमा किया कवि ने
माधो की सम्मोहन - असि से मृत,

सुप्त धरा आत्मा को कर जागृत
द्वार - द्वार पर देते सत्याग्रह !
सदसत् पर कटु तर्कवाद करते,
खोद गड़े मृत सत्यों के पंजर—
खीस काढ़ हँसते जो निज मुख से
हटा जीर्ण विधियों का आडम्बर !
मरने - मिटने को सहर्ष तत्पर
पूर्ण अहिंसक रहते पर्वतवत्,
अंग - भंग से, कायिक चोटों से
कहीं दुखद था मूक मर्म का क्षत !
अशुभ न हो जब तक भू - उन्मूलित,
खुले न दलितों प्रति कुलीन अन्तर,
मिले न सम अवसर मानव शिशु को
मिटे न भू दारिद्रय लोक दुस्तर !—
सुख साधन का हो न उचित वितरण,
कुसुमित हो न कुरूप धरा - प्रांगण,
दूर न हो उर निशा, अविद्या तम,
सुलभ न हो शिक्षा संस्कृति तोरण,—
मानव आत्मा के विकास - पथ पर
जब तक गत युग का भू - मन बाधक,
धन वैभव पद मद से अपमानित
कोविद, सर्जक, भू मंगल साधक—
शासनवाद न उन्मद रावण - सा
जब तक हो जनमत से पद मर्दित,
जन, प्ररोह - से सत्य ज्योति के उठ,
भू - मंगल - प्रहरी न बनें जागृत,—
जन - भू वाणी में तुतला जब तक
भारत का चैतन्य न हो मुखरित,
वैज्ञानिक सम्पद् ले पश्चिम से
आत्मिक विभव धरा में कर वितरित,—
शान्त न होगी यह अन्तर्ज्वाला
प्राप्त न जब तक वास - वस्त्र - भोजन,
कहते वे,—विश्राम मृत्यु उनको
जो भू - गौरव वाहक अंगद - पण !—
भारत आत्मा के ही स्पर्शों से
जन - भू - मानस होगा संयोजित,
मध्य युगी भावनास्मिता जिसमें
नव युग रण में चित् रस बोध विजित !
सुन्दरपुर यद्यपि हरि यत्नों से
कृषि नगरों में था आदर्श नगर,
निखिल लोक - जीवन अभिभावक जन
भू - पुत्रों के प्रतिनिधि थे दुर्धर !

विश्व संक्रमण का प्रकाश, तम भ्रम
नव प्रहर्ष भरता, करता गर्जन,
छद्म वेश धर प्रतिपक्षी दल ने
अवसर पा लूटा संस्कृति प्रांगण !
वाग्विलास से होकर प्रोत्साहित
साधा जन ने निज कुण्ठा सायक—
स्वर्गवास से माधो के हतप्रभ,
वही अहंप्रिय जन का अब नायक !
द्वेष - सिन्धु में, कल्मष - कर्दम में
सत्य - ज्योति को तिरना होता नित,
ज्योतिवाह को पिला घृणा - विष जग
उसके चरणों पर होता अर्पित !
मर्माहत कर वंशी को खल जन
मूर्छित को मृत मान, तुष्ट मन में,
लौटे, अन्धड़ - से क्षत - विक्षत कर
कला - पीठ को द्वेष - अन्ध क्षण में !
वन पशुओं के रौंदे उपवन - सा
स्वर्ग खण्ड लगता विनष्ट श्रीहत,
बहु संख्यक थे कपट रूप कायर,
युवति-युवक बल अल्प - संख्य, दृढ़ व्रत !
ग्राम जनों को प्रतिहिंसा - पथ से
रोका कवि ने, मूर्छा से जगकर,
छात्रों को धीरज - प्रबोध - बल दे
शान्त किया, हत तन-मन के व्रण भर !
युक्त सृजन - संकल्प - शक्ति से फिर
कला सुतों ने गढ़ा नया जीवन,
घृणा द्वेष की प्रतिक्रिया से बच,
अन्तर्बल से कर निज संरक्षण !
सृजन प्रेरणा से परिणीत सतत
शिव का पा आनन्द स्पर्श नूतन
जगा स्वर्ग शोभा में केन्द्र पुनः—
सौंप ध्वंस गति को हँसता सर्जन !
काल कीट छिप, कुसुमित अंगों को
कुतरा करता, यन्त्र मात्र तन - मन,—
अमृत चेतना यौवन का वैभव
धरा स्वर्ग रचना प्रति का दर्पण !
वंशी को था ज्ञात—विपद् भय ही
गहन पाटते नव प्रयाण का पथ,
वही विजय - तोरण बनते स्वर्णिम
नहीं विपद् भय से प्रयत्न हों श्लथ !
वाग्विलास को क्षमा किया कवि ने
माधो की सम्मोहन - शक्ति से मृत,

भरा हृदय का था न अविद्या क्षत,—
गुरु हित उसका बलि-पशु संरक्षित !

युग-आत्मा देखी तद्गत कवि ने—
जग अणु भीम-पुरुष सम्मुख उद्धत,
देख करुण लघु कृमि-सी मानव-स्थिति
लगता घृणा दया दुख से आहत !
भू के खण्डित पथराये मन में
भय से भरता विश्व सन्तुलन वह,
सृष्टि कोख का प्रलय दैत्य दुर्जय—
शक्ति राष्ट्र थे युगल वाहु दुर्वह !
कल्पान्तर का था वह दिग्घोषक,
युग सन्ध्या थी, महा ह्रास का तम,
पहन सभ्यता का मुख आदिम पशु
उपजाता मानव होने का भ्रम !
जीवन मरण खड़े थे अव सम्मुख
आलोड़ित भू का निगूढ़ अन्तर,
उमड़ रहा था प्रस्तर-युग का तम
उबल रहा था निश्चेतन गह्वर !
बहिर्मुखी नर का दुखान्त नाटक
देख रहा था करुणा-नत अम्बर,
ऊर्ध्व दृष्टि से हीन अन्ध मानव
आत्म विजित, समदिग् विनाश तत्पर !
द्रवित हो रही थी आत्मा धीरे
टलता जाता दारुण भव-संकट,
टकराते संहार वारि उन्मद,
जग, ढकेलता द्रुत भू-जीवन तट !
तमस सिन्धु में डूब रही भू को
उठ असंख्य कर एक साथ ऊपर
बचा रहे थे,—मरकत भू गोलक
छिगुनी में था लिये लोक गिरिधर !
चित्कण कहीं महत् भव-सागर से
तम पर्वत से महत् ज्योति का कर,
हृदय ग्रन्थि सँग खुले वाह्य बन्धन,
कर्दम से निखरा लज्जित युग-नर !
सौमनस्य जागा भू-देशों में
स्वागत पाते सन्मैत्री-मण्डल,
बढ़ता संस्कृति कला भाव विनिमय
मनुज निकट आते, उपकृत भूतल !
विश्व संघ सित स्थापित जन-भू पर
राष्ट्र युगत लेते भू हित निर्णय,

विश्व सभाएँ होतीं आयोजित
लोक शान्ति हो भंग न मंगलमय!
विश्व स्वास्थ्य, भू - खण्ड अन्न स्थिति पर
धरा - राष्ट्र करते पर्यालोचन,
धनी देश वितरण करते सम्पद्—
अन्न, पण्य, बहु यन्त्र बोध, बल, धन!
शक्ति राष्ट्र मिल शस्त्र त्याग के हित
विविध योजना रचते शंकित मन,
अस्त्र - शस्त्र, सैनिक संगठनों से
पर - संरक्षण, निज बल कर वर्धन!
दानव अस्त्रों के प्रक्षेपण हित
देशों में बनते अड्डे कुत्सित,
सुन्दरपुर की पार्श्व भूमि में भी
बृहद् वायु आस्थान हुआ निर्मित!
युग प्रबुद्ध सम्पन्न राष्ट्र जग के
अल्पोन्नत देशों को कर विकसित
विषम परिस्थितियों में जन युग की—
शक्ति सन्तुलन करते नव स्थापित!
युग - प्रबोध, अणु - भय पाटों में दब
यथा शक्ति कर न्यस्त स्वार्थ अपचित,
कूट प्रयत्नों से भू - अधिनायक
विश्व सभ्यता को रखते जीवित!
व्यक्ति - मुक्ति सँग लोक-शक्ति का रण
भावी भू - जीवन हित मंगल - प्रद,
बौद्धिक नर को बनना चित् मानव
सँजो महत् भौतिक आत्मिक सम्पद्!
बृहद् समूहीकरण मनुज का कर
भू - मन को होना नव संयोजित,
केन्द्रीभूत धरा - जीवन को फिर
बहु विशिष्टताओं में अवकेन्द्रित!
देखा कवि ने आदिम बर्बर पशु
अर्ध सभ्य मानव - उर मे जीवित,—
ऊर्ध्व चेतना स्पर्शों से नर को
बनना बहिरन्तर नख-शिख संस्कृत!
आज उपस्थित वह चिद् गर्भित क्षण,
युग संकट से पा विद्युद्बोधन
अनजाने ही करता गत भू - मन
आध्यात्मिक शिखरों पर अधिरोहण!
जब तक भू - चैतन्य नही विकसित
निखिल बुद्धि वैभव आसुर सम्पद्,
बहिर्यत्न से शान्ति लोक - मंगल
क्षणिक अतिथि भर—स्थायी विश्वविपद!

इधर वैर बढ़ता भू - राष्ट्रों में
उधर लोक - चेतना संगठित बन
नव आध्यात्मिकता के प्रति जाग्रत्
कष्टपूत करती नव आरोहण !
जाति - वर्ग विवरों से मनुज निकल
नव समत्व में बँधते मुक्त हृदय,
सदय समव्यथित उन्नत सहृदय बन
नव आशा आस्था करते संचय !
राग-द्वेष विरहित, पर - दुख कातर,
मनुष्यत्व के प्रति होते चेतन,
शुद्ध खाद्य ही शुद्ध बुद्धि, सित मन,
कर्म शुद्ध रखते जन भू - जीवन !
आत्म कूप रति से निवृत्त होकर
सामाजिकता का करते आदर,
छोड़ मध्य युग की जीवन - पद्धति
भू - मानव हित नया सँजोते घर !
हँसते उन पर जो सम्पद् मद को
अर्पित करते निज अमूल्य जीवन,—
स्वच्छ वास, मित अन्न वसन साधन
प्रिय उनको अब विकसित संस्कृत मन !
भौतिक वैभव स्पर्द्धा प्रति उपरत
निर्मित करते अन्तर्जीवन पथ,
मनोविभव के सम्मुख बाह्य विभव
लगता जड़ केंचुल - सा विश्री, श्लथ !
खुलते क्षितिज क्षितिज पर शोभा के
भाव भुवन भरते मन में विस्मय,
ज्ञान - नम्र बनता उर, विस्तृत मति,
मिटता भगवत् सत्ता प्रति संशय !
मार्दवता आती कठोर मन में
मानव पशु होता प्रसाद - संस्कृत,
मिटती भेद जनित स्पर्धा कुण्ठा
अन्तर्जीवन गरिमा से मण्डित !
गूँथ धरा - रज में प्रकाश चिक्कण
नव जीवन - प्रतिमा करते कल्पित,
धूलि बिना चिद् बीज न देता दल,
बिना बीज भू - जीवन रज जड़ मृत !
सृजन - कर्म प्रिय, प्रियतर था कृति फल
जन भू - जीवन - मंगल प्रति अर्पित,
व्यक्ति विश्व में थी अभिन्न संगति
कर्म - योग ही कर्म - भोग था सित !
इन्द्रिय तुष्टि न था समग्र - जीवन
अन्तः परिणति का भर सित साधन,

इन्द्रिय बोध न पूर्ण सत्य - अनुभव,
तद्गत उर बनता प्रकाश दर्पण !
स्पर्श अमरता का पा जीवन की
सृजन प्रेरणा हो उठती जागृत,
भंगुरता में स्वर्ग - कला - बिम्बित—
अविनश्वरता हो उठती जीवित !
मनुज प्रेम के बिना धरा - जीवन
था श्मशानवत्, विरति धूम आवृत,
मानवता ही अमर सत्य प्रतिनिधि,
नश्वर व्यक्ति— निखिल से यदि वंचित !
महा ध्वंस के भय से मिल भू - जन
कर्म - निरत रहते, निज पर निर्भर,
देख - रेख कर परिजन पुर जन की
संरक्षण के खोज नये साधन !
लोक संगठन कर वे जन भू के
योग क्षेम हित रहते सक्रिय नित,
सहजीवन, सहयोग, युक्त श्रम के
सदुपयोग से कर जीवन उपकृत !
भू - श्रम बहिःसमृद्धि, ऐक्य उर - निधि,
मानवीय गुण का करते आदर,
जन ही अब भू - जीवन संचालक
संकट - हत शासन निष्क्रिय, जर्जर !
राजनयिक आर्थिक भू - जीवन की
घृणित क्षुद्रताओं से हो अवगत,
संस्कृति के स्वप्नों, आदर्शों का
भू - मंगल हित करता नर स्वागत !
युग प्रबुद्ध, जग - जीवन गति परिचित,
मनुज - एकता के प्रति आकर्षित,
विरत घृणा हिंसा स्पर्धा रण से,
एक विश्व हो,—मन करता स्वीकृत !
कलह विषाद, अलस प्रमाद में जो
व्यर्थ नष्ट होता जन - धन श्रम - बल,
भू - रचना में कर उसको योजित
अर्जित करते नव जीवन - मंगल !
श्रम—शतगुण जीवन वास्तवता मे
होता अब प्रतिदिन विकसित, वर्धित,
मनुज मनुज-सन्तति हित निज श्रम - फल
संचित करता—प्रभु को कर अर्पित !
प्रीति मुक्ति सम्भव अब—मानव - मन
शुभ्र भाव - जीवन करता स्वीकृत,
-काम - द्वेष कुत्सा कर्दम से उठ,
जन जीवन - गरिमा प्रति थे जागृत !

श्री - शोभा सर्जन रत रहता उर
उच्च सत्य जिज्ञासा से प्रेरित,
प्रीति रश्मि में ग्रथित हृष्ट स्त्री - नर
सित रस चिति सुख में रहते मज्जित !
रति असभ्य पशु वृत्ति न अब रहकर
सामाजिक,—संस्कृति शोभा मण्डित,
रचना संयम हित अर्पित मन को
रस प्रहर्ष रखता अन्त:संस्कृत !

मनोदृष्टि से देखा युग - कवि ने
गुह्य बोध से जीवन परिचालित,
वही शक्ति जो रचना मंगल रत
अणु विनाश के हित भी रण सज्जित !
रस प्रकाश बन—स्वर्ण चेतना से
करती वह नव युग अन्तर दीपित,
ध्वंस भीति बन वह अतीत का जड़
शिलीभूत ढाँचा करती खण्डित !
शतियों के पथराये हृत मन से
बाधित नव मानव - विकास गति-क्रम,
गत युग की लँगड़ाहट को ढोना
भू मन हित दु:साध्य,—बोझ निर्मम !
झाड़ जीर्ण केंचुली चेतना नित
बढ़ती—भू - मन पर अलक्ष्य पग धर,
मृत्यु बिना सम्भव न पुनर्जीवन
रूप भाव - अमरत्व - इच्छु, अनुचर !
नव जीवन शोभा पंखों पर उड़
ऊर्ध्व चेतना, पावक क्षितिजों पर,
बरसाती ऋत शृंगों का वैभव
विकसित कर युग - मानव का अन्तर !
सौरभ मेघ उमड़ते भू - उर से
इन्द्रधनुष शोभा पड़ती झर - झर,
दीपित करते अधिमन शिखरों को
किरणों के संगीत मुखर निर्झर !
नव प्रकाश से मन्थित तम - सागर
भव जीवन जलनिधि अब उद्वेलित,
देखा कवि ने—भू का क्रुद्ध उदर,
ज्वालामुखी उगलता, रुद्ध - दमित !
प्रक्षेपास्त्र गरज, उड़ते नभ में
महाकार दैत्यों - से दिग् भीषण,
ध्वंस भ्रंश प्रस्तर - युग का भू शव
नष्ट - भ्रष्ट उपचेतन, निश्चेतन !

निखिल प्रतीकात्मक था कल्प - समर,
दुर्धर था विस्फोट धरा - मन का,
देखा कवि ने नरक - दृश्य दारुण
विश्व ह्रास के प्रकरण विघटन का !
महाशून्य था दृष्टि अन्ध गह्वर—
निद्रित सित आलोक, जागता तम,
स्तम्भित वाह्य प्रगति—भौतिक युग गति,
भीतर दुर्गम अन्धकार—दिग् भ्रम !
आर्थिक स्पर्धा कुण्ठा से मूर्छित
घृणा पंक में डूबा था भू - मन,
अणु विनाश के बाद—दाह विगलित,
कृमियों से आच्छन्न विश्व - जीवन !
पूय क्लिन्न थी विकृति गन्ध दुःसह
गलित अस्थि मज्जा पंजर, खँडहर,
भस्मसात् सभ्यता, सुलगती दिशि,
मृत कराहता शुष्क काल सागर !
कहाँ गया मन ? सोच रहा था नभ,
वारि - हीन अर्णव - सा—गर्त अतल,
तृण तरु झष कृमि खग पशु से नर तक
हुआ सृष्टि सोपान लक्ष्य निष्फल !
प्रकृति? विकृति-भर शेष! स्थगित विधिक्रम,
कार्य न करते सृष्टि नियम निश्चल,
विघटित होता कारण कार्य जगत्,
महाकाल उर में लय अपलक पल !

विश्व - चेतना ने सोचा क्षण - भर—
सत् पर विजयी हो युग विकृति,—असत्
अपने को क्षय करे ?—उन्नयन हित
या ईश्वर प्रतिनिधि मानव उद्यत ?
सहसा भास हुआ प्रबुद्ध कवि को—
नरक - दृश्य का होता रूपान्तर—
विस्तृत होता जन मन अन्तर्पथ
चित् प्रकाश से जाता हुत् घट भर !
अन्तः सक्रिय मानव का मानस
निज गौरव के प्रति होता जाग्रत्,
वह जन - भू ईश्वर,—गत पशु नर को
नव मानवता में होना परिणत !
अर्थ स्वार्थ, मतभेद, विगत युग के
नव्य चेतना उर में होते लय,
महानाश मुख मे नव जीवन चुन
धरा स्वर्ग सर्जन में नर तन्मय !

देख घुमड़ते प्रक्षेपास्त्रों को
मानव की प्रज्ञा स्वरूप धरकर
प्रकट हुई कवि - नयनों के सम्मुख
चित् किरणों से भर मानस अम्बर !
उड़ते दैत्यों का कर दर्प दलन
खींच उन्हें निज उर में कर तन्मय,
विश्व - शक्तियों को प्रबोध दे नव
हरा मनुज का उसने भय संशय !
आँख फाड़कर देख रहा था जग,
आँख खोलकर शक्ति राष्ट्र लज्जित,—
उन्मद दैत्यों के पद से मर्दित
मनुज - हृदय में अभी ज्योति जीवित !
बहिर्विकास न प्रगति—मात्र वर्धन,
अन्तः शक्ति अपेक्षित भू - जन को,
जीत सके जो बाह्य आसुरी तम
स्वर संगति दे मानव - जीवन को !

नव - नव आविष्कारों खोजों से
पाता जड़ विज्ञान प्रकृति पर जय,
गिरि समतल, मरुस्थल को कर उर्वर
हरित नील बल अर्जित कर जव - भय !
अब निशीथ की निर्जन अँधियाली
रासायनिक दिवस में थी परिणत,
यान्त्रिक मन, यान्त्रिक जन थे बलभृत्,
रश्मि यान से दिशा काल कर - गत !
फहराता शशि के स्मित प्रांगण में
मनुज विजय का ज्योति - चक्र केतन,
रौंद रहा था अन्तरिक्ष - उर नर
ध्वंस - भीत भू का विषण्ण था मन !
कुछ ऐसा कर सका न था युग - नर
मानव - उर मानव प्रति हो निर्भय,
नव आस्था, सद्भाव ग्रथित हों जन
मिटे धरा - मन का तम भय संशय !
मुक्त प्रीति नव विश्व सृजन सुख में
जन प्राणों को करे स्वर्ण गुंम्फित
अन्तः रस शोभा प्रकाश के प्रति
करे कुरूप मनुज - उर को प्रेरित !
सृजन शान्ति अर्जित कर भू - मन हित
धरा - स्वर्ग कर जीवन में मूर्तित,
हो कृतार्थ विज्ञान शक्ति जग में
भू - तमिस्र हर, कर अन्तर दीपित !

देखा कवि ने युग के अम्बर में
चेतन अवचेतन गतियों का रण,
ऊपर नभचर पुष्प वृष्टि करते,
नीचे उड़ते काक गृद्ध दुःस्वन !
धरा - गर्भ से अग्नि - स्तम्भ उठकर
दिव्य ज्योति में करता अवगाहन,
अन्तरिक्ष में दारुण घन मँडरा
भरते क्षण - क्षण प्रलयंकर गर्जन !
चकित - स्तब्ध था क्षुब्ध विश्व मानस,
प्रलय सृजन में छिड़ा तुमुल था रण,
क्या होगा ? विधि को भी था न विदित,
अननुमेय था नव युग परिवर्तन !

आदर्शों का प्रेमी था शंकर
शुद्ध अहिंसा का सित आराधक
कहा एक दिन उसने आ कवि से
क्या न सैन्य बल संस्कृति-पथ बाधक ?
सामाजिक आन्तरिक क्रान्ति के हित
अहिंसास्त्र अव्यर्थ—नहीं संशय,
नख - शिख रण सज्जित भू देशों पर
कौन शस्त्र जय पा सकता—यह भय !
अन्ध नियति,—कटु स्वार्थों में खण्डित
मनुज न भावी वैभव प्रति जागृत,
लोक पराजय लघु स्वार्थों की जय,
अन्तर्मानव को होना विकसित !
अभी भूत में रहता मानव - मन
गत इतिहास मनुजता हित घातक,
संस्कृति बन सकती विकास दर्पण,
जो भविष्य का बने मनुज साधक !
शक्ति शक्ति मद को करती मर्दित,
विष की औषधि विष—अनुभव सम्मत,
शक्ति शक्ति सीमा अतिक्रम कर अब
पूर्ण ध्वंस पर्याय—निखिल अवगत !
अस्त्र - शस्त्र से नद्ध लोक भारत
सैनिक शक्ति बने क्या रक्षा हित ?
मनुष्यत्व का सित बल अर्जित कर
या भू - मन को करे सत्य - प्रेरित ?
युक्त राष्ट्र, जन तन्त्र रूस, युग के
दक्षिण वाम करों से बहुबलभृत,
विश्व ध्वंस भय से—जन - सागर को
कूलों में रक्खेंगे मर्यादित !

यदि दो अग्नि-शिखर आपस ही में
टकरा उठते—तो विनाश निश्चय,
कौन बचा सकता भू-जन को,—तब
क्या संस्कृति, सभ्यता, पराजय, जय ?
अणु बल से अणु बल पर पाना जय
विश्व ध्वंस को देना आमन्त्रण,
यदि सम्भव तो, सत्याग्रह ही से
सम्भव मानवता का संरक्षण !
आसुर बल से कर विद्रोह मनुज
करे संगठित लोक-धरा का मन,
शान्ति धैर्य से हों दुष्कर निर्णय,
जन-सत्याग्रह अणु-बल से भीषण !
भगवत् इच्छा के अधीन यह जग
स्वर्ण विधान समय-कर निर्धारित,—
नव प्रकाश अवतरित धरा-मन पर,
नया हृदय ले रहा जन्म निश्चित !
देखेंगे प्रत्यक्ष-दृष्टि पीड़ित
भावी के अंचल में अवगुण्ठित
बौद्धिक भय संशय को अतिक्रम कर
धरा स्वर्ग हो रहा शनैः विकसित !
वैसे भी सदसत् का सम वितरण
वैश्व सन्तुलन रखता नित स्थापित,
तम पर ज्योति, असत् पर सत् की जय
स्वर्णिम भव गति क्रम में अन्तर्हित !
भव विकास का सहयोगी मानव,
स्वर्ग राज्य के स्रष्टा जन निश्चित,—
दिव्य हृदय पावक से रच नव भू
मानव ईश्वर को करनी अर्पित !
अतः न क्यों तब ज्योति स्तम्भ भारत
शुभ्र निदर्शन बने धरा जन हित ?
जन-मन अन्तर्पथ आलोकित कर
भव विकास को गति दे चिर इच्छित !
ज्योति चरण वह, ध्वंस पाणि बनकर
ध्वंस यज्ञ ही में देगा आहुति,
शीश काट भव हित—वह यदि न बने
शान्ति-पीठ—होगी कर्तव्य च्युति !
उन्मेषित होकर कहता शंकर,
निश्चय-ही यह महत् परीक्षा क्षण,
आस्था-अभय, करे निज बल भारत
मंगलमय नर ईश्वर को अर्पण !
मानव आत्मा का प्रतिनिधि बन वह
जन को प्रभु प्रति आस्था दे अक्षय,

भू - जीवन प्रति श्रद्धा दे जीवित,
जड़ पर चित् की घोषित करे विजय !
अस्त्र - शस्त्र से आत्मा को अविजित
अग्नि पवन जल से बतला अक्षत—
नहीं सत्य की प्राप्ति लोक सम्भव,
केवल ईश्वर दर्शन पा तद्गत !
अमृत तत्व को कर्म - मूर्त कर ही
दे सकते उसको भू पर जीवन,
अन्तः शोणित बल से सिंचित कर,—
रिक्त नहीं तो आध्यात्मिक दर्शन !
महत् शक्ति - संकल्प चीन भू पर,
ज्योति कल्प भारत अजेय निश्चित,
कितने हिमगिरियों - से विघ्न गला
नव मानवता को होना निर्मित !
पूर्ण समर्पित करना भारत को,
निज तन - मन, भव जीवन का संचय,
विश्वात्मा का दिव्य स्पर्श पाकर
भू - पथ हो दीपित, मृण्मय चिन्मय !—
देखा कवि ने लाँघ रहा शंकर
सद् विवेक सँग काल - सत्य के स्तर,—
पथ प्रशस्त करते जो विघ्नों में
विचर सके आदर्श शनैः भू पर !
यौवन का आदर्श - प्रेम सुविदित,
व्यवहारोचित सदा नहीं वह पथ,
साम्प्रत भू - जीवन - विकास स्थिति में
हमें बढ़ाना मानव - जीवन - रथ !
बोला कवि, आसुर नृशंस बल को
आत्म समर्पण करना आत्म विलय,
अन्ध शक्ति को दिव्य शक्ति बनना—
वह विकास - क्रम - पथ में निःसंशय !
जड़ चित् पृथक् नहीं, सम्पृक्त सतत,
लक्ष्य न जड़ पर हो चेतन की जय,
बहिरन्तर संयोजित जड़ चेतन
धरा स्वर्ग में परिणत हों सुखमय !
ज्योति चरण सँग वज्र पाणि बनकर
शक्ति वज्र रख सत्य ज्योति आश्रित,
सम्भव प्रगति जटिल जीवन मग में
वज्र गढ़े पथ, ज्योति बढ़े तमजित् !
सत्व - शक्ति से दया - शक्ति, उससे
प्रेम - शक्ति पाती अन्ततः विजय,
अचित् शक्ति चित् शक्ति बनेगी जब
धरा स्वर्ग का होगा रस परिणय !

आत्मा के चित् पावक की सन्तति
भावी नर—बोला अशंक शंकर,
दो मुखड़े हों संस्कृत मानव के—
मन स्वीकार नहीं करता, कविवर!
सत्य धाम शाश्वत, अनन्त भव गति,
सित आदर्श यथार्थ प्रगति के पग,
सम्मोहन का स्वर्ग यही जन हित—
बोला कवि - जन—भू विकास का मग!

मनोनयन में इधर दीप्त कवि के
जन भावी का स्वर्ण शिखर उठकर
निज अनन्त शोभा प्रकाश रस से
स्वप्न - मुग्ध करता प्रहृष्ट अन्तर!
उधर धरा - मन की थी दारुण स्थिति
गहरे होते जाते संकट घन,
विगत सांस्कृतिक मूल्यों में सीमित
विविध धरा देशों का था जीवन!
मृत आदर्शों के पूजक थे जन—
स्वर्ण प्ररोहित केवल कुछ ही मन
खुले स्वर्ग के सित प्रकाश के प्रति
दिव्य स्पर्श जो कर सकते धारण!
मानवीय संवेदन से अन्तर
स्पन्दित हो उठता—जन दुख विगलित,
खग कूजित निज कुसुम क्रोड़ में भू
लिये मनुज सुत को थी अभिशापित!
कला - पीठ के रस मानस को कवि
बना शुभ्र जीवन विकास दर्पण,
खोल हृदय की ग्रन्थि—चाहता नित
ऊर्ध्व चेतना करे बहिर्विचरण!
निर्मम अणु दानव पर जय पाने
प्रीति वज्र रचता युग - कवि कोमल
आत्मा के रस स्वर्णिम पावक का,
जिसमें चिर अक्षय अजेय सित बल!
नव्य चेतना थी स्वर्गिक पावक,
जिसमें तप, हो स्वर्ण - द्रवित जन - मन,
जाति - धर्म - वर्गों का भू - मल धो
ढलता मानवता में बन पावन!
नव वसन्त - सी ही जीवन आत्मा
ज्योति प्रीति आनन्द सार ऋतमय,
रूपान्तर कर मानव का नखशिख
मुकुलित होती शोभा में अक्षय!

शुभ्र चेतना के रस स्पर्शों से
कल्मष मंगल में होता परिणत,
स्थूल वासना सूक्ष्म प्रीति रस बन
सार्थक करती सृजन हर्ष अभिमत!
प्रेम शक्ति को अर्जित कर जन-मन
नव जीवन रचना सुख में था रत,
जन-भू-मन स्वर्गिक लय में झंकृत,—
पूर गये थे भू-उर के सब क्षत!
धरा स्वर्ग सर्जन में रस तन्मय
भार-हीन भू कर्म, काल विस्मृत,
नव क्षितिजों की शोभा में खिल मन
जीवन में करता उसको मूर्तित!
शुभ्र स्पर्श पा आत्मा का अन्तर
भव-जन-मंगल प्रति होता प्रेरित,
बीज मुष्टि में वट तरु-सा दिखता
लघु चित् अणु उर में ब्रह्माण्ड निहित!
भू संघर्षण कुण्ठित गत नर को
रहा करुण-रस सर्वोपरि कांक्षित,
प्रेम-स्वर्ग सुख-मूर्त कला प्रागण—
जहाँ रसो वै सः था आराधित!
भू जीवन इतिहास पृष्ठ लिखना
देश काल विधि का प्रत्यावर्तन,
जन्म यहाँ लेती थी नव संस्कृति
जो मानव अन्तर्विकास दर्पण!
अब विराट् स्वर्णिम मरकत प्रतिमा
कला पीठ प्रागण में थी स्थापित,
जो सत् चित् आनन्द तत्व सम्पद्
धरा प्रीति से करती संयोजित!
पुष्पराग का दीप्त छत्र सिर पर
शुभ्र स्वर्ण किरणों से था शोभित,
जीवन सत्य समग्र रूप धरकर
भगवत् विग्रह में था रस-मूर्तित!
ऊर्ध्व चेतना अम्बर का वैभव
वह भू-जीवन प्रति करती प्रेरित,
नव मानव के पथ में श्री शोभा
सृजन हर्ष, रस मंगल कर वितरित!
हलकी गहरी नीली फालसई
शैल श्रेणियों के ऊपर ज्यों स्थित
दिखता शुभ्र हिमाद्रि व्योम पट पर
दिग् विराट् भूमा—गरिमा सम्भृत—
मानस क्षितिजों को तिर, बुद्धि-सचित
सोपानों के पार दिशा भास्वर

शाश्वत ऋत चैतन्य शृंग कवि को
आत्म समाधित, अवचनीय, अक्षर!
सिर पर स्वर्णिम रश्मि छत्र दीपित
सुरधनुओं के व्योमों से मण्डित,
सित प्रहर्ष पुलकित, अनन्त अक्षय,—
प्राण वायुएँ चँवर डुलाती नित!
अन्तर अनुभव से पाया कवि ने
चिर निर्मल मूलतः मनुज जीवन,
नव प्रकाश के स्वर्ण मरन्दों से
निर्मित करना था भू - मन नूतन!
नव्य चेतना में तन्मय उर को
लगता बहिरन्तर प्रकाश - पावन,
भगवत् जीवन ही इन्द्रिय जीवन,
स्वर्ग चेतना बिम्ब धरा - प्रांगण!

वैश्व क्रान्ति यह: मानस की क्षमता
होने को निःशेष, पूर्ण अवसित,
नव्य चेतना में आरोहण कर
नव जीवन करना जन को निर्मित!
सित सहस्र दल - सा विशाल स्वर्णिम
नव भू चेतस् होता अब विकसित
शुभ्र चिदर्चि भुवनवत् सूर्य मनस्
जिसको करता रस प्रकाश मज्जित!
मन के भेदों में विभक्त थे जन
स्वर्ण ऐक्य से आत्मा के वंचित
राष्ट्रों देशों के लघु वृत्तों में
मनुष्यत्व था बन्दी, भय शंकित!
नयी दृष्टि से जीवन सुविधा हित
हो सकता जन - भू का नव वितरण,
सत्व मोह भू - मन का था बाधक,
मनुजोचित था सहज न संयोजन!
आत्मा के मूल्यों पर हँसता मन
ढोंग विश्व एका के आयोजन,
नर जब तक होगा न सत्य प्रतिनिधि
भव गज का सम्भव न ग्राह मोचन!
वस्तु, वस्तु जग पर मन न्योछावर
भाव जगत में भय संशय विप्लव,
जड़ बनता जाता, चैतन्य रहित
भाव - वस्तु सन्तुलन - हीन मानव!
भू - जीवन का केन्द्र मनुज ईश्वर
अभी नहीं बन सका—ऐक्य - मूर्तित,

भू राष्ट्रों के स्वार्थ,—घृणित, बौने—
किये धरा उर को विषाक्त, खण्डित !
जीवन के प्रति सहज न आकर्षण
कुण्ठाग्रस्त विपण्ण धरा प्रांगण,
हो भौतिक ऐश्वर्य प्रचुर जग में—
संशय भीति अनास्था पीडित मन !
सृजन प्रेरणा शून्य आज दर्शन
रूढि स्तूप गत-धर्म, कूप दिग् भ्रम,
मानव को चाहिए विश्व संस्कृति
वसुधा बने कुटुम्ब, मिटे भव तम !
गौरव विभव प्रदर्शन के शुभ दिन
बीत चुके, कहता द्रष्टा कवि-मन,
मनुज चेतना के विधान का अब
करना सूक्ष्म निरीक्षण, अनुशीलन !
व्यक्ति महत्ता केवल बिम्बित भ्रम
महिमा ईश्वर का गुण निःसंशय,
सहज भद्रता ही मानव भूषण
जो समानता की पोषक निश्चय !
महत् उन्नयन हित जन के प्रतिक्षण
कृच्छ्र यत्न करना अब श्रद्धार्पित,
दान, त्याग, नेतृत्व—अहं द्योतक,
नम्र, कर्म रत रहना नर को नित !
ईश्वर साक्षात्कार मनुज मन को
मनुज ऐक्य ही के जग में सम्भव,
आत्मा का प्रतिनिधि हो भू-मानव,
अन्तर्जीवन का हो सित वैभव !
पूर्ण हृदय में आस्था हो—जग के
द्वन्द्वों को जो करे ऐक्य-योजित,
भव विकास पथ में नित मानव को
अन्तः सुख से करे ऊर्ध्व प्रेरित !
काम ग्रन्थि का अतिशय उत्सर्जन
युग की केवल क्षणिक विवर्तन स्थिति,
शोभा सृजन, धरा जीवन प्रति रति
यही काम का रजत मूल्य, अथ इति !
मदन दहन के पूर्व धृष्ट स्मर ज्यों
शंकर को करता समाधि विचलित,
मधु मादन सौरभ, कल कूजन से
दिशि क्षण को कर नव वसन्त कुसुमित !
राग उन्नयन की मधु वेला में
जैव मूल्य करते जन को पीड़ित,
शुभ्र प्रीति, भू-शोभा रचना में
उसको अब होना समग्र विकसित !

साध्य नहीं विज्ञान, मात्र साधन,
बोध साध्य का जन हित आवश्यक,
मानव आत्मा के जीवन के हित
निर्मित यह जग,—प्रकृति नहीं बाधक !
भव का आध्यात्मिक विधान निश्चित,
आध्यात्मिक एकता अमिट जन बल,
उन्मद भौतिक जग को कर शासित
हो आरूढ़ जगत् जीवन मंगल !
चित् प्रकाश का कण मानव आत्मा
रस प्रहर्ष, श्री-शोभा में पोषित,
ऊर्ध्व प्रगति के बिना धरा जीवन
दारुण समदिग् दैन्यों से शोषित !
श्री समृद्ध साम्प्रत भौतिक जीवन
समदिक् संकट का कर्दम प्रांगण,
आत्मनाश के हित युगान्ध मानव
उद्यत—अन्तर्दृष्टि शून्य, बर्बर !
जग-जीवन से कर वियुक्त प्रभु को
पूज रहा कब से छाया को नर,
कवि को लगा—स्वयं लेटा भू पर
साँस ले रहा हो विराट् ईश्वर !
सहसा ज्यों खुल गये दृष्टि बन्धन
देखा कवि ने तृण तरु खग मृग में
व्याप्त—चराचर मे समस्त शाश्वत
चलता नित जन-भू विकास मग में !
बोल उठा कवि-मन—भव गति-क्रम ही
प्रभु की जीवन-गाथा—रामायण,
सृष्टि व्यथा या कथा छोड़ जन-मन
कहाँ खोजता प्रभु के पद पावन !
पुरुषोत्तम का लीला क्षेत्र जगत
बहिर्मूढ़ बहुमुख मन ही रावण,
भगवदैक्य स्थापित कर युग मन में
पुनः अवतरण करते प्रभु नूतन !

देखा कवि ने भू-उर से जगते
नग्न क्षुधातुर दैन्य-ग्रस्त जन-गण
जाति-पाँति बहु धर्मों में खण्डित,
पिपीलिकाओं-से असंख्य चित् कण !
जीर्ण सभ्यता के खँडहर से कढ
छायाकृति जर्जर मन भू-जीवन
नव मानवता के चित् सागर में
नव शोभा में करता अवगाहन !

लुंजित पुंजित, कूप वृत्ति कुण्ठित—
नव्य संगठित हो गत जन-भू मन
नव स्वभाव गुण रुचियों में कुसुमित ! प्रकाश भास्वर
निर्मित करता भव संस्कृति प्रांगण ! अनन्त प्रहसित
कल्प सूर्य का चि' भर—मन को
हीर पद्म दल-सा ा रस मज्जित !
स्वर्ण चेतना सौर
करता नव मधु स्रो
मानव भावी के सित वैभव से
था अन्तश्चैतन्य कलश पूरित,
नव भू-जीवन रचना मंगल में ल धरा जन मन
हो उठता जो श्री-शोभा मूर्तित ! अब परिवर्तित,
देखा कवि ने निरि- गोलक शोभित
संस्कृति प्रांगण में वैभव विरचित !
स्त्री-उरोज-सा भू
जीवन मांसल—अणु
स्वर्गिक शोभा चलती - जन भू पर
उच्च भावना गरिमा से मण्डित,
नव मानवता की प्रतिमाओं--से र गया था छिप
कला-केन्द्र के युवति-युवक संस्कृत ! व्याप्त मन में,
चित् शोभा में रूा सा भू-जीवन
मात्र प्रीति आलोक ाश्वत क्षण मे !
सागर मे लहरों -
गति स्पन्दित रहता श
जिज्ञासा का भ्रमर गन्ध - तन्मय
पैठ गुह्य भुवनों में अन्तरतम
गूंज प्रीति रत, सित सुमनों का मधु युवक रखते
संचित करता, हर-तन-मन का भ्रम ! नर कर गुम्फित,
नये धर्म की नींव श्रम मंगल से
स्वर्ण प्रीति में स्त्री - कर स्थापित !
शुभ्र ऐक्य, रचना -
अन्तः शान्ति धरा पर
फैल शिशन सुख अब मन प्राणों में
शोभा सर्जन हित करता प्रेरित,
चित् प्रहर्ष मन को नव भावों के स्वर्णिम किरणें
सित रस-सागर में करता मज्जित ! मरकत अन्तर,
नव्य चेतना की रीतिमा में गूंथ
बेध विश्व नर का दिग् सुन्दर !
जन - भू - जीवन ह
युग प्रभात में हँसती
शोभाओं के सूक्ष्म क्षितिज खुलते
उच्च प्रेरणाओं से दिग् भास्वर,

मानवता के सागर संगम में
अभिव्यक्ति पाता जीवन - ईश्वर !
वैज्ञानिक श्रम से, विकसित चित् से
क्षुधा काम संघर्षण पर पा जय
राष्ट्र वर्ग से निकल विश्व मानव
मनुष्यता का देता नव परिचय !
मंगल तत्व प्रतिष्ठित पृथ्वी पर,
द्वन्द्व शून्य, चैतन्य दीप्त भू - मन,
रोग शोक दारिद्रय दुःख भय से
शनैः मुक्त होता जीवन प्रांगण !
मुक्त प्रेम अन्तर्मन द्वारों को
नव प्रकाश भुवनों में खोल अमर
नव्य मूल्य देता भू - जीवन को
प्राकृत नर को कर रस संस्कृत नर !
रवियों के रवि की सित किरणों से
झरता जो स्वर्णिम प्रकाश निर्झर,
प्रीति चेतना वह—समग्र जीवन
चित् पावक शोभा से जाता भर !
राष्ट्रिय स्पर्धा में रत अधिनायक
मानव जीवन - गरिमा प्रति जागृत,
नव मानव के सम्मुख नत मस्तक
निज दारुण दुष्कृत्यों प्रति लज्जित !
सैनिक राज्य न करते अब शासन
अणु रचना - मंगल में था योजित,
राष्ट्र कूप से निखर विश्व सत्ता
नव भू - मानवता में थी मूर्तित !
धिक् उस जग को, घृणित शक्ति का मद
जहाँ मनुज को रखता हो त्रासित,
असुर सभ्यता—शान्ति न्याय पथ से
जगत कर्म हों जहाँ न सम्पादित !

व्यक्ति शक्ति की भंगुर सीमाएँ
हुईं एक दिन कवि - मन में भासित,
धरा स्वर्ग का रस संस्कृत जीवन
स्वतः हो रहा था पावक - विकसित !
युवति - युवक जन का अन्तर्जीवन
सूक्ष्म चेतना वैभव से पोषित
अतिक्रम करता अब कवि चेतस् को
निज स्वर्गिक शोभा से दिङ् मुकुलित !
सुलभ न कवि को थीं संस्कृत स्थितियाँ
जब वह था अविकच किशोर कुड्मल,

नव आध्यात्मिक युग को यह गौरव
वन प्रसून बन सका पक्व रस फल !
दिया चेतना ने निगूढ़ इंगित
केन्द्र न हो व्यक्तित्व छन्न निर्भर,
अन्तः सत्यों के विधान पथ पर
दृढ़ व्रत रह वह बढ़े उत्तरोत्तर !
दिग् जाग्रत धरणी ही को घीरे
संस्कृति प्रांगण बनना श्री-सुन्दर,
केन्द्र स्वल्प उपक्रम भर—निखिल जगत्
मनुज हृदय का स्वर्ग बने सुखकर !
युग-भू-जीवन-स्थितियों से प्रेरित
ज्योति पीठ वह भू पर अब स्थापित,
राजनयिक जीवन रण का कर्दन
संस्कृति शोणित करता अवगाहित !
विविध कला-पीठों से जन-भू के
भाव विभव का मिलता सित परिचय,
मानवता को अभिषेकित करने
स्वर्गिक पावक का होता विनिमय !
विश्वात्मा को नमन किया कवि ने
जगत सृजन-आनन्द छन्द झंकृत,
नव पीढ़ी बन ज्योति शिखा वाहक
धरा स्वर्ग रचना प्रति हों अर्पित !

एक साँझ हँसता नभ में नव शशि,
मैं'री आयी युग-कवि से मिलने,
परदेशी युवती, शोभा सरसिज,
बनी—दूरस्थित रवि कर से खिलने !
आस्था, प्रीति—सभी आधारों मे,
स्वर्ग पीठ प्रति थी वह सित अर्पित,
सरल हृदय था मनुज-प्रीति-शतदल,
जन-भू मंगल स्वर्ण रेणु सुरभित !
स्वर्गिक बाँहों में बाँधा कवि को
उसने दे अन्तः सुख आलिंगन,
डूब गया शोभा प्रहर्ष रस की
शुभ्र गहनताओं में कवि का मन !
कवि न स्पर्श करता छात्राओं को
रस पात्री थी यद्यपि वे संस्कृत,
उपचेतन था अभी न ज्योति द्रवित
देह-बोध था निस्तल में संचित !
एक बार नव मुग्धा ने उसको
किया फूल बाँहों में था वेष्टित,

स्वीकृत किया न कवि ने भाव प्रणय
देह नही थी शुभ्र प्रीति अर्पित !
मैरी को पा महाभाव मे आ
लौटा कवि उसके सित चरणों पर
गड़ा शीश उन पावक - कमलों पर
मातृ प्रीति से दिया शुभ्र उर भर !
आत्म - मुक्त, तन्मय मैरी तत्क्षण
भू - गुरुत्व से उठ, हो अन्तः स्थित,
(भाव वाष्प पड़ते दृग से झर - झर !)
हुई स्वर्ण चेतना ज्योति मज्जित !
भावात्मा दे विनत आत्मजा को—
स्वर्ग स्वप्न से भार - मुक्त अन्तर—
उसे छोड तद्गत स्थिति में चुपके
हुआ कक्ष से कवि द्रुत गति बाहर !
और उसी क्षण छोड़ केन्द्र प्रांगण
अन्तर्धान हुआ वह चिद् वन में,
बढ़ता रहा पथिक शाश्वत पथ का
कार्य समापन कर भव जीवन में !
अमित चेतना पथ अन्तर्विस्तृत
ज्योति द्वार पर ज्योति द्वार भीतर,
संचय करता वह आरोहण मे
सहपथिकों हित रस पाथेय अमर !
परम प्रेम सत्ता में हो तन्मय
कर सत् चित् आनन्द लोक अतिक्रम,
रस पावक पी, हुआ बोध कवि को
दिव्य प्रेम ही विश्व प्रेम उद्गम !
कलुष धूलि शूलों के आसन पर
बैठा था सित प्रेम सृजन - पुलकित,
रस प्रहर्ष - बाँहों में भर जग को
पाप ताप सब कर प्रतीति प्रशमित !
हृदय परात्पर हर्ष स्पर्श कम्पित
भक्ति प्रणत कवि चित् रस में तन्मय :
भू - रचना हित नर जीवन अर्पित,—
आत्मा का ईश्वर से ऋत परिणय !
यह वैयक्तिक परिणति थी उसकी
स्रष्टा के प्रति रस कृतार्थ था मन,—
अमृत यौवना विश्व - चेतना का
कला - पीठ था केन्द्र,—स्वर्ग दर्पण !
मैरी हो प्रकृतिस्थ सोचती थी
अपने ही अन्तः सुख मे तन्मय,—
(वंशी की अनुपस्थिति में भी वह
वंशी ही की आत्मा में थी लय !)

स्वर्ण हरित यह कैसा पागलपन
अनुभव करता अब दीपित अन्तर,
अमृत प्रीति से छू तुमने उर को
ज्योति मरन्द दिये सित उसमें भर !

व्यक्ति नहीं तुम प्रेम - चेतना भर,
देख रही तुमको बाहर भीतर,
हीर द्वार मेरे अन्तःपुर के
खोल दिये तुमने शोभा भास्वर !

मैं जिन आदर्शों को थी लायी
तुमने निज पावक - कर से छूकर
बहा दिया जाने उनको कैसे—
प्रेम न यह—तद्गत प्रकाश - सागर !

पागलपन यह अन्तः शुभ्र, अकथ,—
केवल तुम हो, केवल तुम, सुन्दर,
नाच रहे सित अन्तः संगति में
मेरे तन - मन प्राण—नि.स्व होकर !

भावमूर्ति देखी उसने कवि की
शुभ्र शान्ति प्रतिमा था उसका तन,
शोणित मे था दिव्य हर्ष झंकृत,
प्रीति—हृदय में रस-स्पन्दित प्रतिक्षण !

दीप्त कनक त्वच, जीवन चिर अर्पित,
दृष्टि अलौकिक सुन्दरता में लय,
सुनती श्रुति संगीत भाव नीरव,
शब्द अर्थ का स्वर्णिम रस परिणय !

स्वर्ण नील - सी छहरी चूर्ण अलक,
मनुष्यत्व का—मुख भावी दर्पण,
सुरबाला - से तुम सुन्दर कोमल,
मानस ज्योति - सरोवर ऋत - चेतन !

छूने में संगीत, सूँघने में
तुम प्रहर्ष सौरभ मरन्द विरचित,
आलिंगन में शुभ्र प्रेम तन्मय,
धरा - स्वर्ग सुख में अन्तर झंकृत !

उषा लालिमा मैं, हरीतिमा भी,
चन्द्र कला, नीलिमा - दृष्टि अम्बर,
सित निर्बन्ध सुरभि, समीर वेणी,—
मै समग्रतः तुम पर न्योछावर !

तोड़ रजत घट क्वारे मानस का
बहा शुभ्र पीयूष ज्योति निर्झर
किन नव क्षितिजों में, नव भुवनों में
खोल दिया तुमने मेरा अन्तर !

कैसे जग इस तिग्म प्रेम का सुख
आत्मसात् कर पायेगा अक्षय,

रस प्रकाश यह, प्रीति मुक्ति प्लावन,
पागलपन, दिव पागलपन निश्चय!

तुम क्या हो, कवि, जान गयी अब मैं,
मर्त्य वेणु में स्वर्ग प्रीति की लय,
नव जीवन संगीत विश्व उर में
भरने आये—जन भू मंगलमय!

बोध - स्पर्श की तन्मयता से जग
शान्त हुआ धीरे मेरी का मन,
देखा उसने—वहाँ न था युग - कवि,—
उसे खोजने मूँद लिये लोचन!

उच्च गहनतम चित् स्रोतों में न्हा
वह अब थी हो चुकी अग्नि पावन,
तन्मय था हो चुका परात्पर में
शाश्वत रस दीपित सित जीवन क्षण!

देखा प्रातः छात्रों ने आकर
कक्ष रिक्त था, कवि अन्तर्गोचर,
शेष पीत - सित पुष्पों के कुछ दल—
प्राण गये द्रुत सूक्ष्म सुरभि से भर!

द्वार खोलते,—चित्र शलभ, खग बन,
पंखड़ियों के पंख मार निःस्वर
गये फूल भी उड़ चिद् अम्बर मे,
देखा सबने गूढ़ दृष्टि पाकर!—

देह न था कवि—धूपछाँह वेष्टन,
स्वर्ण शिराओं में ऋत रस शोणित,—
प्राणों में गूँजती सृजन स्वर लय,
अन्तर में लिपटे सुरधनु अगणित!

चकित स्तब्ध थे छात्र!—तभी सहसा
कवि को कभी मिला इंगित गोपन—
यान भ्रष्ट अणु बम से सुन्दरपुर
ध्वस्त हो गया—भर विदीर्ण गर्जन!

ज्ञात नहीं, फिर कला - केन्द्र का क्या
अन्त हुआ,—संक्रान्ति काल दुर्वह,
ज्योति द्वार मानव उर में शाश्वत
भगवत पीठ धरा पथ···चिद् विग्रह!

प्रेम - स्वर्ग खिल स्वप्न - पंख मृदु पलकों पर सित,
अधिक पूर्ण बनने फिर फिर होता अन्तर्हित!

अमर चेतना, अचिर रूप, शाश्वत रस परिणय,
सृजन हर्ष अक्षय पथ विघ्नों पर पाता जय!

उत्तर स्वप्न

(प्रीति)

सहज बोध ! जीवन कृतकाम
उत्तर स्वप्न न, सत्य ललाम !
रस संस्कृत जन, भू स्वर्धाम,
मुक्त प्रकृति अब, प्रीति अकाम !

अब प्रकृति मुक्त, निष्काम प्रेम, शोभा भू पर चलती निर्भय,
मन सहज बोध से उन्मेषित, सित प्रकृति पुरुष का रस परिणय !
भू स्वर्ग, स्वर्ग भू में परिणत, जन हृदय-बुद्धि ऋत संयोजित,
आत्महन, सभ्यता ध्वस्त,—विश्व सांस्कृतिक पीठ हित संरक्षित !

आंशिक अणु रण क्या हुआ, देव ! कब बदल गया भू मानस पट !
उच्छ्वसित चेतना सागर से फिर निकल रहा नव जीवन तट !
सम्भव हो सका न पूर्ण ध्वंस मध्यस्थ बनी चेतना नवल,
स्पर्धा हिंसा भय कर्दम से जग, नव प्रबोध का खिला कमल !

गत ह्रास नाश विघटन का तम जाने कब लीन हुआ कट-छँट,
नव युग स्वर्णोदय मुसकाता खग मुखरित फिर जग अक्षय वट !
बीते दशकों पर दशक शनैः जन नव जीवन करते निर्मित,
पथराया भू-मन हुआ चूर्ण, उर सृजन प्रेरणा प्रति अर्पित !

मानव उर सत्य हुआ विजयी नव लोक एकता कर स्थापित,
निखरी देशों राष्ट्रों से भू नव विश्व चेतना अनुप्राणित !
चित् स्वर्णिम सित स्वर तार सँजो प्राणों की तन्त्री में नूतन
रस तन्मय कवि उर झंकृत कर वाणी गाती उत्तर जीवन !

अब कला-केन्द्र मधुमय स्मृति भर, उस दारुण क्षण से बच कुछ जन
आये प्रशान्त हिम प्रान्तर में—कवि शैशव-स्वप्नों का प्रांगण !

गत भू - जीवन मन की भाखन अनुभूति हृदय में संचित कर
हिमगिरि अंचल में मेंरी ने जन लोक बसाया लोकोत्तर !

गत कला केन्द्र मृद् पात्र न था वह था चैतन्य अमृत सागर,—
रस संस्कृत आधारों को पा फिर मूर्त हो उठा सत्य अमर !
मेंरी कहलाती संयुक्ता, लोक - प्रिय अब उसका आश्रम,
दे लोकायतन उसे संज्ञा जन रचते नव जीवन उपक्रम !

अब निकट प्रकृति के थी संस्कृति जीवन अपने में पूर्ण स्वयम्,
अन्तश्चिति से संयुक्त हृदय, आलोकित भू-पथ का दिग् भ्रम !
शृंगों की आधी छाया में फूलों की घाटी मे सुन्दर
वह अधिष्ठान था शान्ति पीठ जीवन सक्रिय, अन्तर-उर्वर !

अब साठ सुधा घट शरद् बिता संस्कृति मरन्द मधु में पोषित
लगता फल - सा रस पक्व अतुल —मन से किशोर, तन से पुलकित !
नभ में खोये पर्वत उसके तन्मय उर में भरते विस्मय,
अनिमिष रखते नयनों को नित शशि की असि, सूभ्रू स्वर्णोदय !

वैदिक ऋषिवत् ही देव-कल्प लगते उसको जल अग्नि पवन,
क्षण पुट में शाश्वत, सीमा में मिलते असीम छवि के दर्शन !
पावन थी भू, पावन जीवन, चिर पावन मानव का तन-मन,
सर्वत्र ब्रह्म जग में व्यापक, वह सचराचरमय, जड़ चेतन !

अब सहज स्फुरित जगता प्रबोध भावोन्मेषित कर उसका मन,
बातें करते उससे तृण-तरु, गाथाएँ कहता गूढ गगन !
उद्भासित हो उठते सहसा अन्तर में गहन रहस्य मौन,
जाने किस स्वर लिपि में अंकित कर देता उर में सत्य कौन !

गिरि क्षितिजों की हँसमुख कोंपल भरतीं मन में बहुरँग मर्मर,
तद्गत, निसर्ग से जाने क्या - सम्भाषण करता वह निःस्वर !
घन कुन्तल फैलाये वन में लेटी तरु छाया हरती मन,—
गृह हीन प्रकृति हो माँग रही मानव से जीवन संरक्षण !

सुरधनु जल-कबरी में बाँधे शत फेन-वेणि झरते निर्झर
गिरि - धेनु - दुग्ध - धाराओं - से भाते मोती के उत्स मुखर !
जीवन तरंगिणी वह अजस्र क्या कुछ गोपन गाती कल-कल,
वह कान लगा तट जघनों पर सुनता भू-गाथा रस विह्वल !

रेशमी नीलिमा के मुख में तिरते कितने ही रँग प्रतिपल
पाटली, बेंगनी, फालसई, पीताभ, हरे—गहरे कोमल !
जाने अनन्त के आँगन में मन कब चुपके से कर विचरण,
खेलता मिचौनी शाश्वत से— धरती पर केवल रहता तन !

'पूछती बुद्धि—क्या जल, पावक, चंचल समीर, निश्चल अम्बर?
तद्गत हो—मैं ही निखिल विश्व, उल्लसित हृदय देता उत्तर!
भूमा की परिक्रमा कर मन फिर होता धीरे अन्तः स्थित,
भू - मानस क्षण में अतिक्रम कर शाश्वत का मुख करता विम्बित!

सामने खड़ा था दिग् विराट् भू स्वर्ग सेतु - सा हिम पर्वत,
महिमान्वित करता अम्बर को भू का गौरव मस्तक उन्नत!
देखा गिरि उसने प्रथम बार आनन्द सिन्धु - सा हिल्लोलित
जड़ जीवन मन की श्रेणि लांघ चैतन्य लोक हो सित शोभित!

निश्चल लगता वह शुभ्र पंख सौन्दर्य हंस उड्डीयमान,
निज सित गति के आलिंगन से स्वर्गिक दिगन्त पथ रच महान्!
देवों - सी लगती शिखर पंक्ति रवि रश्मि किरीटों से मण्डित,
ज्योत्स्ना में लगता हिम प्रान्तर स्वप्नों के ज्वारों मे स्तम्भित!

दीखा हिमाद्रि दृग विस्मय - सा भू स्वर्ग पीठ हो दिग् भास्वर,
चम्पई गेरुवी आभाएँ लेटीं शोभा - नत ढालों पर!
कँप फालसई नीहारों के फहराते रश्मि ज्वलित केतन,
चन्द्रिका व्योम से उतर मौन, धरती शृंगों पर स्वप्न चरण!

शिखरों के वक्षों में डूबा दरियों के जघनों पर मोहित,
गिरिमाला की पृथु श्रोणी पर लेटा रहता नभ सुख विस्मृत!
करती सात्विक रस भोग प्रकृति, मधुकर उड, मधु रस कर सचय,
अनजाने स्वर्ण मरन्दों से भरते कलियों के गर्भाशय!

ऊषा, शृंगों पर देख रूप, शोभा सलज्ज रँग - रँग जाती,
तृण तरु, खग मृग, हिमजल वन में स्वर्गिक सम्मोहन बरसाती!
सन्ध्या में लगते समाधिस्थ गिरि सानु मौन गरिमा मज्जित,
नैसर्गिक श्री - सुषमा का मुख हँसता निशि में तारा गुण्ठित!

लहरे कोणों, दृढ़ शिखरों की वह दृश्य पटी लगती सुन्दर,
मखमल ज्वाला - सी थी फैली नीचे मरकत द्रोणी दुस्तर!
फूलों की प्रिय घाटी रहती अगणित रंगों मे रोमांचित,
रंगों ही में जीवन शोभा, लगता, होती सगधिक मुखरित!

उड़ता पराग पंखी समीर भीनी वन सौरभ से भर मन
पर्वत प्रशान्ति को देता स्वर विहगों का भाव मुखर कूजन!
हिम वाष्पों की अलकें छहरा रवि आतप, मृदु मांसल स्पर्शी,
सद्यः प्रसन्न, यौवन उन्मुख, भाता किशोर - सा प्रिय दर्शी!

युग जीवन के प्रति उदासीन अपने ही भीतर अन्तःस्थित
व्यक्तित्व अतुल का बना प्रौढ़—निःसंशय, व्यक्ति प्रकृति अविजित!

कम्पित हरीतिमा शिखरों - से वन - देवदारु भरते मर्मर,
सम्बन्ध प्रकृति से हर्ष - गूढ़ अनुभव करता उसका अन्तर!

छू नव नारी का तन उसने आलिंगन में बाँधा तन्मय
भर भाव गन्ध से गया हृदय, पा रस - सित प्राणों का परिचय!
कैसी विमुक्ति स्त्री की शोभा बोला विमुग्ध उसका अन्तर—
वह शान्ति, शील, शुचि सहृदयता स्वर्गिक प्रहर्ष की स्वर्णिम वर!

वह था जीवन का नम्र छात्र, मन सतत सीखने को उद्यत,
गुरु ज्ञान भार से मुक्त हृदय भव वैचित्र्यों के प्रति जाग्रत्!
तिर नारी शोभा का सागर यौवन का रोमांचित प्रांगण,
निरुपम निसर्ग सुषमा प्रति अब उसके उर का था आकर्षण!

भू - श्रम विराम के लिए बना द्युति दिवस, स्वप्न निशि का प्रिय क्रम,
जल, पवन, अग्नि की पावनता भरती उसके मन में सम्भ्रम!
वह देख निसर्ग कला कौशल रहता आश्चर्य चकित अन्तर,
पा विश्व प्रकृति को दयामयी जाता कृतज्ञता से उर भर!

मृग उसे देखते मुग्ध - नयन, सचराचर का वह था सहचर,
गाते कन्धों पर फुदक विहग जगदात्मा थी उसके भीतर!
तकते रुक - रुक चरते शश - शिशु, नाचते उरग सम्मुख नत फन,
तन से सट तितली मँडरातीं, अलि कानों में भरते गुंजन!

बनते स्वर उर में मधुर गीत—सुन्दर जग - जीवन का उपवन,
खर शूलों से यदि घिरे फूल जन - भू विकास पथ में प्रतिक्षण!
शोभा प्रेमी मधुकर उड़ फिर संचय करते जीवन मधु कण,
सुन्दर कलि कुसुम, सुभग लघु खग,—सुन्दर न अभी मानव जीवन!

भावों में होता अनुवादित मन को छू कोयल का *गायन*—
पिक प्रेम दूत, शोभा ज्वाला सुलगाता भू - मन में नूतन!
सुन कुहू - कुहू पावक पुकार जल उठता कलि कोंपल में वन,
आनन्द व्यथित शोभा - प्रेमी रहते, तन - मन करते अर्पण!

यौवन प्रभात में मुग्धा पर अटके उसके अपलक लोचन,
वंशी ने उसको दे प्रबोध लौटाया उसका खोया मन!
सोचा उसने—तन का परिणय मानस जीवी के हित बन्धन,
हृदयों का परिणय हो जग में उद्यत न अभी जन - भू - जीवन!

शोभा पहिले, फिर रूप यष्टि, तन की छवि में रहना सीमित
यह जीवन - आत्मा की हत्या,—वह हुआ काम मति पर लज्जित!
खो रूप - देह का मोह - स्पर्श पाया उसने शोभा का जग
वह शोभा द्रष्टा था निश्चय, शोभा प्रेमी हित भू असि - मग!

चैतन्य स्वप्न को युग - कवि के श्रद्धा अर्पित कर जीवन मन
प्रस्फुटित हुआ उसके उर में धीरे भावी जीवन दर्शन!

हत काम वन्दिनी शोभा के खोले भू - मन स्वर्णिम श्रृंखल,
सित प्रेम पीठ बन सके धरा, मुख मनोराग का हो उज्ज्वल !

धिक् संस्कृति, जिसमें युवति-युवक कर सकते मुक्त न प्रेमार्पण,
धिक् जग, जिसमें न वयस्क श्रथक जन मंगल श्रम में रत प्रतिक्षण !
जिसमें प्रवयस् भव दर्पण में देखते न ईश्वर का श्रानन,
शिशुश्रों के हित जो भू प्रसन्न उन्मुक्त न धिक् क्रीड़ा प्रांगण !

सौन्दर्य प्रेम श्रानन्द जहाँ करते स्वच्छन्द नहीं विचरण,
फहराता ऊर्ध्व न शान्ति केतु, निर्भीक जहाँ न मनुज का मन !
शिक्षित, विनम्र, जिज्ञासु जहाँ कैशोर न बरसाता कलरव,
श्रपलक यौवन के नयनों में स्वप्नों का नहीं श्रनन्त विभव !

उस भू का करना रूपान्तर निर्मित कर सित श्रन्तर्जीवन,
समदिग् भव संकट श्रतिक्रम कर धरने मानव को ऊर्ध्व चरण !
चेतन विकास की बागडोर नर को श्रपने कर में लेकर
संचालित करना जीवन - रथ विचरे भू - पथ पर स्वर्ग उतर !

श्रति दर्शी था क्या युग चारण, सोचता श्रतुल मन में शंकित—
श्रानन्द प्रीति सौन्दर्य स्रोत होते जीवन निधि में श्रवसित !
सित प्रीति काम से नहीं पृथक् मन - भू जीवन ही का दर्पण,
सम्भव न सर्वगत मनोन्नयन रस शुद्ध न यदि जीवन प्रांगण !

सम्भव कवि का था यही लक्ष्य जीवन से बिलग नहीं ईश्वर,
इन्द्रिय हो श्रात्मा की गवाक्ष, हो धरा स्वर्ग ही प्रभु का घर !
रस हवि संस्कृत हो काम वह्नि, उन्मुक्त प्रीति रत नारी - नर,
तृष्णाश्रों के कृमि कर्दम से चैतन्य पद्म निखरे ऊपर !

सांस्कृतिक उन्नयन हित भू के उसने निज प्राण किये श्रर्पित,
जग दिव्य भावना मे जीवन - सौन्दर्य हुश्रा उर में विकसित !
मन नव्य चेतना में रहता—नव भू - जीवन जिसका दर्पण,
श्रन्तर्मुख भावी जीवन पथ, जन सागर चित् रस का लघु कण !

जीवन प्रेमी था निश्चय कवि, जीवन ही में ईश्वर तद्गत,
जीवन - भंगुरता के पथ पर श्रमरत्व बिछा, चलता शाश्वत !
जड़ को निज पावन पीठ बना भू - मन के खोल मुँदे लोचन
श्री मासल जीवन - दिक् - पट पर हँस धरे काल गति - शुभ्र चरण !

मन श्रहं भेद मति में सीमित कर सका समग्र न परिशीलन
जग, ईश्वर, प्रकृति, पुरुष, इह पर—मूल्यों का भ्रान्त हुश्रा वितरण !
पथ संकट, भव बाधा निरुद्ध उर, राग द्वेष भय से पीडित,—
कुल जाति वर्ण - गत स्वार्थों में हो गया धरा जीवन खण्डित !

कुण्ठित मन जग के प्रति विरक्त श्रन्तः शिखरों पर कर विचरण
खो गया ऊर्ध्व में श्रटक मौन सित चित् प्रहर्ष में कर मज्जन !

बहिरन्तर, ऊर्ध्व अधः, इह पर, हो सके न जग में संयोजित,
जीवन - ईश्वर को मूल—मूढ़ नर चिच्छाया के प्रति अर्पित !

ईश्वर के चिन्तक नहीं साधु वह ऋद्धि सिद्धियों के अनुगत,
वे ज्ञान मुक्ति वैराग्य पथिक असि योग साधते तप व्रत रत !
निश्चय वे ही प्रभु के प्रेमी जो जीवन में उसका आनन
देखते,—उसे मंगल मूर्तित करने, रचते जन भू प्रांगण !

आध्यात्मिक सत्यों के बल पर सम्भव न धरा का रूपान्तर
जब तक न बहिर्जग की आकृति बदले मानव मंगल हित नर !
नव मूल्यों से रच मानव जग, गत मनोदृष्टि को कर विस्तृत
ईश्वर को भू - जीवन - पट में करना जन को चेतना ग्रथित !

रस शुद्ध न हो जब तक भू - मन श्री - शोभा मांसल भू - जीवन
अन्तः गरिमा प्रति जाग्रत् जन,—प्रभु योग्य न तब तक भव प्रांगण !
सित प्रीति ग्रथित नर - नारी उर जब तक न करे प्रभु मुख बिम्बित
तब तक मनुजोचित नहीं धरा, निज मनुष्यत्व से नर वंचित !

समरस स्थिति में ही अटक ऊर्ध्व सम्भव न बहिर्मुख विश्व प्रगति,
बहु रस वैचित्र्यों के भीतर मानव जीवन की सत् परिणति !
सम विषम न वह, बहु एक न वह, सापेक्ष्य मान भर ये निश्चित,
सम विषम, एक बहु से अतीत, सम विषम एक बहु में मूर्तित !

संलाप प्रकृति करती उससे सांकेतिक वाणी में निःस्वर,
वन मर्मर में पा निखिल - स्पर्श बज उठती हृत्तन्त्री थर - थर !
गिरि कोयल कहती—कुहू - कुहू, तरु नभ से धरती पर आकर—
पशु पक्षी से क्या मनुज सभ्य गढ़ सौध नगर जन पथ सुन्दर ?

रच धर्म नीति संस्कृति दर्शन क्या सुखी सुज्ञ मानव जीवन ?
बहु जाति वर्ण वर्गों में बँट संघर्ष क्षेत्र जन भू प्रांगण !
क्या नव वसन्त रस स्पर्शों से रोमांचित होता उसका मन ?
भू शोभा का मंजरित ज्वार भरता तन प्राणों में स्पन्दन ?

क्या मुक्त गन्ध - आनन्द स्पर्श सुलगाता प्राणों का यौवन ?
मिटता अन्तर का सूनापन जब मुकुलित होता पतझर वन ?
कट, विश्व प्रकृति से, निज में रत, वह महत् प्रेरणा सुख वंचित,
मैं मुखर सही, पर सत्य यही मानव न अभी पशु से विकसित !

मैं विश्रुत चातक, विरह विहग, सित प्रीति स्वाति रस का प्यासा,
जीवन मृत वे, वर्जन निष्क्रिय, जिनके न हृदय में अभिलाषा !
पी कहाँ ? पी कहाँ ?—कह जन में उपजाता शाश्वत जिज्ञासा,
वह घट - घट वासी—कहती ध्वनि व्यंजना गूढ़ कविता भाषा !

यदि निर्मम प्रेम हृदय,—जग में वह सचराचर उर की समता,
सित विरह,—मिलन का स्वर्ण निकष, पर, मृत्यु—घृणा की निर्ममता !

कटु राग द्वेष से कहीं महत् रस प्रीति व्यथा व्रण का जीवन,
सुख वैभव के मद से वरेण्य अपलक - दृग प्रेम - प्रतीक्षा क्षण !

कानों में भर भीनी भन - भन वन से आकर कहते मधुकर—
सामाजिकता का गर्व तुम्हें, गुण में चींटी से निपुण न नर !
हम भी रचते मधु स्वर्ण छत्र, तुम उसे कहो घर, मधुप नगर,
वह नर समाज से भी सुगठित जिसमें रहते मिल नारी - नर !

चुन मधुर फूल, तज प्रखर शूल, मधु चक्र सँजोते अलि सुन्दर,
वे जीवन शिल्पी, भू श्रम रत, सुन्दरता के स्नेही सहचर !
भू गरल छोड़, मधु संचय कर, गुण का करते जग में आदर,
वन - फूल - उपेक्षित शोभा का मुख चूम—प्राण करते उर्वर !

मुख - गन्ध अतुल को पिला मधुर बोले अपलक दृग सरल फूल—
हम शोभा पावक के स्फुलिंग छाये वन उपवन में अकूल !
उर सौरभ से भर भू आँगन हम स्मित अर्पण के क्षण पावन,
देखती हमारे दर्पण मे जीवन सुन्दरता निज आनन !

भू शोभा के सन्देशवाह, शाश्वत प्रहर्ष के मुकुलित क्षण,
गाता सौन्दर्य शिराओं मे बहुरंग - ज्वाल नव भू यौवन !
हो फूल - सुघर जन जीवन मुख श्री - सुषमा के प्रति उर चेतन,
शोभा - विहीन भू जीवन मन ज्यों दृष्टि शून्य तम - कूप नयन !

द्रुत उछल वारि से चटुल मीन कहती, तट पर रुक कर क्षण - भर,
किस बौद्धिक मरु में भटक रहा, धिक्, छल मृगजल के पीछे नर !
ऐसा क्या सुलभ न कुछ जग में ज्यों मीनों के हित जल अंचल ?
मानव जीवन की श्वास प्रीति—जो कर सकती जन - भू मंगल !

वह भाव - मुक्ति जो बौद्धिक को दुर्लभ,—रह शोभा प्रीति लीन
जग मे रह सकता मनुज सहज ज्यो निस्तल जल में मुक्त मीन !
चित् रस निर्मल जीवन - सागर, जल - सा अकूल सित मनुज प्रेम
तट डुबा, करे जन मन प्लावित—इसमें ही मंगल, योग क्षेम !

जल के कोमल वक्षःस्थल में छिप गयी मीन फिर रस प्यासी,
जल से ही भूतल पर आये स्थल जीवन को दे शुभ आशी !
बोला कानन मृग—सींगों से सहला वन सखा अतुल का तन,
पशुओं को डरा, अहेरी नर क्या जीत सका भू - जीवन - रण ?

क्रीडा प्रिय वन जीवन विमुक्ति मुझ मे छलांग भरती निर्भय,
फिर भी सुन सहसा वंशी रव मैं रहता चित्र लिखित तन्मय !
यह प्रेम सृष्टि, सचराचर सँग रहना जो सीख न पाया नर,
तब वृथा ज्ञान,—बन हृदय - हीन वह कैसे देखेगा ईश्वर ?

वन कहता—मैं शैशव प्रांगण, मुझमें ही खेले - कूदे जन,
सब एक सूत्र में बँधा हुआ तृण तरु, कृमि खग, पशु नर जीवन !

वन छोड़—न वन युग बर्बरता नर छोड़ सका, चिर रण तत्पर,
नख पुच्छ शृंग वंचित पशु वह, कहता इतिहास—न पशु से वर!

कानन जीवन ही में उसने छूए थे अन्तः ज्योति शिखर,
बृहदारण्यक उसकी तप रत भगवत् जिज्ञासा से भास्वर!
जिस अन्तरिक्ष में कूद - फाँद नभ शाखा मृग अब वह गर्वित,
उससे विराट् वे अन्तरिक्ष जो देखे उसने ध्यानस्थित!

फिर आमन्त्रित करता नर को मैं मरकत छाया प्रांगण में,
वह बहिर्जगत में खोया अब, उसका प्रकाश उसके मन में!—
सुनता था अतुल प्रकृति के स्वर वह थी विकास कामी निश्चित,—
मानव को ले नव ज्योति शिखा जीवन - पथ करना था ज्योतित!

बोला हिम शिखर—किरण किरीट मस्तक का भू चरणों पर धर,
मैं ऊर्ध्व दृष्टि से देख रहा जो भंगुर वही अमर अक्षर!
निर्गुण असंग अन्तः स्थिति से मैं देता जन को आश्वासन—
मुझको अपने से भी चिर प्रिय जन - धरणी का मरकत प्रांगण!

आनन्द रूप मैं हूँ अपूर्ण, मैं स्वतः एक से बहु बनकर
इन्द्रिय मांसल भू - जीवन मे रस मूर्त—सत्य शिव से सुन्दर!
आत्मा केवल मेरा दर्पण—जीवन मेरा शाश्वत आनन,
मैं आत्म - बोध हित मुड़ क्षण - भर करता उसमें अपने दर्शन!

आत्म स्थित भी—जन - भू ही का मैं शिखर—नहीं इसमे संशय,
था मात्र शून्य—दिक् काल न विधि, मैं तुम न, जगत न, जगत् आश्रय!
ले प्रेम वेणु छेड़ी मैंने रस तन्मय विश्व सृजन की लय,
मैं प्रकृति पुरुष बन, महत् बुद्धि,—अब जड़ चेतन - मय जीवाशय!

बहु सोपानों में विचर उतर साकार हुआ मैं जीवन मे,
पर्याय उभय हम,—यह निश्चय, देखोगे तुम तद्गत क्षण मे!
यों कह फिर मौन हुआ शृंगी, अम्बर मे गयी प्रतिध्वनि भर,
गूँजा अनन्त—यह सत्य!—तड़ित् रुचि से नव श्रुति ऋक् लिख भास्वर!

बोला आनन्दित अतुल—धन्य! पर, मुझे तुम्हारे शुभ्र शिखर
आकर्षित करते ऊर्ध्व प्राण—तन्मय रहता मेरा अन्तर!
अनुभव करना मुझको उर में उस महानन्द का स्पर्श महत्,
जिसके प्रतीक तुम आत्म - मग्न, जिसका क्रीड़ा स्थल निखिल जगत्!

होकर अनन्त में लीन मुझे शाश्वत मुख के करने दर्शन,
स्वर्णिम उन्मेषों के प्रभात देखने चोटियों पर नूतन!
चाहता,—हृदय मे खोलें सित ऊषाएँ निज रस वातायन,
देखूँ निज तेजोमय स्वरूप मैं वही पुरुष जो रस पूषण!

इस भाँति, एक दिन निर्भय उर वह शिखरों पर करने रोहण
चुपके से निकल गया घर से—निज तन - मन - जीवन कर अर्पण!

निश्चय, वह भी जीवन ही का चित् शिखर, जिसे कहते ईश्वर,
चढ़ता ही गया अतुल अविरत उस ज्ञान-प्रखर सित असि-पथ पर !

वह रजत नील नीहारों में हो गया शनैः दृग से ओझल—
तब जाना उसने, वह केवल आत्मा का चिन्मय अस्थि-धवल !
लय होने से पहले सहसा देखा उसने आँखें भर कर—
अग-जग में, निखिल चराचर में, जीवन विकास पथ में ईश्वर !

पर, लौट न सका जगत में फिर वह आत्म-ज्योति का दग्ध-शलभ,
अनिवार्य ज्ञान हित लोक-कर्म कहता था नत मुख निर्जन नभ !
प्रिय सुहृदों ने की व्यर्थ खोज मिल सका न फिर उसका परिचय,
नित नाम रूप पाते विकास—यह जगत् चेतना पथ अक्षय !

चिर पावन था वह हिम प्रान्तर सम्मुख ऊर्ध्वोन्नत गौर शिखर,—
एकाग्र दृष्टि गिरि की भरती चित् शुभ्र प्रेरणा से अन्तर !
विधि ने विरचा हो निभृत अट्ट सर्जन क्रम पर करने चिन्तन,—
नीचे आन्दोलित जन समुद्र, युग भू-जीवन का संघर्षण !

अणु संगर से संरक्षण पा वह युग प्रबुद्ध देशों के जन
हिम अंचल में एकत्रित हो करते निज मनः सिन्धु मन्थन !
गत जाति-वर्ण शृंखला खोल राष्ट्रों की सीमा कर अतिक्रम
मानवता के सागर-तट पर समवेत, डुबाते निज तम भ्रम !

जब नव इतिहास न गढ़ पाते जन-भू के अक्षम जन-नायक,
उर पलने मे नव संस्कृति को युग शिल्पी देते जन्म अथक !
मानव-आत्मा को पृथ्वी पर अवतरित कराते वे अविरत,
जो ध्यान धारणा के नभ में अटकी थी—जीवन से उपरत !

युग खँडहर के उपकरणों को नव चिति पट में कर संयोजित
नव मानव संस्कृति का व्यापक प्रासाद उठाते दिक् शोभित !
गत घृणा द्वेष की खाई भर, कर धरा प्रीति का शिलान्यास,
संयुक्त कर्म रत, अपनाते वे नव युग-जीवन क्रम-विकास !

इतिहास भूमि से उठा चरण, सांस्कृतिक पीठ पर कर रोहण
जड़ स्थितियों से ऊपर उठते नव मूल्यों से रच भू प्रांगण !
मुट्ठी-भर आदर्शों को ले बढ़ सकता अब न धरा-जीवन,
भीतर से बदल मनुज-मन को गढना बाहर से जग नूतन !

एकांगी गत भौतिकता का वे देख चुके थे करुण अन्त,
पतझार वहाँ सिसकी भरते कल हँसता जहाँ विभव वसन्त !
समदिग् यान्त्रिकता में बँधकर बन सकता मनुज न चक्र-दन्त,
वह सृजनात्मा, यन्त्री,—उसको चाहिए ऊर्ध्वमुख चिद् दिगन्त !

संस्कृति थी निकट प्रकृति के अब, सात्विक, समग्र, मानव जीवन,
नव स्वर्ण चेतना में परिणत बहु जाति पाँतियों का मिश्रण !

नर - नारी गण उन्मुक्त प्राण युग रचना श्रम में रहते रत,
भू शान्ति - पीठ अब, मानवता जन - जीवन मंगल हित दृढ़ व्रत!

मित अल्प बाह्य जीवन साधन; जड़ यन्त्र सर्व सुख के वाहन,
अन्तर्मूल्यों के सर्जन में तत्पर रहता नव भू यौवन!
आत्मा के मुख का दर्पण हो अन्तः समृद्ध मानव जीवन,
भू मानवीय हो, जग संस्कृत,—संयुक्त यत्न करता भू - मन!

अन्तः संयम हो, वहिर्मुक्ति, शोभा नव जीवन उन्मेषक,
हों लोक कर्म में रत चिन्तक, बौद्धिकता हो शोभा सर्जक!
सुन्दर हो जन धरणी का मुख, भू रहे न दैन्य व्यथा मूछित,
वह चिर तरुणी,—नव जीवन की शोभा से सतत रहे भूषित!

जीवन की मरकत लतिका में अब स्वर्ण शुभ्र कलिका विकसित,—
मानस का अरुणोदय अम्बर रस दिव्य चेतना से दीपित!
जीवन का क्षेत्र धरा निश्चय नित सृजन हर्ष से रोमांचित,—
तृण - भोजन भाव विचार मूल्य, जीवन गो हो रस सम्पोषित!

गिरि अधित्यका में पर्ण कुटी निर्मित कर रहते साधक वर
अन्तर्मुख सित चिन्तन में रत अधिमन शिखरों पर रोहण कर!
चिन्मूल्यों के अनुशीलन हित विज्ञान - भूमि में रहता मन,
वह ऋद्धि सिद्धि थीं उन्हें प्राप्त दृग मूंद सुलभ प्रभु के दर्शन!

संयुक्ता मुस्काती उन पर जो जग से कट, रहते ऊपर,
अन्तः प्रकाश के दग्ध शलभ, भटका करते मन के भीतर!—
जगदात्मा से रह पृथक् सतत चिन्मुक्ति कूप रस में मज्जित,
आत्मा के असि - पथ व्रती पान्थ जीवन उपरत, जन - भू हित मृत!

प्रभु मुख न प्रतिफलित कर पाया उनका विरक्त मानस दर्पण,
वे सहज रूप से जीवन का कर पाते पूर्ण न सत्य ग्रहण!
भव - भीत, वाह्य भंगुरता में अवलोक न पाते तत्व अमर,
उर सर्प रज्जु भ्रम में उलझा, बिलगा जग - जीवन से ईश्वर!

जीवन विकास गति प्रति चेतन अध्यात्म तत्व के अभिलाषी
अन्तर्मन के वैज्ञानिक थे कुछ क्रान्त दृष्टि आश्रमवासी!
सामूहिक जीवन निर्मित कर व्यक्तित्व हो रहा था कुसुमित,
पा रस प्रकाश का सूक्ष्म स्पर्श जन - भू - मंगल होता विकसित!

चित् शुभ्र शान्ति हिम शिखरों की गिरि अधित्यका में थी स्थापित,
प्रेरणा ग्रथित था रजत हरित परिवेश—ऊर्ध्व गरिमा शासित!
क्या जीवन? कौन जगत् स्रष्टा? उठते अन्तर में प्रश्नोत्तर—
खोजती स्वतः ही निभृत शान्ति चिन्मय को निज भीतर बाहर!

जगती मानस में जिज्ञासा क्या सृष्टि, जीव, आत्मा, ईश्वर ?
क्या पाप - पुण्य, क्यों सुख - दुख भय ? क्या अन्न प्राण मन, क्षर अक्षर ?
श्रद्धा आस्था पथ से कैसे भू - जीवन में भर संयोजन,
अन्त: प्रकाश के भुवनों में तद्गत मन कर सकता विचरण ?

यम नियमों का निर्जल मरु तिर, कर चित्त वृत्तियों का निरोध,
चढ़ ऊर्ध्व प्राण सोपानों पर मिलता आत्मा का शुष्क बोध !
उर रहता ईश्वर से वंचित, जीवन—निषेध - वर्जन पीड़ित,
जग नरक कुण्ड रहता जीवित, मन तिक्त विरति रस से कुण्ठित !

तन - तन - प्राणों के भुवनों को कर महत् स्पर्श से आलोकित
मिलता न चेतना रश्मि सूत्र जिससे जग जीवन पट गुम्फित !
धो निखिल हृदय - मन का कलमष झरता न ज्योति निर्झर पावन,
दिखता न शुभ्र शाश्वत का मुख उन्नीत करे जो भू प्रांगण !

खुलता न परम शोभा गवाक्ष छँटता न अहंता का तम - घन,
आनन्द प्रीति के अमृत स्रोत भू पर न उतरते नभ से छन !
विद्युद्गति भगवत् शक्ति विचर करती न जगत् का रूपान्तर,
भू - जीवन - विमुख विरागी हित चिन्मरु जलवत् रहता ईश्वर !

सच्चिदानन्द - सा शुभ्र शृंग भावोन्मेषित नित रखता मन,
सर्वत्र दिखायी देते प्रभु प्रतिक्षण रहस्य खुलते गोपन !
जड़ से चेतन तक एक सत्य अग - जग में व्याप्त—स्वयं रस घन,
इन्द्रिय से ईश्वर तक अखण्ड संचरण प्रेम का सत् पावन !

भव रोग शोक अघ कर्दम में वह अनघ विद्ध रस नि:संशय,
जीवन विकास - पथ में अविरत, भू - नरक स्वर्ग - उपक्रम निश्चय !
धीरे - धीरे पीढ़ी - पीढ़ी होता अमूर्त मानव विकसित,
जीवन विकास क्रम सहयोगी भू ईश्वर प्रतिनिधि बन अविजित !

साजन का घर उस पार नहीं भू - जीवन ही उसका प्रांगण,
मन मात्र न, बहिर्जगत पट भी ईश्वर के मुख का हो दर्पण !
भागवत कर्म ही मनुज धर्म हो धरा - स्वर्ग मंगल - सर्जन,
संयुक्त - हृदय हो, ऊर्ध्व दृष्टि, भू - यौवन प्रभु रज को अर्पण !

अधिमानस के देवों का युग अब बीत चुका—भू नर ईश्वर
तब थे विभक्त—अब भू - जीवन भगवत् विकास संचरण अमर !
जग ही में सम्भव प्रभु दर्शन, भव - ब्रह्म सत्य,—यह नि:संशय,
ईश्वर प्रतिनिधि शाश्वत मानव रज रूप मर्त्य नर से अतिशय !

यह पराशक्ति—जग ईश्वर की जननी—दोनों को कर विकसित
दृढ़ प्रीति पाश में बाँध रही, सित जीवन में भर संयोजित !

शैलाधिराज था हिम पर्वत मरकत भू-आसन पर शोभित,
करती परिक्रमा शोभा नत पड् ऋतुएँ नव यौवन मुकुलित!
मधु आती, शोभा स्पर्शों से खिल पड़ती जग पर्वत पाटी,
पुष्पों के खोल दिगन्त पंख अप्सरियों-सी उड़तीं घाटी!

पल्लव पावक अंगुलि सुख से हँस उठते दिशि-मुख रोमांचित,
नीली पीली पाटल लौ से गिरि-कानन लगते दिग् दीपित!
स्वर्णिम मरन्द, वन गन्धों के सातप प्रसार भाते विस्तृत,
उड़ता विहगों का गाता नभ चल पंखों से दिशि कर चित्रित!

इठलाता क्षौम मसृण समीर बहु वन्य सुरभियों से गुम्फित
शिशु मुकुलों की मुख गन्ध सूँघ तन्द्रिल तलहटियाँ कर मुखरित!
रंगों के छीटों के दिगन्त कँप-कँप भरते मोहित मर्मर,
यौवनोन्मेष से उद्दीपित हरता निसर्ग मुख जन अन्तर!

हँसता निदाघ रवि अम्बर में माखन के कन्दुक-सा उज्ज्वल,
हिम वाष्पों का मृदु पट बुनती सुरधनु वितरित किरणें शीतल!
छाया की बाँहों में आतप अलसाया-सा रहता कोमल,
गिरि-खोहों से जग नव हिम घन गज करभों-से बढ़ते प्रतिपल!

मधु में अँगड़ा, ग्रीष्मागम में खिलते नव कलियों के आनन
हलके गहरे प्रिय रंगों की अगणित छायाओं के दर्पण!
विस्तृत लगता नभ, मुखरित दिशि, निरलस प्रसन्न पर्वत प्रान्तर,
हिम अंचल में लगता निदाघ मधुऋतु का ही स्नेही सहचर!

ऋतुओं की ऋतु वर्षा आती श्यामल गजेन्द्र घन पर शोभित,
पर्वत ऋतुओं की सम्राज्ञी, विद्युत् मणि लड़ियों से भूषित!
मस्तक पर सुरधनु मोर मुकुट, नभ छत्र बिन्दु-मुक्ता मण्डित,
सित वाष्प-चँवर-शोभा वीजित, दिग् गर्जन से आगम घोषित!

दुहरे तिहरे टँग इन्द्रचाप वन्दनवारों-से छा-कुसुमित
सुर बालाओं की विद्युत् प्रभ पद चापों से रहते कम्पित!
मोती हारों-सी बौछारें गिरि ढालों को करती हर्षित,
हँस पड़ती मखमल तलहटियाँ मरकत सोपानों-सी विरचित!

ऊँचे उड़नेवाले पुष्पक वारिद भरते उन्मद गर्जन,
शत तड़िल्लताओं से वेष्टित तिरते नभ में गिरि-से गज तन!
हिम शृंगों से लिपटे रहते चल चित्रग्रीव पारावत घन
सीपों के पंखों से झलका सुरधनुओं के रँग दिङ् मोहन!

सद्यः स्मित पंखड़ियाँ फैला शोभा देते पुष्कर जलधर
चल तुहिन कणों का किरणों में मणि हार गूँथते भू पर झर!
नीली पीली सित हरी लाल तन्वी चपला सुभ्र चंचल
अम्बर की ज्योति शिराओं-सी शतधा विदीर्ण,—होतीं ओझल!

चितकबरे साँपों - से लेटे कुन्तल घन घाटी में बसते,
क्षण में क्षितिजों में फन फैला गिरि शिखरों से टकरा हँसते !
तीतर पंखी रोमिल बादल बिखरे रहते नभ में नि:स्वर
सन्ध्या सिन्दूरी तूली से रँगती जिनके सित निर्जल पर !

मेघों की छायाएँ चुपके चलती तृण शाद्वल पर क्षण - क्षण,
जल हरित चिनगियों - से बुझते पावस के तम में पट बीजन !
उड़ श्वेत बकों की ध्वजा पंक्ति राशी का करती अभिनन्दन,
सित प्रीति तृषित गा स्वाति विहग मधु उर उँड़ेल करते क्रन्दन !

शशिमुखी शरद !—तकते अपलक खिल सरसी उर के पद्म नयन,
स्मित प्रीति तरी - सी चन्द्र - कला तिरती नीलम जल में मोहन !
पर्वत प्रदेश की प्रिय राका सौन्दर्य सिन्धु - सी हिल्लोलित
आनन्द स्पर्श से शृंगों को करती अवाक् छवि - सम्मोहित !

तारों का अंचल दे मुख पर छहरा हिम धौत तिमिर कुन्तल
वह स्वप्नों की गोरी श्यामा निर्मलता से लगती निर्मल !
भूतल का कल्मष पंक चीर खुलते प्रकाश लोचन उत्पल,
कलि कुसुमों के कोमल त्वच से पर्वत पंजर लगते मांसल !

भीनी गन्धों से भरी दिशा, कुसुमित ओषधियों के कानन,
काँसों की शय्या पर जगती ऋतु करतल पर धर चन्द्रानन !
वह राजहंसिनी - सी भू पर चलती, बजती पायल नि:स्वर,
बिछती गिरि वन में, गृह मग में स्मिति शेफाली कलियाँ झर - झर !

हेमन्त शिशिर,—पर्वत प्रदेश कुहरों से हो जाता परिवृत,
पल - भर में होती दृग ओझल सब दृश्य - पटी माया कल्पित !
हिम,—दूध - फेन, माखन कोमल, झरता रोमिल रूई - सा हिम,
चाँदी के फाहों - सा उज्ज्वल—हँस उठती रोमांचित रिमझिम !

पौराणिक पक्षी - सा प्रान्तर उडता शिखरों के पंख खोल
शत राज मरालों की शोभा दिक् शुभ्र छटा में मुक्त तोल !
हिम परियों की सित चरण चाप होती अदृश्य अश्रुत - झंकृत,
फिरते हिम पक्षी रंग - पंख फूलों - से उड़, कलरव मुखरित !

पतझर के वन पंजर से छन सन् - सन् चलती खर हिम समीर,
पत्तों को रँग, कम्पित कर अंग, हो शीत वह्नि की तप्त तीर !
जम जाती सरिताओं की गति पथराते स्फटिक शिला के सर,
कोमल जल बन जाता कटार, कम्पन भी कँप उठती थर - थर !

किरणों से विरहित रवि का मुख लगता दिन के शशि - सा दुर्बल,
खिलते न रश्मि सुख रहित पद्म, छाया रहता घन रज मण्डल !
इस भाँति सानुमत् प्रांगण में पल - पल घटते नव परिवर्तन,
वह हो निसग शृंगार कक्ष ऋतुएँ सज - धज करतीं नर्तन !

अब राजनीति को पीछे कर सम्मुख चलता संस्कृति का रथ,
अन्तर्दीपित मानव अन्तर श्री-शोभा मुकुलित दिग् भू-पथ !
कठपुतलो-से नेताओं के पद-मद से अब न धरा आहत,
गुण शील धन्य, अन्तः संस्कृत मानवता रचना-मंगल रत !

भय संशय का दिग् गहन धूम बन बाधा-विघ्नों का पर्वत
अब था विलीन हो रहा शनैः नव युग प्रबोध से क्षत-विक्षत !
पा नयी दृष्टि नव युग मानव जीवन का करता मूल्यांकन,
देशों, राष्ट्रों, स्त्री-पुरुषों के खुल गये भाव-गत थे बन्धन !

अब मूल्य शुभ्र चिति मे परिणत, परिवेश विश्व का परिवर्तित,
जीवन पदार्थ रस-सित, पावन, भू आध्यात्मिक-मंगल हर्षित !
शुभ शान्ति-लोक मन मे स्थापित, अणु अस्त्र सिन्धु-जल में मज्जित,
कटु पूर्वग्रहों से मुक्त धरा दिशि में सहस्रदल-सी प्रहसित !

नर अन्तरिक्ष-मुख से परिचित फहराते ग्रह-ग्रह में केतन,
रण बन्दी जड़ विज्ञान मुक्त नव जन-भू-रचना प्रति चेतन !
अब मानवीय गत यान्त्रिक जग, विद्युत् अणु बल जन युग वाहन,
वैज्ञानिक स्वर्ग प्रतिष्ठित, लो, ग्रह-नक्षत्रों तक भू प्रांगण !

क्रय-विक्रय स्पर्धा देशों में सब हुई शेप,—जीवन समृद्ध,
जड़ बहिर्विभव से अन्तर का चिद् वैभव जन प्रिय—स्वतः सिद्ध !
अब भाव वस्तु जग संयोजित, अन्तः प्रबुद्ध मानव अन्तर,
अन्तर्मुख आध्यात्मिक जीवन ले चुका जन्म नव जन-भू पर !

चैतन्य रश्मि ने कर प्रवेश उपचेतन रजनी की दीपित,
युग कुण्ठा संशय दिग् भ्रम को श्रद्धा का स्पर्श मिला जीवित !
अपरूप अमूर्त कलाओं ने देखा सौन्दर्य क्षितिज नूतन,
अब छिन्न विकृतियों के कपाट, नव खुला लोक मंगल तोरण !

मिल विगत विरोधी शक्ति शिविर नव जन-भू-रचना मे तत्पर,
सहयोग स्वर्ण सोपान बना, जन चन्द्र-लोक में रहे उतर !
पौराणिक पशुओं-सा ही अब गत खर्व मनुज स्मृति-अस्थि शेप,
वैज्ञानिक आत्मिक किरणों से आलोकित बहिरन्तर प्रदेश !

अणु-ध्वंस-प्रौढ युग मानव-मन भौतिक जीवन प्रति भ्रान्ति मुक्त—
अन्तर्मूल्यों प्रति आकर्पित वह आस्था, प्रीति प्रतीति युक्त !
नव अन्तर्मन अरुणोदय का जन-भू-मानस करता स्वागत
भव जीवन के गृह आँगन का ईश्वर अब शाश्वत अभ्यागत !

वह भू-देशों का सैनिक बल भारत का करता संरक्षण,
आभा-रत भू—आनन्द प्रीति, सौन्दर्य शान्ति की सित प्रांगण !
आवश्यक यद्यपि सैन्य शक्ति अब नहीं,—किन्तु भू उपचेतन
जब तक हो रूपान्तरित नहीं रक्षा प्रतीक वह बल साधन !

अणु रण से हुआ न पूर्ण ध्वंस सभ्यता शेष अब भी निश्चित,
गत मिथ्या मूल्य हुए विनष्ट नव वास्तवता प्रति मन जागृत !
बौद्धिक विवेक के संग जीवन अब सहज बोध से संचालित,
जग, सूक्ष्म चित् स्फुरण, बतलाता भीतर आलोक भुवन विस्तृत !

अणु किरणों से होता विकीर्ण भू - भाग उधर—विध्वंस स्तूप,
जनती मा प्रकृति - विरूप प्रसव, विघटित मन बनता अन्ध कूप !
उठ संस्कृति - पीठ इधर भू पर फैलाती नव जीवन प्रकाश,
चिद् कलाएँ नव क्षितिज खोल बहिरन्तर करतीं शुभ विकास !

उपचेतन गह्वर में निःस्वर धर सूक्ष्म शक्तियाँ ज्योति चरण
निज करुणा स्पर्शों से भरतीं अणु दंश क्षुब्ध भू - मन के व्रण !
भय संशय घृणा निराशा का युग अन्तरिक्ष में घिरता तम—
नव आस्था की हीरक किरणें बुनतीं नव आशा पट, हर भ्रम !

रस भाव - चेतना भू - सक्रिय तिर गत इतिहासों के पावन
सांस्कृतिक स्वर्ग - सुख वैभव का जन - भू पर करती आवाहन !
वह मुक्त सृजन आनन्दमयी उर स्वर्ण प्रीति में कर पुष्पित,
अन्तः श्री - शोभा पावक से नव भू - जीवन करती निर्मित !

यह मातृ प्रकृति योजना अटल शिशु मुकुलित धरें धरा प्रांगण,
संस्कार करें मन का किशोर, प्रजनन रत शिष्ट रहे यौवन !
जीवन अनुभव - रस - पक्व प्रौढ़ मिल करें धरा पथ निर्देशन,
भगवत् रस तन्मय शरद् वृद्ध सित श्रद्धा बीज करें रोपण !

भव रोग - शोक दारिद्र्य दंश स्मृति भर—दिग् विलसित [illegible],
शिक्षा संस्कृति सुरभित अन्तर, जन - मन विनोद - शोभा - वर्धन !
भौतिक आध्यात्मिक ऋद्धि - सिद्धि अब नव भू - मानव के कर - गत,
निःसीम चेतना मन्दिर पथ ज्योतिपर पग - पग पर स्वागत !

सित राग भावना स्रोत गुहा अन्तः श्री - शोभा से पुलकित,
प्राणों में वह आनन्द सृजन उर को रखता [illegible] !
वह रस अनन्त यौवना ज्योति सित रजत शान्ति सागर से [illegible]—
भावी भू - रचना मंगल की अब [illegible],—अनुपम [illegible] !

जन - भू - जीवन प्रति अर्पण ही अन्तिम न प्रेम की रस परिणति,
खोजता दीप्त मानव अन्तर जग में भगवत् चरणों प्रति रति !
ईश्वर ही वह सम्पूर्ण लक्ष्य जिसके प्रति नव भू - जीवन गति
शरणागति ही रस प्रीति स्रोत—स्वीकृत करती तद्गत जन मति !

भौतिक भू - जीवन अब कृतार्थ गृह अन्न - वस्त्र स्मित, दिङ् मुकुलित,
तन हृष्ट - पुष्ट संयम पोषित, अवचेतन जग रस आलोकित !
अब रुद्ध - वासना प्रीति - सौम्य प्राणों की शोभा में प्रहसित,
नव मूल्यों से निर्मित मानस—समदिग् ऊर्ध्वग गति संयोजित !

अन्तश्चिति प्रति जाग्रत् जन - उर, गत भक्ति ज्ञान - पथ हो विस्तृत
भगवत् शोभा आनन्द ज्योति सत् प्रीति शान्ति रस में विकसित !
आध्यात्मिक अन्तर्जीवन पथ रस शिखा चेतना से दीपित,
भागवत एकता का वैभव नव जन - भू - जीवन में वितरित !

अब कर्मयोग बन भू - रचना सित लोक प्रीति बन भक्ति सुघर
जन जीवन मंगल प्रति अर्पित—साकार सृष्टि गति में ईश्वर !
शोभा पावक बन रस प्रकाश भावो का मुख करता ज्योतित
स्वर्णिम प्रतीति में परिणत हो भू प्रीति हृदय करती गुम्फित !

निरलस किशोर उल्लास उमड भर देता नर - नारी अन्तर,
सत्ता का हो आनन्द सहज दिग् व्याप्त—अचेतन बाधा तर !
प्राकृतिक जगत् से गूढ़ साम्य अनुभव करते मन में भू - जन
कृत्रिम भेदों से दर्प - मुक्त विस्तृत लगता जीवन प्रांगण !

भू प्रकृति हो गयी थी नीरुज, परिवेश स्वच्छ, आहार - शुद्ध,
उन्नत विचार, सौन्दर्य बोध, भव कर्म न संस्कृति के विरुद्ध !
रस - सौम्य शरद - सौन्दर्य शुभ्र आता वार्धक्य न असमय पर,
विज्ञान ज्ञान के परिणय से चरितार्थ मनुज का बहिरन्तर !

जीवन संगीत, निधन सित सम करता भव स्वर लय गति वर्धित,
नव जन्म - हर्ष से रेखांकित होता अनन्त यौवन विकसित !
अब भव विछोह दुखप्रद न तनिक रस - तृप्त पक्व फल नर चूकर
चिद् - बीज - प्ररोहित होने फिर अर्पित होता प्रभु चरणों पर !

सांस्कृतिक केन्द्र बहु जन भू पर ले रहे जन्म थे नित नूतन—
आध्यात्मिक मूल्यों से धीरे शासित होता भौतिक जीवन !
अब बहिर्मुखी यान्त्रिकता के जड़ पदाघात से मर्दित मन
अन्तर्जीवन प्रति जाग्रत था, सित अन्तः सम्पद् प्रति चेतन !

संयुक्त - कर्म रत रहकर जन मिलकर करते भगवत् चिन्तन,
नव रूपों में सार्थक करते भू कर्मों से प्रभु का पूजन !
अब नव्य चेतना वपु में था अवतरित हो रहा नव ईश्वर,
तन - मन - जीवन - अन्तर्मन के कर्मों - धर्मों को ज्योतित कर !

सात्विक जीवन, मित वेश वसन, शोभा ही तन की प्रिय भूषण,
रस संस्कृत मन अन्तर्जग की श्री-सुषमा के प्रति प्रति चेतन!
चिद् भाव विभव से श्री समृद्ध जन कला-जगत् करते सर्जन,
उर मुग्ध प्रकृति मुख शोभा पर, शिशु विस्मय से अपलक लोचन!

निज सृजन कला से प्रकृति पुत्र करते भू शोभा भग गर्भित,
नव लता गुल्म कलि कुसुम जन्तु निज जीव बोध से कर निर्मित!
शाश्वत अनन्त यौवना प्रकृति अक्षय पौरुषमय प्रिय सुत नर,
बँध स्वर्ण प्रीति में रस तन्मय अग-जग का करते रूपान्तर!

पुष्पों के स्तवकों-से स्त्री-नर बहु संस्थानों में संयोजित
भू श्रेय-प्रेय से अनुप्राणित संस्कृति पावक करते वितरित!
छोटे-मोटे सब लोक-केन्द्र थे एक ध्येय-से अभिप्रेरित,—
मन वहिर्जगत तम में भटका अन्तः प्रकाश मे हो केन्द्रित!

मानव विकास का मुख्य ध्येय हो रहा पूर्ण धीरे निश्चय,
प्राणों का जीवन रस-संस्कृत विचरण करता भू पर निर्भय!
सित प्रीति अंक में मानवीय लगता भू-जीवन का आनन,
नर-नारी के अन्तर्मुख से उठ गया तिमिर का था गुण्ठन!

चरितार्थ राग-चेतना रुद्ध बन ज्योति प्रीति शोभा वाहन,
आनन्द निछावर अब भू पर धर सृजन स्वप्न के शुभ्र चरण!
सित भाव मुक्ति से मनुज प्रीति भागवत प्रीति में हो विकसित
नर ईश्वर का व्यवधान मिटा शाश्वत प्रतीति में ढलती नित!

अब दमन-मुक्त कामना ग्रन्थि थी सहज संयमित, शील नमित,
गत जाति-वर्ण-कुल अतिक्रम कर जन थे सुन्दर शिक्षित संस्कृत!
मानव कुटुम्ब के अवयव सब वे शुभ्र प्रेम की थे सन्तति,
परिवार नियोजन स्वतः सिद्ध संयम पावन श्री जीवन-गति!

पूँजीवादी जनवादी श्रम भू स्वर्ग पीठ मे संयोजित,
सित आध्यात्मिकता की प्रेमी नव भू-मानवता हुई उदित!
गृह मोह गर्त दाम्पत्य स्वर्ग अब जन-भू-जीवन में विस्तृत,
स्वर्णिम प्रतीति मे स्त्री-नर को रस शुभ्र प्रीति करती गुम्फित!

आमूल बदल अध्यात्मवाद जन भू पर जयी हुआ निश्चित
भौतिकता संस्कृति पाद पीठ,—अब वर्ग सभ्यता जीवन-मृत!
गत धार्मिक नैतिक खर्व मूल्य रस रूपान्तरित, हुए विकसित,
कटु राजनयिक आर्थिक स्पर्धा सह-रचना श्रम में दिव्य कुसुमित!

भव जीवन स्वर संगति में बँध जन-अन्ध-अहंता ज्योति-द्रवित,
लघु सुख दुःखों से मुक्त हृदय जन-भू शोभा रस में मज्जित!
पा सर्व प्रीति आनन्द स्पर्श गत निर्मम-कुण्ठाएँ विगलित,
ईश्वर ही जग अब, वही व्यक्ति, जीवन मन अन्तः संयोजित!

अणु रण विघटित भू-भागों में अवचेतन आवेशों से हत,
अंगों के कर्दम में सन, जन हो उठे काम-मद प्रति उपरत!
नर निष्पौरुष, नारी निःश्री, कुण्ठा विषाद भय से पीड़ित
जीवन श्री-शोभा प्रति विरक्त सोचते—व्यर्थ रहना जीवित!

काया प्रिय कुत्सित कृमियों-से वे पाते निज को तुच्छ घृणित,
पशु-सुख-यथार्थ के तम में जग आत्मा उनको करती दंशित!
दयनीय वस्तु लगती नारी शोभा आभा मण्डल वंचित,
आस्था आशा के खँडहर नर पुरुषार्थ हीन, निष्क्रिय, मर्दित!

नव संस्कृति के सित स्पर्शों से धीरे वे हो जाग्रत् चेतन
लौटे प्रकाश प्रांगण में फिर प्रेरणा स्पर्श पाकर नूतन!
मन प्रीति-युक्त अब काम-मुक्त नव भू-रचना मंगल में रत,
अन्तः शोभा से उन्मेषित, उन्नत वास्तवता से अवगत!

नारी अब मात्र न काम तल्प, वह प्रीति सुधा, रस संजीवन,
जो हृदय शिराओं में वह सित जीवन-मन का करती पोषण!
तन की निद्रा में सोया मन करता चित् नभ में आरोहण
आत्मा की ज्योति उतर भू पर होती कृतार्थ—बन नव जीवन!

मिल भाव ग्रथित नव युवति-युवक मानव भावी के अभिभावक
रस अंजलि भर वितरित करते प्राणों का सित शोभा पावक!
जीवन-प्रेमी, भू-अनुरागी मानव तन का करते आदर,
आत्मा को करते रस कृतार्थ चिद् शोभा से इन्द्रिय घट भर!

अन्तर की संस्कृत श्री-सुषमा अंगों में ढलती छवि मूर्तित,
युग्मों के तन उर-शोभा से युग्मों के मन करते मोहित!
भावों ही के सत् वैभव से ज्यों नव यौवन तन हो विरचित
जन काम विरत, रस प्रीति निरत रहते अर्पित भी अन्तः स्थित!

वन-फूल-मग्न शोभा देही तिरते पुष्करिणी में स्त्री-नर
वे पद्म पत्रवत् जल में रह रहते जल कर्दम से ऊपर!
जल में न देह, देह में न मन, मन में न डूबती चिति संस्कृत,
वे देह बोध से भार-मुक्त नव आत्म-बोध से थे दीपित!

जीवन वसन्त के कुंजों में मंजरित घाटियों के भीतर
लेटे होते नव तरुणि-तरुण श्री-शोभा बाँहों में बँधकर!
रस सुख विस्मृत रहते तन मन प्राणों की सौरभ पी मादन,
वह यौन गन्ध से मुक्त प्रीति अन्तः प्रतीत सुख थी पावन!

स्वर्गिक विराम से भाव-स्वस्थ,—वे होते भव कर्मों में रत
भू-शोभा-मंगल प्रति जाग्रत्—जीवन यापन था प्रभु हित व्रत!
तन फूल मांस के-से सुन्दर ऊष्णता भोगता मन की मन,
वह नाम रूप नर-नारी में क्रीड़ा करता शाश्वत जीवन!

स्त्री - पुरुष देखते अपलक या ईश्वर का मुख तकता ईश्वर,
तन - मन की श्री - शोभा गरिमा भगवत् वैभव की थी सित वर !
रस मूल्य हो गये थे विकसित, रति प्रकृति स्वतः अन्तः संस्कृत,
संयम न काम हित बन्धन—वह श्री - शोभा सुख प्रति था अर्पित !

अब पशु आवेग न था जीवन वह प्रीति संचरण था पावन,
मानव उर प्राणों को मिलते रस शुद्ध भाव पोषक भोजन !
विद्वेष घृणा से मुक्त हृदय स्वर्गिक प्रकाश का था दर्पण,
भू - मंगल - स्रष्टा संघ - व्यक्ति करता सामूहिक संरक्षण !

फूलों के आस्तरणों में अब शोभित संयम पोषित यौवन,—
उपकृत होता प्राणिक पावक लावण्य वारि मे कर मज्जन !
रस संस्कृत युवती, शिष्ट युवक, सित संयम - शोभा - कर्म काम,
मंगल प्रजनन रत स्वस्थ युग्म, भू - जीवन था रति स्वर्ग धाम !

चिद् - ज्योति गर्भ मे धारण कर सुन्दर लगतीं स्त्री चम्पक तन,
दीपो से नव दीपों में जग शिशु जीवन - लौ खोलती नयन !
भावी जग लेता पुण्य - जन्म चलता शाश्वत जीवन गतिक्रम,
श्री - नव वन हँसता जरा - जीर्ण—जीवन ही सत्य मरण दृग भ्रम !

फूलों - से हँसमुख बच्चों में सुन्दर से हो शिव सुन्दरतर
जन - भू विकास होता उपकृत चित् प्रीति नीड़ रच शिशु अन्तर !
सहधर्मी वन नर ईश्वर का अणु तड़ित् शक्ति से गढ नव जग,
जीवन - मूर्तित कर दिव - वैभव प्रभु ओर सजग बढ़ता प्रतिपग !

सत् प्रेम समाधित नारी - नर अब तप्त काम सुख प्रति उपरत,
बँध प्रकृति सृजन स्वर संगति में मित सन्तति का करते स्वागत !
यों आत्म नियोजित जन कुटुम्ब बनता न भार जन - भू के प्रति,
शिक्षित प्रसन्न शोभा - पोषित संस्कृत होती भावी - सन्तति !

नव - नव गुण होते सहज प्रकट अव्यक्त प्रकृति को कर विकसित,
चिर रुद्ध,—ऊर्ध्व नभ से झरती ऋत चिद् सम्पद्, बन उर शोणित !
अन्तश्चेतन सित क्षितिजो में उर ध्यान मौन करता विचरण
आत्मा के स्पर्शों से ज्योतित—मन लाँघ—पूर्ण खिलता जीवन !

अब प्रीति नहीं प्राणों की रति, अनुरक्ति न, विरह मिलन बन्धन,
शुचि स्फटिक पीठ पर श्रद्धा की वह धरे मुक्त ऋत- शुभ्र चरण !
रस पुरुष पदी, सित चिद् गंगा करने आयी जन - भू पावन
नर - नारी उर कर स्वर्ग ग्रथित उज्ज्वल कर कल्मष का आनन !

अब भू - मंगल ही जन - भू व्रत, जीवन - रचना ही तप साधन,
अर्पित मन का श्रम पूर्ण योग, भव शोभा सुख में प्रभु - दर्शन !

सत् प्रेमार्पण ही पाणि ग्रहण, मानव - कुल ही शिशु - कुल पावन,
संस्कृत अन्तर ही जन सम्पद्, भू आँगन सबका घर - आँगन !

निष्काम प्रेम की श्री - सुषमा स्त्री - अंगों में ढल हरती मन,
विस्मय अवाक् रहता अन्तर झँप - झँप जाते सुख से लोचन !
कटु राग - द्वेष से भार मुक्त मानव उर अब प्रभु का दर्पण,
रचना मंगल रत भूतल पर सित स्वर्ग शान्ति करती विचरण !

हो राग भावना ने विकसित अब बदल दिया भू - जीवन पट,
रस शुभ्र चेतना ज्वारों से शोभा प्लावित जन मानस तट !
विस्तृत अब सामाजिक प्रांगण, आनन्द प्रेम चलते भू पर,
आस्था प्रतीति रत, एक प्राण, भू प्रीति ग्रथित स्त्री - नर सुन्दर !

पशु काम वृत्ति को पीछे कर सित प्रेम आ गया था सम्मुख,
दीपित लगता संस्कृत भू पथ, श्री - शोभा स्मित जीवन का मुख !
प्रिय काम सखा यौवन वसन्त नव रस सुषमा में हो मुकुलित
आनन्द गन्ध से प्राणों को करते प्रतीति गति लय मुखरित !

रस पूत प्रीति में बँध स्त्री - नर तन - बोध रहित, मन में थे स्थित,
भू लांछन कल्मष से ऊपर प्राणों का सरसिज था शोभित !
अब काम - ग्लानि से मुक्त हृदय श्री - शोभा का करता आदर,
लौटी थी निर्वासित सीता जन भू - मन का कर रूपान्तर !

सौन्दर्य - प्रेम - बाँहों में बँध तन्मय,—कृतार्थ होता जीवन,
रस सित चुम्बन परिरम्भण से प्राणों का पावक हवि - पावन !
अन्त: संस्कृत संयम करता भू - सहजीवन का संरक्षण,
देही प्रबुद्ध हो स्त्री - नर में तन - मन का करता संचालन !

प्रतिवाद न थी अब प्रीति मुक्ति गत युग ने जिसे किया लांछित,—
क्रोधान्ध जनों ने कला शिविर विध्वस्त किया ईर्ष्या प्रेरित !
अणु युद्धोत्तर—गत खर्व मूल्य नव भू - संस्कृति में हो विकसित
गत रूढ़ि वर्जनों से विमुक्त सद् जीवन सौष्ठव में कुसुमित !

मन देह - मोह रज से उपरत अन्तर्वैभव के प्रति जाग्रत्,
अब राग - मुक्ति रस संस्कृति वन नव भू - मानवता में परिणत !
वन जीवन के संस्कारों से हो मुक्त पुरुष - स्त्री का अन्तर
चित् रस प्रकाश के क्षितिजों में विचरण करता जीवन भास्वर !

स्वच मोह, काम तृष्णा विरहित नव मानव का ऋत संस्कृत मन,
अन्तर्जीवन रचना में रत,—प्राणिक प्रहर्ष बनता सर्जन !
श्री सौम्य, शान्त, भव मानवता शोभा - पथ पर करती विचरण,
सित स्वर्ग पीठ जीवन - चेतस्, झंकृत दिव चापों से जन - मन !

तप काम बन चुका था कांचन, सांस्कृतिक मूल्य अब वह निश्चित,
उपचेतन कर्दम से विमुक्त आध्यात्मिक शोभा में विकसित !

सात्विक प्रहर्ष—नव भावों के मधु भुवनों का करता सर्जन,
इन्द्रिय मन आत्मा का वैभव नव भू - जीवन प्रति कर अर्पण!

स्त्री - पुरुष विरत निज तन के प्रति शोभा रचना प्रति अब अर्पित,
अन्तः क्षितिजों की श्री - सुषमा गरिमा मन को करती विस्मित!
भौतिक वैभव, शिक्षा, संस्कृति हों भले लोक जीवन हित वर—
चित् प्रीति स्पर्श ही जीवन का मन का कर सकता रूपान्तर!

बर्बर वन युग, सामन्ती भय होगा न धरा से उच्छेदित
जो भाव - मुक्त होगा न जगत् सत् प्रीति ग्रथित नर - नारी चित!
इह पर, नर ईश्वर धर्म काम तब तक जन भू मन में खण्डित
रस शुद्ध न जब तक राग - भूमि, उर काम - द्वेष से नहीं रहित!

अब स्वर्ग चेतना का प्रतिनिधि मानव भू पर करता विचरण,
अध्यात्म धरा - रज में बिछकर बनता चरणो को छू पावन!
ईश्वर से पृथक् नहीं अब जग होता अमूर्त मूर्तित प्रतिक्षण,
भगवत् सुख में रहता जन - मन, भगवत् जीवन करता सर्जन!

मन को न ऊर्ध्व सोपानों पर करना पड़ता निर्मम रोहण,
अब समदिग् जीवन - पथ पर ही शाश्वत शोभा करती विचरण!
वैयक्तिक सामूहिक गतियाँ स्वार्थों में विषम न अब खण्डित
आध्यात्मिक भौतिक, ऊर्ध्व अधः जन भू - जीवन में संयोजित!

मन से ऊपर—जगदात्मा का प्रतिनिधि अब विकसित भू - मानव,
वह सूर्य - किरण मणि पात्रों से पीता स्वर्णिम चित् रस आसव!
शशि अमृत पाणि वीणा उसकी, सागर मरकत - विगलित अन्तर
गिरि उसके चिन्तन मौन शिखर, नीलिमा दृष्टि नीरव, भास्वर!

पग - पग पर ईश्वर का अनुभव जन - मन में भरता सित विस्मय,
गिरि वन, खग मृग, कलि कुसुम न थे—सत् ब्रह्म सकल जग जीवाशय!
मिलता असीम का गूढ स्पर्श सीमा से,—उर को कर तन्मय,
क्षर वस्तु रूप रेखाओं से झाँकता सत्य अक्षय, अतिशय!

कपिला गौ ही - सी प्राणो के खूँटे से भक्ति बँधी घर - घर
चिद् दुग्ध धार से सुधा शुभ्र पोषित करती मानव अन्तर!
अब ज्ञान न था जीवन - निष्क्रिय, अघ सुकृत न थे कर्मों के फल,
जग - जीवन की स्वर - लय में बँध था व्यक्ति - सर्व - सुख-रत प्रतिपल!

आत्मा के स्तर पर प्रभु दर्शन दुष्कर हों—कृत्रिम भी निश्चय,
जीवन दर्पण में ईश्वर मुख देखना सुलभ,—जो विधि आशय!
जन - भू - मन में उन्नत, शाश्वत मूल्यों का वैभव हो संचय,
भगवत् शोभा आनन्द ज्योति उतरें भू पर—प्रभु जगदाश्रय!

जीवन के वपु में ही प्रभु के मांसल, समग्र दर्शन सम्भव,
आत्मा ईश्वर का चिद् स्फुलिंग केवल,—युग कवि का था अनुभव !
अब व्यक्ति मुक्ति, गत ऋद्धि-सिद्धि, करतीं न हृदय को आकर्षित—
ईश्वर को जग-जीवन क्रम में सर्वांग रूप करना विकसित !

रस प्रेम तत्व ही सत्य, स्वतः उसके सम्मोहन से जीवन
हो उठता शोभा मूर्त सहज,—वह निखिल सृष्टि का सित कारण !
क्यों जग, क्यों जन्म-मरण, सुख-दुख, ये व्यर्थ प्रश्न—रस सृजन स्वयम्
कर देती प्रीति निरुत्तर मन—वह लक्ष्य, सिद्धि, पथ, गति, उपक्रम !

इस प्राण हरित जीवन तरु को मरकत जन-भू पर कर स्थापित,
उसमें ही भगवत् प्रेम नीड श्रद्धा तृण से करना निर्मित !
हो सार्व भौम भगवद् वैभव जन-भू-जीवन-मन में मूर्तित,
वैयक्तिक मुक्ति न प्रकृति ध्येय,—वह सृष्टि उन्नयन से वंचित !

नव आध्यात्मिकता में न भक्ति केवल अब जप-तप व्रत -पूजन,
वह ईश्वर तन्मय रह, भू पर विकसित जन-जीवन की साधन !
अब ज्ञान न निष्क्रिय आत्म-बोध, या शास्त्रों का अध्ययन, मनन,
वह जग में प्रभु, प्रभु में जग के शाश्वत अखण्ड करता दर्शन !

युग ध्येय कर्म फल त्याग न अब, श्रम भू-मंगल प्रति था अर्पित,
बन्धन न कर्म, वे लोक मुक्ति वाहक थे, शुभ फल से उपकृत !
अब भक्ति ज्ञान का स्वर्ण निकष था लोक श्रेय में सत् परिणति,
नर ईश्वर थे ऋत प्रीति ग्रथित भू स्वर्ग सृजन ही शरणागति !

अब उच्च बोध स्तर से द्रष्टा जन भू-मन को करते प्रेरित,
जीवन कुण्ठाओं से पीड़ित भू-मन की सीमा कर विस्तृत !
आनन्द ज्योति, सौन्दर्य शान्ति बरसा नव चिद् ऐश्वर्य अमर
समदिक् संघर्षण के निर्मम गूंगे व्रण प्रभु करुणा से भर !

ऊषा के स्वर्ण मुकुट पर था हीरक-सा शुक्र जड़ा भास्वर—
संयुक्ता ने देखा हिमगिरि सामने खड़ा प्रज्वलित शिखर !
स्वर्णिम धनु-सी नव रवि-रेखा थी खिंची मौन उदयाचल पर
क्षण में भर गये दिशाओं में यव सूचि रश्मियों के शत शर !

विक्षुब्ध भाव-सागर से जग निखरा हो अन्तः शृंग सुघर
आँखों में उदित हुआ हिमवत् नव शोभा गरिमा में नि:स्वर !
उसको उन्मेष हुआ सहसा अणु ध्वंस गर्त तम से अदीप
भू स्वर्ग उठ रहा हो विराट् सौन्दर्य-स्वप्न-सा निर्निमेष !

संयुक्ता के सित स्वागत में गिरि-पथ के खग भरते कूजन,
वन मारुत गन्ध व्यजन झलता, तरु-व्योम पुष्प करते वर्षण !

कोकिल उसके स्वर में गाती, सित दृष्टि क्षितिज बनती विकसित,
पद - चिह्न फूल बन खिल उठते धरती होती नव तृण हर्षित !

फूलों के दीपों में वन की बहुरंगी ज्वालाएँ दीपित
उसके सित प्राणों को करती पावक रस स्पर्शों से पुलकित !
सौन्दर्य - प्रेरणा - सी सशक्त विद्युत् होती उर में अंकित
स्वर्गिक प्रहर्ष की सूचक बन भावी भू - मानवता के हित !

शोभा का स्फाटिक मन्दिर या अम्बर चुम्बी वह गिरि प्रान्तर,
मरकत के करतल में दीपित हो हीरक पावक दिक् सुन्दर !
उन्मुक्त नील, हँसमुख प्रसार, मर्मरित क्षितिज, निर्झर मुखरित,—
सोचती निर्निमिष संयुक्ता शशि - रेख - देख नभ में शोभित—

जग - जीवन की आत्मा परमा शोभा—न मुझे संशय किंचित,
होती इतनी सुन्दर न सृष्टि विस्मय रस तूली से चित्रित !
कितने सुन्दर फूलों के मुख जग कला - प्रतीक रहस व्यंजित,
चेतना सिन्धु में चन्द्र - ज्वार हिल्लोलित स्वर्गिक शोभा नित !

सित प्रीति—स्वयं आनन्द रूप, कर नव विकास गति संचालित
शोभा प्रकाश के स्वर्ण क्षितिज करती जन - मन मे उद्घाटित !
सम्पूर्ण विश्व - जीवन अजस्र प्रार्थना गीत - सा सत्य ओर
बढ़ता अनन्त गति से अबाध जड़ दिशा - काल के डुबा छोर !

देखा नव ईश्वर का आनन उसने—जो चलता जन - भू पर,
अपने गत रूपों से विराट् शाश्वत, असीम, अक्षय, भास्वर !
तन मन जड़ चित् के पाश खोल वह रस समग्र सत्, सर्वाशय,
इन्द्रिय से आत्मा तक प्रहसित आनन्द मुक्त—उनसे अतिशय !

भगवत् शोभा में मूर्तित हो अब जन - भू पर मानव जीवन
उपचेतन भुवनों का विषाद हरता, ऋत अन्तर्दीपित मन !
गत भू - मानस की द्वाभा में हो रहा शुभ्र रस सूर्योदय,
तृण - तरु पशु - पक्षी जग भी अब नव श्री प्रफुल्ल, लगता निर्भय !

देखा उसने दिक् काल जगत् कुछ भी न शेष अब था निश्चित,
रस शुभ्र प्रीति - चित - शिखर मात्र केवल अपने में अन्त.स्थित !
त्रिपुरों के छाया - भुवनों का जो करता प्रतिक्षण रूपान्तर,
सुनहले अरुणिमा स्पर्शों से उनको ऋत रस मे मज्जित कर !

हाँ, देखा उसने एक बार सम्मुख गरिमा मण्डित आनन
नगपति हैं खड़े विराट्, मौन, हो सत्य, स्वप्न या श्रुति दर्शन !
द्रुत धर राजोचित मनुज वेश वे बैठे, पा नव तृण आसन,
विस्मय हत संयुक्त बोली,—प्रिय देव, करूँ कैसे पूजन ?

क्षम अतिथि आपके, बन्धु, स्वयं अब बने हमारे अभ्यागत,
किन शब्दों मे सुख करूँ व्यक्त, किन शुभ उपकरणों से स्वागत !

बोले गिरवर, तुम उमा तुल्य मेरे प्राणों की हो प्रिय धन,
मेरा यह निभृत निसर्ग कक्ष तुमने फिर किया तप: पावन !

मैं जड़ निश्चेतन जग का नृप करने आया जन अभिवादन,
मानव स्पर्शों से मानवीय बनने,—प्रबुद्ध, नव रस चेतन !
जड़ चित् दिशि क्षण को अतिक्रम कर नव जन्म ले रहा भू - मानव
सब प्रकृति शक्तियाँ पाश - मुक्त अब मना रहीं जीवन उत्सव !

देखा संयुक्ता ने विस्मित नगपति के मन्त्री पार्षदगण
बहु सिंह, ऋक्ष, गज, वृष, खग, पशु, थे वहाँ उपस्थित धर नर तन !
मृदु रोमिल चर्मों में भूषित गिरि प्रजा चाटती प्रणत चरण,
निज मुख पंखों में गति जव समेट खग - कुल गाता मंगल गायन !

सर सरित, सिन्धु, कानन पर्वत रवि शशि ग्रह, गगन, पवन पावक
मानवता का स्वागत करने आये थे—विस्मय से अपलक !
भूषित प्रतीक परिधानों में आये थे वृक्ष - लता, खग - मृग
भू मंगल पर्व मनाने हित जन शोभा देख सफल हों दृग !

जय केतन बनते इन्द्र - धनुष, चपला पटु पद करती नर्तन,
षड्ऋतु आयी थीं एक साथ स्वर्गिक शोभा करने वर्षण !
मानव सुख से था सुखी जगत, उस निभृत प्रकृति वन प्रांगण में
भावी जीवन शोभा गरिमा जगती संयुक्ता के मन में !

प्रिय रंगों के मांसल तन धर देखते फूल अपलक लोचन,
मधु साँसों से बरसा सौरभ,—अलि भाव पंख भरते गुंजन !
पशु - पक्षी - जग नर - भीति मुक्त मानव कुटुम्ब का अवयव बन
मृदु तीव्र मिश्र हर्ष ध्वनि से करता नव युग का अभिनन्दन !

चढ़ नील गाय, मृग पीठों पर फिरते किशोर वन के भीतर,
खग नीड़ सँजो, वन पशुओं को सहला, गिरि - खोहों में रच घर !
दुखते जब बारह सिंघा के उगते अंकुरों से सींघ सुघर
वे दूध फेन चूना मलकर उसकी बाधा द्रुत लेते हर !

वन हिरनी गर्भवती होती वे उसे खिलाते नव तृण दल,
ऊष्मा में, छाया में बिठला झरने का मधुर पिलाते जल !
वे जड़ी - बूटियों के रस से पशुओं के घावों को धोते,
गिरि ढालों पर मृग शावों को गोदी में ले - लेकर ढोते !

मकड़ी के जाले व्रण में भर वे रक्त - धार रोकते तुरत,
नव औषधि, नव उपकरणों से उनकी सेवा में रहते रत !
देखा संयुक्ता ने विस्मित तृण - तरु, पशु - पक्षी, गिरि - कानन
भूमा के बहुमुख मूर्त रूप सब एक चेतना पावक कण !

विस्मय अवाक् उसको विलोक बोले नगपति, संयत कर स्वर,
गूँजी घन मन्द प्रतिध्वनियाँ शिखरों से उठ, अम्बर में भर !—
स्नेहजे, प्रकृति का प्रांगण यह, शोभा का विस्तृत वक्षः स्थल,
पलता सचराचर जग जिसमें—मा का हो वत्सल छायांचल !

मेरे शिखरों का चिद् वैभव जन-भू के चरणों पर अर्पित,
वे शून्य स्फटिक मन्दिर-से स्थिर, रस स्पर्श रहित, ईश्वर वंचित !
नगपति तलहटियों में जीवित जो प्राण हरित, जीवन मुखरित,—
अधिमन आत्मा के मूल्य व्यर्थ यदि वे इन्द्रिय वैभव विरहित !

नयनों को शोभा अन्तरिक्ष, श्रवणों को स्वर संगीत भुवन,
जिह्वा को षड् रस के समुद्र नासा को गन्ध भुवन मादन,—
स्पर्शेन्द्रिय को जो मिले नहीं मांसल भगवत् त्वच का मार्दव,—
वह ब्रह्म नहीं, भ्रम कूप अन्ध, आत्मा वह नहीं, विरज जड़ शव !

मृत आत्मवाद के ही तम से भारत का पतन हुआ निश्चय,
जन जगदात्मा को भूल गये आत्मा के गो-पद में हो लय !
अणु से अणु, महत् महत् से वह सित प्रेम तत्व, रस निधि अक्षय,
निज से निज को अतिक्रम करता, कर निखिल विरोधों का परिणय !

ज्यों बिना शब्द के अर्थ अगम, ज्यों बिना अर्थ के शब्द व्यर्थ—
संयुक्ते, तुमको ज्ञात सत्य, सम्पृक्त सिद्धि तुम हो समर्थ !
आध्यात्मिक भौतिक तत्व निखिल जीवन निधि मे होते अवसित,
जीवन भगवत् नवनीत सार मानव में सर्वाधिक विकसित !

ईश्वर उसकी क्षमता अक्षय, जीवन ही प्रभु मुख का दर्पण,
आत्मा मन उसके अंश मात्र, जड़ जगत् सृजन लीला प्रांगण !
वह क्रम विकास का पथिक अमर छायाभा शोभा में गुम्फित,
जो स्वर्ग पीठ हो जन-भू पथ प्रभु मानवता मे हो मूर्तित !

कर जन्म-मरण के द्वार पार चलता अनन्त का पान्थ सजग,
अन्तर्भुवनों के वैभव से कुसुमित कर जन-भू-जीवन मग !
प्रभु लक्ष्य न निश्चय उच्च शिखर जीवन का स्वर्ग बने भूतल,
सौन्दर्य प्रेम आनन्द धाम—रस ईश्वर हो शोभा मांसल !

प्रिय सुते, गुणात्मक परिवर्तन मानव जग में हो रस संस्कृत,
सित गुण मे हो संगठित राशि, जीवन अन्तः शोभा विकसित !
संचित आध्यात्मिक भुवनों में भू जीवन हित शाश्वत मंगल,
अक्षय पावक रस सूत्रों से गुम्फित हो भू मानस अंचल !

हो निकट प्रकृति के नव संस्कृति, हो मूल शिखर जल से सिंचित,
चरितार्थ इन्द्रियों का पावक पा सित इच्छा हवि, ऋत रस घृत !
जीवन-ईश्वर हो पूर्ण-काम जड़ उर में चित् रस संयोजित,
उपरत मन बने न ऊर्ध्व-शून्य हो ऊर्ध्व प्राण-मन में वितरित !

यह प्रेम सृष्टि—हो प्रेम धर्म, जन में प्रतीति समता स्थापित,
मन पाप - पुण्य फल प्रति तटस्थ, जन हों न नरक भय से तापित !
वह पूर्ण दया से भी अतिशय सित प्रीति,—परस्पर हो अर्पित
हों लोक - कर्म - सुख निरत प्राण, उर सृजन शान्ति रस में मज्जित !

मैं शिखरों का अधिपति तुमको क्या दीक्षा दूँ ? तुम ऋत रस स्थित,
यह ब्रह्म ज्ञान, मन से न सुलभ, जीवन में लोक करें अर्जित !
वे मध्य युगों के अर्ध सत्य जड़ से चेतन को कर विभक्त
जो गैरिक द्वाभा तम ओढे जीवन प्रति मन करते विरक्त !

ऋण सत्य मृषाओं में खोये, ज्ञानान्ध, बुद्धि मरु में भटके,
जग में ईश्वर को देख न पा, वे मुक्ति शून्य नभ में लटके !
जन पर अनन्त दारिद्रय लाद सिखला विराग, निष्क्रिय वर्जन,
जीवन के हत्यारे जग को दे गये आत्मघाती दर्शन !

तुम जीवन ईश्वर को पूजो वह प्रेम, अनिर्वचनीय परम,
वह अक्षय रस, घट - घट वासी, यह सृष्टि स्वर्ग का लघु उपक्रम !
अन्तर्यामी, करुणार्द्र हृदय, पारस मणि,—महिमा से छूकर
वह घृणा - द्वेष को प्रेम बना अग - जग का करता रूपान्तर !

पर्याय प्रेम, ईश्वर, जीवन—सेवक जिसके श्रुति स्मृति दर्शन,
देखो गत मन आवरण उठा यह धरा स्वर्ग शोभा प्रांगण !
आत्मा के स्तर पर देख शुभ्र सच्चिदानन्द घन का आनन,
इति समझ उसे, तन प्राण विरत संन्यस्त - कर्म गत - युग का मन !

आनन्द स्पर्श विस्मय विमूढ़ वह रहा समाधित—बन जड़वत्,
तद्गत होना अर्धोपलब्धि, रस पूर्ण सिद्धि—भू हो तद्वत् !
घन केवल घन, ऋत रस बरसा जन - धरणी को करना उर्वर,
रुचि संस्कृत शोभा मंगल में दिङ् मुकुलित हो दिव जीवन वर !

मैं लांघ विश्व मानस समस्त, प्राची पश्चिम को अतिक्रम कर
इतिहास, धर्म, संस्कृतियों के शिखरों पर नव युग के पग धर—
दे रहा तुम्हें जीवन दर्शन—यह महत् कल्प परिवर्तन क्षण—
निर्माण करो नूतन भविष्य भू - जीवन हो भगवत् दर्पण !

यह सित निसर्ग सुषमा अंचल—देखो इसमें फूलों का मुख,
देखो, गाते गति पंख विहग बरसाते मुक्त गगन का सुख !
इठलाते रलमल रजत स्रोत, झरते गज मुक्ता के निर्झर,
देखो हिम शृंगों की गरिमा—स्तम्भित—लहरा शोभा सागर !

यह इन्द्रिय प्राणों का जीवन सुन्दर से बन नित सुन्दरतर
मानव में हो चरितार्थ—शिखर वह सचराचर का—मर्त्य अमर !—
सहसा अदृश्य हो गये अद्रि—ओझल खग पशु, गिरि वन प्रान्तर,
शशि शेखर भूमा नील मौन दृग सम्मुख प्रकट हुआ भास्वर !

खो गया काल सँग दिशा - बोध, शाश्वत का था जीवन प्रांगण,
बँध प्रेम - पाश में सचराचर क्रीड़ा करते मोहित तन - मन!
जन नाम रूप थे गौण सत्य, दिक् काल चरण धर रस शाश्वत
जड़ चित् कर में जीवन - शिशु बन भू - पथ का था दिव अभ्यागत!

अब शरद धरा - सी कांस श्वेत संयुक्ता लगती रस पवित्र,
चिद् धौत, मौन अनुभूति द्रवित, हिम ताप पक्व, भू प्रीति चित्र!
सित स्वर्ग दया घट - से उरोज दृग दिव स्वप्नों के वातायन,
मुख अन्तः सुषमा का दर्पण—धरती भू पर संगीत चरण!

मिलता उसको सर्वाधिक सुख जब वह प्रभु सम्मुख होती नत,
होता अस्तित्व कृतार्थ पूर्ण, उर शोक - हीन रस मे तद्गत!
उस सत् प्रहर्ष की आभा में दीखते जगत् में प्रभु जीवित,
पी रूप चेतनाऽमृत—करता गूंगे का गुड़ न हृदय मोहित!

प्रभु से पवित्र था और न कुछ, वैसा न पूर्ण कुछ मंगलमय,
होती कृतार्थ शोभा उनमें, आनन्द हृदय करता तन्मय!
लोटती शान्ति सित चरणों पर, उनसे न अधिक मोहक सुन्दर,
चरितार्थ सृष्टि होती उनसे वे प्रीति अतल रस के सागर!

प्रभु की ही अन्तर्गरिमा से लगता प्रशान्त निःस्वर अम्बर,
गिरि ध्यान मौन करते चिन्तन अविदित उच्छायों में खोकर!
छवि मुग्ध नृत्य करते रवि - शशि, सागर रहता स्मृति आन्दोलित,
पा गन्ध खोजता चल समीर, लगता दिगन्त विस्मय स्तम्भित!

नीहार सरोवर में तिरता ज्यों शुक्र रजत जल में बिम्बित—
विवसना तैरती संयुक्ता सित मानस शोभा में परिवृत!
मन को लगते तन वस्त्र भार रहती तन्मय चिज्जल मज्जित,
दीपित करता निर्जन का उर मुख सूक्ष्म ज्योति - रेखा मण्डित!

देखा उसने मन के दृग से—वह स्वप्न लोक का था आँगन,
विद्रुम आभा छायी नभ में माणिक प्रभ धरा पटल शोभन!
ऊषाएँ परिक्रमा करतीं, स्मित अप्सरियाँ करतीं नर्तन,
उड़ अन्तरिक्ष में देवदूत सित पुष्प वृष्टि करते प्रति क्षण!

ले चुका जन्म था नव मानव, आते अश्रुत लोरी के स्वर,
पलने में उसको विश्व - प्रकृति थी झुला रही गा - गा निःस्वर!—
कितने संवत्सर बीत चुके मैं रही प्रतीक्षा में अपलक,
जड़ अन्ध शक्तियों से भू की कटु संघर्षण रत रह अब तक!

तुम उदय हुए रस सूर्य दिव्य कर धरा योनि का तम दीपित,
आध्यात्मिक प्रथम प्रभात शुभ्र भू पर लाये,—जन - मन विस्मित!
दिक् काल हुए गति - चरण प्रणत, बन्दी स्मित पलकों में शाश्वत,
करतल पुट में शोभित अनन्त, जीवन समग्रता मे परिणत!

भू - योनि - गर्भ में छिपा स्वर्ग साकार हो सका प्रथम बार,
हँस मानव ईश्वर ने खोले भू अन्धकार के गुहा द्वार!
सौन्दर्य ज्योति आनन्द प्रीति हो सके सृष्टि पट में सार्थक,
तुममें धर रूप कृतार्थ हुआ आत्मा का रूप - हीन पावक!

रस प्रीति चेतना - से मूर्तित फिरते अब जग में नारी - नर,
भय रोग शोक दारिद्र्य हीन जन - भू तम छोर विभव भास्वर!
शोभा ले गौर मराल वक्ष चलती सहृदय भू पर निर्भय,
सित संस्कृत नव, मानव जीवन ईश्वर में अन्तर - रस तन्मय!

लय हुआ काल सँग दिशा ज्ञान भूमा का था निरवधि प्रांगण,
बँध प्रीति पाश में सचराचर क्रीड़ा करते अर्पित तन - मन!
सहसा जीवन ने निज मुख से खोला स्वर्णिम भावी गुण्ठन,
पट के भीतर पट थे अनन्त,—हँसता हिरण्य रस सित पूषण!

था ज्ञात उसे, जो शुद्ध प्रेम छल सकता उसे न देश काल,
वह क्षण बौद्धिक सिद्धान्त नहीं लिपटाये जिसको तर्क जाल!—
वह आत्म - त्याग, सित आत्म - दान, जिसको नत मस्तक स्वीकृत कर,
बनता चिर निर्मम लौह स्वर्ण होता अग जग का रूपान्तर!

सायं प्रातः स्वर्णाभा में खेलता मिचौनी वंशी कवि,
उठ ज्योति वर्ण घन दृग सम्मुख अंकित करता उर में वह छवि!
तद्‌गत हो संयुक्ता का मन करता संलाप स्वगत गोपन,
सान्निध्य सूक्ष्म द्रष्टा कवि का युग - मन का करता संचालन!

हो उठता स्वतः स्फुरित उसके उर में स्वर्णिम भावी आनन
अमरों की चापों से झंकृत लगता जन - भू जीवन प्रांगण!
भव मंगल की सित आशा से दीपित हो उठता निश्छल मन,
अज्ञान मुक्त, चिन्महत् सत्य अब भू - पथ पर करता विचरण!

रस गुहा - द्वार से उतर ज्योति चलती जन - धरणी पर पग धर,
जग - 'जीवन शोभा में मुकुलित होता खुल अन्तर्मुख ईश्वर!
झरते श्रृंगों से मुक्त वेग आनन्द प्रीति रस के निर्झर,—
दृग मूँद लिये उसने—उनमें भावी भू -जीवन - शोभा भर!

देखा सबने—नभ में अनभ्र सित इन्द्रधनुष पथ कर विरचित
रत्नच्छायाओं मे वितरित भू - स्वर्ग सेतु - सी वह शोभित!
जिस पर साभार विचर रस कवि बरसाता स्वप्नों के घट सित
लेटा भू पर शशि - लेटा - सा शव—शान्त श्वेत आभा मण्डित!

गूँजी सहसा प्रार्थना मौन जन - भू प्रांगण को कर पावन
प्राणों में बरसा शुभ्र शान्ति, नव श्रद्धा आस्था से भर मन!—

जो सांस - सांस मे ईश्वर का करती तन्मय - उर प्रीति स्मरण,
सित मन था प्रभु मन्दिर जिसका प्रति कर्म लोक अर्पित पूजन !

वह तन - मन से प्रभु मे लय हो छा गयी निखिल जग में गोपन,
रस पूत चेतना जीवन की बनकर जन - मन में पुण्य स्तवन !—
हे प्रेम, पूर्ण जीवन ईश्वर, जन - भू जिसका शोभा प्रागण,
तुम प्रकृति पुरुष, रस युगल मिलन, निष्काम, सहज जग के कारण !

तुम अनघ विद्ध—भव कर्दम में खिलते बन ज्योति - नयन पुष्कर,
तुम मर्त्य अमर से परे—अकथ तिरते नित जन्म - मरण - सागर !
चिर पाप - पुण्य, सदसत् पीड़ित होता जब तुमसे हृदय युक्त
वह मुक्त मुक्ति - बन्धन से हो, बन्धन में रहता नित्य मुक्त !

तुम सत्य - असत्यों से ऊपर सजित करते नित सत्य नवल,
इतिहास तमस के पार खोल सांस्कृतिक ज्योति - तोरण उज्ज्वल !
जन धर्म कर्म मत में खण्डित जड़ चेतन द्वन्द्वों से मन्थित—
भौतिक आध्यात्मिक सिद्धि व्यर्थ यदि प्रीति अमृत से वे विरहित !

पीढ़ी - पीढ़ी धर सृजन चरण तुम होते जीवन में मूर्तित,
जन - भू प्रागण श्री - शोभा के वैभव मंगल से कर मुकुलित !
भू - रज पलकों में रुके स्वप्न, यौवन उर में झंकृत शोणित,
नर नारी उर की आकाक्षा सित प्रीति मुक्ति रस से वंचित !

उत्सुक संयुक्त जनों का श्रम भू - स्वर्ग - सेतु करने निर्मित,—
आओ, मानव भावी का मुख प्रिय कर से करो अनवगुण्ठित !
मन के मूल्यो में खोया जग कर व्यक्ति व्यक्ति को मुण्ड भक्त,
गत संस्कारों के कृमियों से विष - तप्त मनुज चैतन्य - रक्त !

दारुण अतीत के प्रेतों का क्रीड़ा प्रांगण हत मनुज वक्ष,
आओ, मानवता के प्रकाश, युग तम से कढ़ जन के समक्ष !
नव धरा प्रीति बन उतरो अब, पावन हो इन्द्रिय जीवन पथ,
हे मनुज प्रेम के परमेश्वर, हांको युग - कर्दम मे भव रथ !

आओ, रस में कर उर परिणय, विचरो, भू पर नर - नारी गण,
खोलो मन से तन के बन्धन सम्भव न और जग में जीवन !
यह अग्नि - सेतु, असि - धारा पथ, संयम सित धरो प्रबुद्ध चरण,
कर पार उपायों के आँगन, खोलो भावी मंगल तोरण !

इस प्रकार सांस्कृतिक कल्प नव भू - जीवन में होता विकसित,
एक चेतना - रस - सागर में विविध रूप उठ होते अवसित !
प्रथम बार अब जगत् ब्रह्म में, ब्रह्म जगत् में हुआ प्रतिष्ठित,
मुक्त भेद - मन से भू - जीवन सित चित् पट में हुआ समन्वित !

जन्म ले चुका अब नव मानव जड़ चित् को कर रस संयोजित,
धरा स्वर्ग कल्पना न रह अब जन - जीवन में होता मूर्तित !
कवि मन के रस सित दर्पण में देख भविष्य मनुज का आनन,
आओ, भू - मन के विषाद को करें प्रेम के प्रभु को अर्पण !

०००

श्री सुमित्रानंदन पंत

कौसानी, जि० अल्मोड़ा में जन्म : २० मई, १९०० । जन्म के छः घण्टे बाद माँ की मृत्यु । गोसाईंदत्त नामकरण। १९०५ में विद्यारम्भ । १९०७ में स्कूल में काव्यपाठ के लिए पुरस्कार । १९१० में अपना नाम बदलकर सुमित्रानंदन रखा। १९११ में अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रवेश। १९१२ में नेपोलियन के चित्र से प्रभावित होकर केशवर्धन। १९१५ से स्थायी रूप से साहित्य-सृजन । पहले हस्तलिखित पत्रिका 'सुधाकर' में कविताओं का प्रकाशन, और फिर १९१७-२१ के बीच 'अल्मोड़ा अखबार' तथा 'मर्यादा' आदि पत्रों में । जुलाई १९१९ में म्योर सेन्ट्रल कालिज, प्रयाग, में दाखिल हुए, लेकिन १९२१ में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर कालिज छोड़ दिया । १९३० में द्विवेदी पदक । १९३१ से '३४ और '३६ से '४० तक की अवधि कालाकाँकर में । १९३८ में 'रूपाभ' का सम्पादन; रवीन्द्रनाथ, कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के विचारों का अवगाहन । १९४० में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र में ड्रामा-क्लासेज लिये । १९४३ में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र के वैतनिक सदस्य बने और 'कल्पना' फिल्म के सिनेरियो की रूपरेखा तैयार की, कुछ गीत भी लिखे । १९४४ में पाण्डिचेरी की यात्रा, अरविन्द की विचार-साधना से विशेष प्रभावित । १९४७ में सांस्कृतिक जागरण के लिए समर्पित संस्था 'लोकायन' की स्थापना । १९४८ में देव पुरस्कार, १९४९ में डालमिया पुरस्कार । १९५०-५७ में आकाशवाणी के परामर्शदाता । १९६० में कला और बूढ़ा चांद पर साहित्य अकादमी पुरस्कार । १९६१ में पद्मभूषण की उपाधि । १९६१ में रूस तथा यूरोप की यात्रा । १९६५ में उत्तर प्रदेश शासन की ओर से १०,०००रु० का विशेष पुरस्कार । १९६५ में ही सोवियतलैण्ड नेहरू पुरस्कार लोकायतन पर। १९६७ में विक्रम, १९७१ में गोरखपुर, और १९७६ में कानपुर तथा कलकत्ता वि. वि. द्वारा डी. लिट्. की मानद उपाधियाँ। दिसम्बर १९६७ में भाषा-विधेयक के विरोध में पद्मभूषण की उपाधि का परित्याग । १९६९ में साहित्य अकादमी की 'महत्तर सदस्यता' । १९६९ में ही चिदम्बरा पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला । २८ दिसम्बर, १९७७ को देहावसान ।